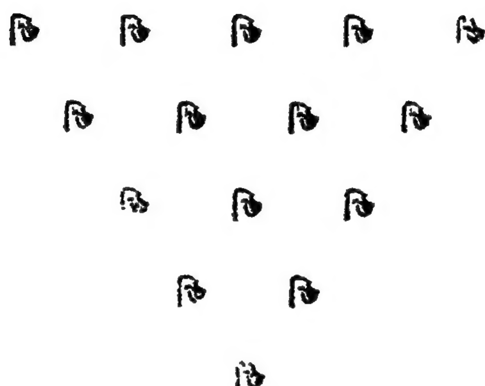
प्रकाशक—
नाथूराम प्रेमी, मंत्री,
माणिकचन्द्र दि०-जैन-ग्रन्थमाला,
हीराबाग, पो० गिरगांव—बम्बई।



मुद्रक—
मंगेश नारायण कुळकर्णी,
कर्नाटक प्रेस, ठाकुरद्वार, बम्बई।

निवेदन ।



सटीक रत्नकरण्डको छपकर तैयार हुए एक वर्षसे भी अधिक हो गया; परन्तु इसकी प्रस्तावना और स्वामी समन्तभद्रके इतिहासके लिखनेमें आशासे अधिक समय लग गया और इस कारण यह अब तक प्रकाशित होनेसे रुका रहा। मुझे आशा है कि ग्रन्थमालाके शुभचिन्तक और पाठक जब इसकी विस्तृत प्रस्तावना और स्वामी समन्तभद्रके इतिहासको पढ़ेंगे; तब इस विलम्बजनित दोषको भूल जावेंगे, साथ ही उन्हें इसे पढ़कर बहुत अधिक प्रसन्नता भी होगी।

सुहृद्वर बाबू जुगलकिशोरजीने प्रस्तावना और इतिहासके लिखनेमें जो परिश्रम किया है, उसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती। इतिहासज्ञ बहुश्रुत विद्वान् ही इनके मूल्यको समझेंगे। आधुनिक कालमें जैनसाहित्यके सम्बन्धमें जितने आलोचना और अन्वेषणात्मक लेख लिखे गये हैं, मेरी समझमें उन सबमें इन दोनों निबन्धोंको (प्रस्तावना और इतिहासको) अग्रस्थान मिलना चाहिए। ग्रन्थमालाके संचालक इन निबन्धोंके लिए बाबू साहबके बहुत ही अधिक कृतज्ञ हैं। साथ ही उन्हें इन बहुमूल्य निबन्धोंको इस ग्रन्थके साथ प्रकाशित कर सकनेका अभिमान है।

सटीक रत्नकरण्डका सम्पादन नीचे लिखी तीन हस्तलिखित प्रतियोंके आधारसे किया गया है:—

क—बम्बईके तेरापन्थी मन्दिरकी प्रति जो हाल ही को लिखी हुई है।

ख—बारामतीके पण्डित वासुदेव नेमिनाथ उपाध्यायकी खुदकी लिखी हुई प्रति।

ग—श्रीमान् सेठ हीराचन्द नेमिचन्दजी शोलापुरद्वारा प्राप्त प्रति।

हस्तलिखित प्रतियोंके स्वामियोंको अनेकानेक धन्यवाद।

एक विद्वान् शास्त्रीके द्वारा इस ग्रन्थकी प्रेसकापी तैयार कराई गई और एक न्यायतीर्थ पण्डितके द्वारा प्रूफसंशोधन कराया गया; फिर भी दुःखकी बात है कि ग्रन्थ बहुत ही अशुद्ध छपा—पण्डित महाशयोंने अपने उत्तरदायित्वका जरा भी खयाल नहीं रक्खा। मैं नहीं जानता था कि जिनवाणी-प्रकाशनके

इस पवित्र कार्यमें, यथेष्ट पारिश्रमिक पाते हुए भी, विद्वानोंद्वारा इतना प्रमाद किया जा सकता है।

मैं जैनेन्द्रप्रेस कोल्हापुरके मालिक सहृदय पण्डित कल्लाप्पा भरमाप्पा निटवेका बहुत ही कृतज्ञ हूँ जिन्होंने इन अशुद्धियोंकी ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया और साथ ही बहुत बड़े परिश्रमके साथ एक शुद्धिपत्र बनाकर भी भेज दिया जिसका आवश्यक अंश ग्रन्थके अन्तमें दे दिया गया है। साधारण अशुद्धियोंको विस्तारभयसे छोड़ देना पड़ा।

मैं दो ढाई महीनेसे बीमार हूँ। बीमारीकी अवस्थामें ही यह निवेदन लिखा गया है। प्रस्तावना आदिका प्रूफसंशोधन भी इसी अवस्थामें हुआ है। अतएव बहुतसी त्रुटियाँ रह गई होंगी। उनके लिए पाठकोंसे क्षमाप्रार्थी हूँ।

—मंत्री।

प्रस्तावना ।



ग्रन्थ-परिचय ।

जिस ग्रंथरत्नकी यह प्रस्तावना आज पाठकोंके सामने प्रस्तुत की जाती है वह जैनसमाजका सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'रत्नकरंडक' नामका उपासकाध्ययन है, जिसे साधारण बोलचालमें अथवा आम तौर पर 'रत्नकरंडश्रावकाचार' भी कहते हैं। जैनियोंका शायद ऐसा कोई भी शास्त्रभंडार न होगा जिसमें इस ग्रंथकी एक आध प्रति न पाई जाती हो; और इससे ग्रंथकी प्रसिद्धि, उपयोगिता तथा बहुमान्यतादि-विषयक कितनी ही बातोंका अच्छा अनुभव हो सकता है।

यद्यपि यह ग्रंथ कई वार मूल रूपसे तथा हिन्दी, मराठी और अंग्रेजी आदिके अनुवादों सहित प्रकाशित हो चुका है, परन्तु यह पहला ही अवसर है जब यह ग्रंथ अपनी एक संस्कृतटीका और ग्रंथ तथा ग्रंथकर्तादिके विशेष परिचयके साथ प्रकाशित हो रहा है। और इस दृष्टिसे ग्रंथका यह संस्करण अवश्य ही विशेष उपयोगी सिद्ध होगा, इसमें संदेह नहीं है।

मूल ग्रंथ स्वामीसमंतभद्राचार्यका बनाया हुआ है, जिनका विशेष परिचय अथवा इतिहास अलग लिखा गया है, और वह इस प्रस्तावनाके साथ ही प्रकाशित हो रहा है। इस ग्रंथमें श्रावकोंको लक्ष्य करके उस समीचीन धर्मका उपदेश दिया गया है जो कर्मोंका नाशक है और संसारी जीवोंको संसारके दुःखोंसे निकालकर उत्तम सुखोंमें धारण करनेवाला—अथवा स्थापित करनेवाला है। वह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रस्वरूप है और इसी क्रमसे आराधनीय है। दर्शनादिककी जो स्थिति इसके प्रतिकूल है—अर्थात्, सम्यक्-रूप न होकर मिथ्या रूपको लिये हुए है—वही अधर्म है और वही संसार-परिभ्रमणका कारण है, ऐसा आचार्य महोदयने प्रतिपादन किया है।

इस ग्रंथमें धर्मके उक्त (सम्यग्दर्शनादि) तीनों अंगोंका—रत्नत्रयका—ही यत्किंचित् विस्तारके साथ वर्णन है और उसे सात[1] परिच्छेदोंमें विभाजित किया है। प्रत्येक परिच्छेदमें जो कुछ वर्णन है उसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है—

प्रथम परिच्छेदमें सत्यार्थ, आप्त आगम और तपोभृत् (गुरु) के त्रिमूढता-रहित तथा अष्टमदहीन और अष्टअंगसहित श्रद्धानको 'सम्यग्दर्शन' बतलाया है; आप्त–आगम–तपस्वीके लक्षण, लोक–देव–पाखंडिमूढताओंका स्वरूप, ज्ञानादि अष्टमदोंके नाम और निःशंकितादि अष्ट अंगोंके महत्त्वपूर्ण लक्षण दिये हैं। साथ ही, यह दिखलाया है कि रागके विना आप्त भगवानके हितोपदेश कैसे बन सकता है, अंगहीन सम्यग्दर्शन जन्मसंततिको नाश करनेके लिये कैसे समर्थ नहीं होता और दूसरे धर्मात्माओंका अनादर करनेसे धर्मका ही अनादर क्योंकर होता है। इसके सिवाय सम्यग्दर्शनकी महिमाका विस्तारके साथ वर्णन दिया है और उसमें निम्नलिखित विशेपताओंका भी उल्लेख किया है—

(१) सम्यग्दर्शनयुक्त चांडालको भी 'देव' समझना चाहिये।

(२) शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव भय, आशा, स्नेह तथा लोभसे कुदेवों, कुशास्त्रों और कुलिंगियों (कुगुरुओं) को प्रणाम तथा विनय नहीं करते।

(३) ज्ञान और चारित्रकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन मुख्यतया उपासनीय है, वह मोक्षमार्गमें खेवटियाके सदृश है और उसके विना ज्ञान तथा चारित्रकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, और फलोदय उसी तरह नहीं हो पाते जिस तरह बीजके अभावमें वृक्षकी उत्पत्ति आदि।

(४) निर्मोही (सम्यग्दृष्टि) गृहस्थ मोक्षमार्गी है परंतु मोही (मिथ्यादृष्टि) मुनि मोक्षमार्गी नहीं; और इस लिये मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है।

---

१ इस मुद्रित टीकामें ग्रंथके पाँच परिच्छेद किये गये हैं जिसका कोई विशेप कारण समझमें नहीं आया। मालूम नहीं, टीकाकार श्रीप्रभाचंदने ही ऐसा किया है अथवा यह लेखकादिकोंकी ही कृति है। हमारी रायमें सात परिच्छेद विषय-विभागकी दृष्टिसे, अच्छे मालूम होते हैं और वे ही मूल प्रतियोंमें पाये भी जाते हैं। यदि सात परिच्छेद न हों तो फिर चार होने चाहिये। गुणव्रत परिच्छेदको पूर्व परिच्छेदमें शामिल कर देना और शिक्षाव्रत परिच्छेदको शामिल न करना क्या अर्थ रखता है यह कुछ समझमें नहीं आता।

(५) सम्यग्दर्शनसे शुद्ध हुए जीव, अव्रती होने पर भी, नारक, तिर्यंच, नपुंसक और स्त्रीपर्यायको धारण नहीं करते, न दुष्कुलोंमें जन्म लेते हैं, न विकृतांग तथा अल्पायु होते हैं और न दरिद्रीपनेको ही पाते हैं।

द्वितीय परिच्छेदमें सम्यग्ज्ञानका लक्षण देकर उसके विषयभूत प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगका सामान्य स्वरूप दिया है।

तीसरे परिच्छेदमें सम्यक्चारित्रके धारण करनेकी पात्रता और आवश्यकताका वर्णन करते हुए उसे हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुनसेवा और परिग्रहरूप पापप्रणालिकाओंसे विरतिरूप बतलाया है। साथ ही, चारित्रके 'सकल' और 'विकल' ऐसे दो भेद करके और यह जतलाकर कि सकल चारित्र सर्वसंगविरत मुनियोंके होता है और विकलचारित्र परिग्रहसहित गृहस्थोंके, गृहस्थोंके योग्य विकलचारित्रके बारह भेद किये हैं; जिनमें पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत शामिल हैं। इसके बाद हिंसा, असत्य, चोरी, कामसेवा और परिग्रहरूपी पाँच पापोंके स्थूलरूपसे त्यागको 'अणुव्रत' बतलाया है और अहिंसादि पाँचों अणुव्रतोंका स्वरूप उनके पाँच पाँच अतीचारों सहित दिया है। साथ ही, यह प्रतिपादन किया है कि मद्य, मांस और मधुके त्यागसहित ये पंचअणुव्रत गृहस्थोंके 'अष्ट मूलगुण' कहलाते हैं।

चौथे परिच्छेदमें दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण नामसे तीन गुणव्रतोंका उनके पाँच पाँच अतिचारोंसहित कथन है; पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या ऐसे अनर्थदंडके पाँच भेदोंका वर्णन है और भोगोपभोगकी व्याख्याके साथ उसमें कुछ विशेष त्यागका विधान, व्रतका लक्षण और यमनियमका स्वरूप भी दिया है।

पाँचवें परिच्छेदमें देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैय्यावृत्य नामके चार शिक्षाव्रतोंका, उनके पाँच पाँच अतीचारोंसहित, वर्णन है। सामायिक और प्रोषधोपवासके कथनमें कुछ विशेष कर्तव्योंका भी उल्लेख किया है और सामायिकके समय गृहस्थको 'चेलोपसृष्ट मुनि' की उपमा दी है। वैय्यावृत्यमें संयमियोंको दान देने और देवाधिदेवकी पूजा करनेका भी विधान किया है और उस दानके आहार, औषध, उपकरण, आवास ऐसे चार भेद किये हैं।

छठे परिच्छेदमें, अनुष्ठानावस्थाके निर्देशसहित, सल्लेखना (समाधिमरण)-का स्वरूप और उसकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हुए, संक्षेपमें समाधि-

मरणकी विधिका उल्लेख किया है और सल्लेखनाके पाँच अतीचार भी दिये हैं। अन्तमें सद्धर्मके फलका कीर्तन करते हुए, निःश्रेयस सुखके स्वरूपका कुछ दिग्दर्शन भी कराया गया है।

सातवें परिच्छेद्‌में श्रावकके उन ग्यारह पदोंका स्वरूप दिया गया है जिन्हें 'प्रतिमा' भी कहते हैं और जिनमें उत्तरोत्तर प्रतिमाओंके गुण पूर्वपूर्वकी प्रतिमाओंके संपूर्ण गुणोंको लिये हुए होते हैं और इस तरह पर क्रमशः विवृद्ध होकर तिष्ठते हैं। इन प्रतिमाओंमें छठी प्रतिमा 'रात्रिभोजनत्याग' बतलाई गई है।

इस तरह पर, इस ग्रंथमें, श्रावकोंके अनुष्ठानयोग्य धर्मका जो वर्णन दिया है वह बड़ा ही हृदयग्राही, समीचीन, सुखमूलक और प्रामाणिक है। और इस-लिये प्रत्येक गृहस्थको, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, अवश्य ही इस ग्रंथका भले प्रकार अध्ययन और मनन करना चाहिये। इसके अनुकूल आचरण निःसन्देह कल्याणका कर्ता है और आत्माको बहुत कुछ उन्नत तथा स्वाधीन बनानेमें समर्थ है। ग्रंथकी भाषा भी बड़ी ही मधुर, प्रौढ और अर्थगौरवको लिये हुए है। सचमुच ही यह ग्रंथ धर्मरत्नोंका एक छोटासा पिटारा है और इस लिये इसका 'रत्नकरंडक' नाम बहुत ही सार्थक जान पड़ता है।

यद्यपि, ग्रंथकार महोदयने स्वयं ही इस ग्रंथको एक छोटासा पिटारा (करंडक) बतलाया है तो भी श्रावकाचार विषयका दूसरा कोई भी ग्रंथ अभी तक ऐसा नहीं मिला जो इससे अधिक बड़ा और साथ ही अधिक प्राचीन हो *। प्रकृत विषयका अलग और स्वतंत्र ग्रंथ तो शायद इससे पहलेका

---

* श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके 'चारित्रपाहुड' में श्रावकोंके संयमाचरणको प्रतिपादन करनेवाली कुल पाँच गाथाएँ हैं जिनमें ११ प्रतिमाओं तथा १२ व्रतोंके नाम मात्र दिये हैं—उनका स्वरूपादिक कुछ नहीं दिया और न व्रतोंके अतीचारोंका ही उल्लेख किया है। उमास्वाति महाराजके तत्त्वार्थसूत्रमें व्रतोंके अतीचार जरूर दिये हैं परंतु दिग्व्रतादिकके लक्षणोंका तथा अनर्थदंडके भेदादिकका उसमें अभाव है और अहिंसाव्रतादिकके जो लक्षण दिये हैं वे खास श्रावकोंको लक्ष्य करके नहीं लिखे गये। सल्लेखनाका स्वरूप और विधि विधानादिक भी उसमें नहीं हैं। ११ प्रतिमाओंके कथन तथा और भी कितनी ही बातोंके उल्लेखसे वह रहित है, और इस तरह पर उसमें भी श्रावकाचारका बहुत ही संक्षिप्त वर्णन है।

कोई भी उपलब्ध नहीं है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, चारित्रसार, सोमदेव उपासकाध्ययन, अमितगति उपासकाचार, वसुनन्दिश्रावकाचार, सागारधर्मामृत, और लाटीसंहिता आदिक जो प्रसिद्ध ग्रंथ हैं वे सब इसके बादके ही बने हुए हैं। और इस लिये, उपलब्ध जैनसाहित्यमें, यदि इस ग्रंथको 'प्रथम श्रावकाचार'का नाम दिया जाय तो शायद कुछ भी अनुचित न होगा। छोटा होनेपर भी इसमें श्रावकोंके लिये जिन सल्लक्षणान्वित धर्मरत्नोंका संग्रह किया गया है वे अवश्य ही बहुमूल्य हैं। और इस लिये यह ग्रंथ आकारमें छोटा होनेपर भी मूल्यमें बड़ा है, ऐसा कहनेमें हमें जरा भी संकोच नहीं होता। प्रभाचंद्रजीने इसे अखिल सागारमार्ग (गृहस्थधर्म) को प्रकाशित करनेवाला निर्मल सूर्य लिखा है और श्रीवादिराजसूरिने 'अक्षय्यसुखावह' विशेषणके साथ इसका स्मरण किया है।

ग्रन्थपर सन्देह।

कुछ लोगोंका खयाल है कि यह ग्रंथ उन स्वामी समन्तभद्राचार्यका बनाया हुआ नहीं है जो कि जैन समाजमें एक बहुत बड़े प्रसिद्ध विद्वान हो गये हैं और जिन्होंने ' देवागम ' (आप्तमीमांसा) जैसे अद्वितीय और अपूर्व तर्कपूर्ण तात्त्विक ग्रंथोंकी रचना की है; बल्कि ' समंतभद्र ' नामके अथवा समन्तभद्रके नामसे किसी दूसरे ही विद्वानका बनाया हुआ है, और इस लिये अधिक प्राचीन भी नहीं है। परंतु उनके इस खयाल अथवा संदेहका क्या कारण है और किस आधार पर वह स्थित है, इसका कोई स्पष्टोल्लेख अभीतक उनकी ओरसे किसी पत्रादिकमें प्रकट नहीं हुआ, जिससे उसका यथोचित उत्तर दिया जा सकता। फिर भी इस व्यर्थके संदेहको दूर करने, उसकी संभावनाको मिटा देने और भविष्यमें उसकी संततिको आगे न चलने देनेके लिये यहाँ पर कुछ प्रमाणोंका उल्लेख कर देना उचित जान पड़ता है और नीचे उसीका यत्किंचित् प्रयत्न किया जाता है—

(१) ऐतिहासिक पर्यालोचन करनेसे इतना जरूर मालूम होता है कि ' समन्तभद्र ' नामके दो चार विद्वान् और भी हुए हैं; परंतु उनमें ऐसा एक भी नहीं था जो 'स्वामी' पदसे विभूषित अथवा इस विशेषणसे विशेषित हो; बल्कि एक तो लघुसमंतभद्रके नामसे अभिहित हैं, जिन्होंने अष्टसहस्री पर 'विषमपदतात्पर्यटीका' नामकी एक वृत्ति (टिप्पणी) लिखी है। ये विद्वान् स्वयं भी अपनेको 'लघुसमंतभद्र' प्रकट करते हैं।

यथा—

देवं स्वामिनममलं विद्यानंदं प्रणम्य निजभक्त्या।
विवृणोम्यष्टसहस्रीविषमपदं लघुसमंतभद्रोऽहम्॥

दूसरे 'चिक्क समन्तभद्र' कहलाते हैं। आराके जैनसिद्धान्तभवनकी सूचीमें 'चिक्कसमंतभद्रस्तोत्र' नामसे जिस पुस्तकका उल्लेख है वह इन्हींकी बनाई हुई कही जाती है और उसको निकलवाकर देखनेसे मालूम हुआ कि वह वही स्तुति है जो 'जैनसिद्धान्तभास्कर' की ४ थी किरणमें 'एक ऐतिहासिक स्तुति' के नामसे प्रकाशित हुई है और जिसके अन्तिम पद्यमें उसके रचयिताका नाम 'माघनंदिव्रती' दिया है। इससे चिक्कसमंतभद्र उक्त माघनंदीका ही नामान्तर जान पड़ता है। कर्णाटक देशके एक कनड़ी विद्वानसे भी हमें ऐसा ही मालूम हुआ है। वर्णी नेमिसागरजी भी अपने एक पत्रमें सूचित करते हैं कि "इन माघनंदीके लिये 'चिक्क समन्तभद्र' या 'लघु समन्तभद्र' यह नाम इधर (दक्षिणमें) रूढ है। 'चिक्क' शब्द का अर्थ भी लघु या छोटेका है।" आश्चर्य नहीं, जो उक्त लघु समंतभद्र और यह चिक्कसमंतभद्र दोनों एक ही व्यक्ति हों, और माघनंदि-व्रती भी कहलाते हों। माघनंदि-व्रती नामके एक विद्वान 'अमरकीर्ति' आचार्यके शिष्य हुए हैं, और उक्त ऐतिहासिक स्तुतिके आदि-अन्तके दोनों पद्योंमें 'अमर' शब्द का खास तौरसे प्रयोग पाया जाता है। इससे ऐसा मालूम होता है कि संभवतः ये ही माघनंदि-व्रती अमरकीर्तिआचार्यके शिष्य थे और उन्होंने 'अमर' शब्दके प्रयोग द्वारा, उक्त स्तुतिमें, अपने गुरुका नाम स्मरण भी किया है। यदि यह ठीक हो तो इन माघनंदि-व्रती अथवा चिक्क समन्तभद्रको विक्रमकी चौदहवीं शताब्दीका विद्वान समझना चाहिये; क्योंकि माघनंदि-व्रतीके शिष्य और अमरकीर्तिके प्रशिष्य भोगराजने शक संवत १२७७ (वि० सं० १४०२) में शांतिनाथ जिनेश्वरकी एक मूर्तिको—जो आजकल रायदुर्ग ताल्लुके के दफ्तरमें मौजूद है—प्रतिष्ठित कराया था, जैसा कि उक्त मूर्तिके लेख परसे प्रकट है। *

तीसरे× गेरुसोप्पेके समन्तभद्र थे, जिनका उल्लेख ताल्लुका कोप्प जि० कडूर—

---

* देखो 'साउथ इंडियन जैनिज्म' भाग दूसरा, पृष्ठ ५७।

× दक्षिण भारतका यह एक खास स्थान है जिसे क्षेमपुर भी कहते हैं और जिसका विशेष वर्णन सागर ताल्लुके ५५ वें शिला लेखमें पाया जाता है। प्रसिद्ध

के एडेहल्लि जैनवसतिसे मिले हुए चार ताम्रशासनोंमें पाया जाता है *। इन ताम्रशासनोंमें आपको "गेरुसोप्पे-समन्तभद्र-देव" लिखा है। पहला ताम्रशासन आपके ही समयका—शक सं० १३५५ का—लिखा हुआ है और शेष आपके प्रशिष्य, अथवा आपके शिष्य गुणभद्रके शिष्य, वीरसेनके समयादिकसे सम्बन्ध रखते हैं।

चौथे 'अभिनव समन्तभद्र' के नामसे नामांकित थे। इन अभिनव समन्तभद्र मुनिके उपदेशसे योजन-श्रेष्ठिके वनवाये हुए नेमीश्वर चैत्यालयके सामने कांसीका एक मानस्तंभ स्थापित हुआ था, जिसका उल्लेख शिमोगा जिलान्तर्गत सागर ताल्लुकेके शिलालेख नं० ५५ में मिलता है ×। यह शिलालेख तुलु, कोंकण आदि देशोंके राजा देवरायके समयका है और इस लिये मि० लेविस राइस साहबने इसे ई० सन् १५६० के करीबका वतलाया है। इससे अभिनव समंतभद्र किस समयके विद्वान थे यह सहजहीमें मालूम हो जाता है।

पाँचवें एक समन्तभद्र भट्टारक थे, जिन्हें, जैनसिद्धान्तभास्करद्वारा प्रकाशित सेनगणकी पट्टावलीमें, अभिनव सोमसेन भट्टारकके पट्टशिष्य जिनसेन भट्टारकके पट्ट पर प्रतिष्ठित होनेवाले लिखा है। साथ ही यह भी सूचित किया है कि ये अभिनव सोमसेन गुणभद्र भट्टारकके पट्टशिष्य थे। गुणभद्र भट्टारकके पट्टशिष्य सोमसेन भट्टारकका वनाया हुआ धर्मरसिक नामका एक त्रैवर्णिकाचार (त्रिवर्णाचार) ग्रंथ सर्वत्र प्रसिद्ध है—वह मुद्रित भी हो चुका है—और इस लिये ये समन्तभद्र भट्टारक उन्हीं सोमसेन भट्टारकके प्रपट्टशिष्य थे जिन्होंने उक्त त्रिवर्णाचारकी रचना की है, ऐसा कहनेमें कुछ भी संकोच नहीं होता। सोमसेनका यह त्रिवर्णाचार विक्रम संवत् १६६७ में वनकर समाप्त हुआ है। अतः इन समंतभद्र भट्टारकको विक्रमकी सतरहवीं शताब्दीके अन्तिम भागका विद्वान् समझना चाहिये।

'गेरुसोप्पे-प्रपात' (Water fall) भी इसी स्थानके नामसे नामांकित है देखो E. C., VIII. की भूमिका। पहले २१ नंवरके ताम्रशासनमें 'गेरुसोप्पेय' ऐसा पाठ दिया है।

* देखो, सन १९०१ में मुद्रित हुई, 'एपिग्रेफिया कर्णाटिका (Epigraphia Carnatica) की जिल्द छठीमें, कोप्प ताल्लुकेके लेख नं० २१, २२, २३, २४।

× देखो, 'एपिग्रेफिया कर्णाटिका,' जिल्द आठवीं।

छठे 'गृहस्थ समंतभद्र' थे जिनका समय विक्रमकी प्रायः १७ वीं शताब्दी पाया जाता है। वे उन गृहस्थाचार्य नेमिचंद्रके भतीजे थे जिन्होंने 'प्रतिष्ठा-तिलक' नामके एक ग्रंथकी रचना की है और जिसे 'नेमिचंद्रसंहिता' अथवा 'नेमिचंद्र-प्रतिष्ठापाठ' भी कहते हैं और जिसका परिचय अप्रेल सन् १९१६ के जैनहितैषीमें दिया जा चुका है। इस ग्रंथमें समंतभद्रको साहित्यरसका प्रेमी सूचित किया है और यह बतलाया है कि वे भी उन लोगोंमें शामिल थे जिन्होंने उक्त ग्रंथके रचनेकी नेमिचंद्रसे प्रार्थना की थी। संभव है कि 'पूजाविधि' नामका ग्रंथ जो 'दिगम्बरजैनग्रंथकर्ता और उनके ग्रंथ' नामकी सूचीमें दर्ज है वह इन्हींका बनाया हुआ हो।

(२) रत्नकरंडकके प्रणेता आचार्य समंतभद्रके नामके साथ 'लघु,' 'चिक,' 'गेरुसोप्पे,' 'अभिनव' या 'भट्टारक' शब्द लगा हुआ नहीं है और न ग्रंथमें उनका दूसरा नाम कहीं 'माघनंदी' ही सूचित किया गया है; बल्कि ग्रंथकी संपूर्ण संधियोंमें—टीकामें भी—उनके नामके साथ 'स्वामी' शब्द लगा हुआ है और यह वह पद है जिससे 'देवागम'के कर्ता महोदय खास तौरसे विभूषित थे और जो उनकी महती प्रतिष्ठा तथा असाधारण महत्ताका द्योतक है। बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने उन्हें प्रायः इसी (स्वामी) विशेषणके साथ स्मरण किया है और यह विशेषण भगवान् समंतभद्रके साथ इतना रूढ जान पड़ता है कि उनके नामका प्रायः एक अंग हो गया है। इसीसे कितने ही बड़े बड़े विद्वानों तथा आचार्योंने, अनेक स्थानोंपर, नाम न देकर, केवल 'स्वामी' पदके प्रयोग-द्वारा ही उनका नामोल्लेख किया है * और इससे यह बात सहजहीमें समझमें आ सकती है कि 'स्वामी' रूपसे आचार्य महोदयकी कितनी अधिक प्रसिद्धि थी।

---

* देखो—वादिराजकृत पार्श्वनाथचरितका 'स्वामिनश्चरितं तस्य' इत्यादि पद्य नं० १७; पं० आशाधरकृत सागारधर्मामृत और अनगारधर्मामृतकी टीका-ओंके 'स्वाम्युक्ताष्टमूलगुणपक्षे, इतिस्वामिमतेन दर्शनिको भवेत्, स्वामि-मतेनत्विमे (अतिचाराः), अत्राह स्वामी यथा, तथा च स्वामिसूक्तानि' इत्यादि पद; न्यायदीपिकाका 'तदुक्तं स्वामिभिरेव' इस वाक्यके साथ देवागमकी दो कारिकाओंका अवतरण और श्रीविद्यानंदाचार्यकृत अष्टसहस्री आदि ग्रंथोंके कितने ही पद्य तथा वाक्य।

ऐसी हालतमें यह ग्रंथ लघुसमंतभद्रादिका बनाया हुआ न होकर उन्हीं समन्तभद्र स्वामीका बनाया हुआ प्रतीत होता है जो 'देवागम' नामक आप्तमीमांसाग्रंथके कर्ता थे।

(३) 'राजावलिकथे' नामक कनड़ी ग्रंथमें भी, स्वामी समंतभद्रकी कथा देते हुए, उन्हें 'रत्नकरंडक' आदि ग्रन्थोंका कर्ता लिखा है। यथा—

"आ भावितीर्थंकरन् अप्प समन्तभद्रस्वामिगलु पुनर्दीक्षेगोण्डु तपस्सामर्थ्यदिं चतुरङ्गुलचारणात्वमं पडेदु रत्नकरण्डकादिजिनागमपुराणमं पेळ्ळि स्याद्वादवादिगल् आगि समाधिय् ओडेदरु।"

(४) विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान पं० आशाधरजीने अनगार धर्मामृत और सागारधर्मामृतकी स्वोपज्ञटीका (भव्यकुमुदचंद्रिका) में, स्वामिसमंतभद्रके पूरे अथवा संक्षिप्त (स्वामी) नामके साथ, रत्नकरंडकके कितने ही पद्योंका—अर्थात्, उन पद्योंका जो इस ग्रंथके प्रथम परिच्छेदमें नं० ५, २२, २३, २४, ३० पर, तृतीय परिच्छेदमें नं० १६, २०, ४४ पर और पाँचवें परिच्छेदमें* नं० ७, १६, २० पर दर्ज हैं—उल्लेख किया है। और कुछ पद्योंको—जो प्रथम परिच्छेदमें नं० १४, २१,३२,४१ पर पाये जाते हैं—बिना नामके भी उद्धृत किया है। इन सब पद्योंका उल्लेख उन्होंने प्रमाणरूपसे—अपने विषयके पुष्ट करनेके अर्थ—अथवा स्वामिसमंतभद्रका मतविशेष प्रदर्शित करनेके लिये ही किया है। अनगारधर्मामृतके १६ वें पद्यकी टीकामें आप्तका निर्णय करते हुए, आपने 'आप्तो नोत्सन्नदोषेण' इत्यादि पद्य नं० ५ को आगमका वचन लिखा है और उस आगमका कर्ता स्वामिसमंतभद्रको बतलाया है।

यथा—

वेद्यते निश्चीयते। कोसौ? स आप्तोत्तमः।...कस्मात्? आगमात्—"आप्तेनोत्सन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना। भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता

---

* प्रभाचंद्राचार्यने, अपनी टीकामें इस ग्रंथको पाँच परिच्छेदोंमें ही विभाजित किया है; परंतु सनातनग्रंथमालादिकमें प्रकाशित मूल ग्रंथमें सात परिच्छेद पाये जाते हैं, और उसकी दृष्टिसे ७ वें नंबरका पद्य छठे परिच्छेदका, और शेष दोनों पद्य सातवें परिच्छेदके (नं० २, ६ वाले) हैं।

भवेत् ॥" इत्यादिकात्। किंविशिष्टात्? शिष्टानुशिष्टात्। शिष्टा आप्तोपदेशसंपादितशिक्षाविशेषाः स्वामिसमन्तभद्रादयः तैरनुशिष्टाद्गुरुपर्वक्रमेणोपदिष्टात्।

इस उल्लेखसे यह बात भी स्पष्ट है कि विद्वद्वर आशाधरजीने रत्नकरंडक नामके उपासकाध्ययनको 'आगमग्रंथ' प्रतिपादन किया है।

एक स्थान पर आपने मूढताओंका निर्णय करते हुए, 'कथमन्यथेदं स्वामिसूक्तमुपपद्येत' इस वाक्यके साथ रत्नकरंडकका 'भयाशास्नेहलोभाच्च' इत्यादि पद्य नं० ३० उद्धृत किया है और उसके बाद यह नतीजा निकाला है कि इस स्वामिसूक्तके अनुसार ही ठक्कुर (अमृतचंद्राचार्य) ने भी 'लोके शास्त्राभासे' इत्यादि पद्यकी (जो कि पुरुषार्थसिद्ध्युपायका २६ वें नंबरका पद्य है) घोषणा की है।

यथा—" एतदनुसारेणैव ठक्कुरोऽपीदमपाठीत्—

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥"

इस उल्लेखसे यह पाया जाता है कि पुरुषार्थसिद्ध्युपाय जैसे माननीय ग्रंथमें भी रत्नकरंडकका आधार लिया गया है और इस लिये यह ग्रंथ उससे भी अधिक प्राचीन तथा माननीय है।

(५) श्रीपद्मप्रभमलधारिदेवने, नियमसारकी टीकामें, 'तथा चोक्तं श्रीसमंतभद्रस्वामिभिः' 'उक्तं चोपासकाध्ययने' इन वाक्योंके साथ, रत्नकरंडकके 'अन्यूनमनतिरिक्तं' और 'आलोच्यसर्वमेनः' नामके दो पद्य उद्धृत किये हैं, जो क्रमशः यहाँ द्वितीय परिच्छेदमें नं० १ और पाँचवें परिच्छेदमें नं० ४ पर दर्ज हैं। पद्मप्रभमलधारिदेवका अस्तित्व समय विक्रमकी १२ वीं शताब्दीके लगभग पाया जाता है। इससे यह ग्रंथ आजसे आठसौ वर्ष पहले भी स्वामिसमंतभद्रका बनाया हुआ माना जाता था, यह बात स्पष्ट है।

(६) विक्रमकी ११ वीं शताब्दी (पूर्वार्ध) के विद्वान् श्रीचामुंडरायने 'चरित्रसार'में रत्नकरंडकका 'सम्यग्दर्शनशुद्धाः' इत्यादि पद्य नं० ३५ उद्धृत किया है। इतना ही नहीं बल्कि कितने ही स्थानोंपर इस ग्रंथके लक्षणादिकोंको उत्तम समझकर उन्हें शब्दानुसरणसहित अपने ग्रन्थका एक अंग भी बनाया है, जिसके दो नमूने इस प्रकार हैं—

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः ।
पंचगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ॥

—रत्नकरंडक ।

दर्शनिकः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः पंचगुरुचरणभक्तः सम्यग्दर्शन-शुद्धश्च भवति ।

—चारित्रसार ।

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे ।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥

—रत्नकरंडक ।

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि निःप्रतीकाररुजायां । धर्मार्थं तनुत्यजनं सल्लेखना ।

—चारित्रसार ।

यह 'चारित्रसार' ग्रन्थ उन पाँच सात खास माननीय* ग्रन्थोंमेंसे है जिनके आधारपर पं० आशाधरजीने सागरधर्मामृतकी रचना की है, और इसलिये उसमें रत्नकरंडकके इस प्रकारके शब्दानुसरणसे रत्नकरंडककी महत्ता, प्राचीनता और मान्यता और भी अधिकताके साथ ख्यापित होती है। और भी कितने ही प्राचीन ग्रंथोंमें अनेक प्रकारसे इस ग्रंथका अनुसरण पाया जाता है, जिनके उल्लेखको विस्तारभयसे हम यहाँ छोड़नेके लिये मजबूर हैं।

(७) श्रीवादिराजसूरि नामके सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्यने अपना 'पार्श्वनाथ-चरित' शक संवत् ९४७ में बनाकर समाप्त किया है। इस ग्रंथमें साफ तौरसे 'देवागम' और 'रत्नकरंडक' दोनोंके कर्ता स्वामी समंतभद्रको ही सूचित किया है। यथा—

' स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहं ।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥
त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाक्षय्यसुखावहः ।
अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरण्डकः ॥

अर्थात्—उन स्वामी (समंतभद्र) का चरित्र किसके लिये विस्मयकारक नहीं है जिन्होंने 'देवागम' के द्वारा आज तक सर्वज्ञको प्रदर्शित कर रक्खा है।

---

* वे ग्रन्थ इस प्रकार हैं—१ रत्नकरंडक, २ सोमदेवकृत यशस्तिलकान्तर्गत उपासकाध्ययन, ३ चारित्रसार, ४ वसुनंदिश्रावकाचार, ५ श्रीजिनसेनकृत आदि-पुराण, ६ तत्त्वार्थसूत्र आदि।

वे ही योगीन्द्र (समंतभद्र) त्यागी (दानी) हुए हैं जिन्होंने अर्थी भव्यसमूहको अक्षयसुखकारक ' रत्नकरंडक ' (धर्मरत्नोंका पिटारा) दान किया है।

इन सब प्रमाणोंकी मौजूदगीमें इस प्रकारके संदेहको कोई अवसर नहीं रहता कि, यह ग्रंथ 'देवागम'के कर्ता स्वामी समंतभद्रको छोड़कर दूसरे किसी समंतभद्रका बनाया हुआ है, अथवा आधुनिक है। खुद ग्रंथका साहित्य भी इस संदेहमें कोई सहायता नहीं देता। वह, विषयकी सरलताआदिकी दृष्टिसे, प्रायः इतना प्रौढ, गंभीर, उच्च और क्रमबद्ध है कि उसे स्वामी समंतभद्रका साहित्य स्वीकार करनेमें जरा भी हिचकिचाट नहीं होती। ग्रंथभरमें ऐसा कोई कथन भी नहीं है जो आचार्य महोदयके दूसरे किसी ग्रंथके विरुद्ध पड़ता हो, अथवा जो जैनसिद्धान्तोंके ही प्रतिकूल हो और जिसको प्रचलित करनेके लिये किसीको भगवान् समंतभद्रका सहारा लेना पड़ा हो। ऐसी हालतमें और उपर्युक्त प्रमाणोंकी रोशनीमें इस बातकी तो कल्पना भी नहीं हो सकती कि इतने सुदूरभूत कालमें—हजार वर्षसे भी पहले—किसीने विनावजह ही स्वामी समंतभद्रके नामसे इस ग्रंथकी रचना की हो, और तबसे अबतक, ग्रंथके इतना अधिक नित्यके परिचयमें आते-और अच्छे अच्छे अनुभवी विद्वानों तथा आचार्योंके हाथोंमेंसे गुजरनेपर भी, किसीने उसको लक्षित न किया हो। इस लिये ग्रंथके कर्ताविषयका यह संपूर्ण संदेह निर्मूल जान पड़ता है।

जहाँतक हम समझते हैं और हमें मालूम भी हुआ है, लोगोंके इस संदेहका सिर्फ एक ही कारण है और वह यह है कि, ग्रंथमें उस ' तर्कपद्धति' का दर्शन नहीं होता जो समंतभद्रके दूसरे तर्कप्रधान ग्रंथोंमें पाई जाती है और जिनमें अनेक विवादग्रस्त विषयोंका विवेचन किया गया है—संशयालु लोग समन्तभद्रद्वारा निर्मित होनेके कारण इस ग्रंथको भी उसी रँगमें रंगा हुआ देखना चाहते थे जिसमें वे देवागमादिकको देख रहे हैं। परंतु यह उनकी भारी भूल तथा गहरा भ्रम है। मालूम होता है उन्होंने श्रावकाचारविषयक जैनसाहित्यका कालक्रमसे अथवा ऐतिहासिक दृष्टिसे अवलोकन नहीं किया और न देश तथा समाजकी तात्कालिक स्थिति पर ही कुछ विचार किया है। यदि ऐसा होता तो उन्हें मालूम हो जाता कि उस वक्त—स्वामी समन्तभद्रके समयमें—और उससे भी पहले श्रावक लोग प्रायः साधुमुखापेक्षी हुआ करते थे—उन्हें स्वतंत्र रूपसे ग्रंथोंको अध्ययन करके अपने मार्गका निश्चय करनेकी जरूरत नहीं होती थी; बल्कि साधु तथा मुनिजन ही उस वक्त, धर्म विषयमें, उनके

एक मात्र पथप्रदर्शक होते थे। देशमें उस समय मुनिजनोंकी खासी बहुलता थी और उनका प्रायः हरवक्तका सत्समागम बना रहता था। इससे गृहस्थ लोग धर्मश्रवणके लिये उन्हींके पास जाया करते थे और धर्मकी व्याख्याको सुनकर उन्हींसे अपने लिये कभी कोई व्रत, किसी खास व्रत अथवा व्रतसमूहकी याचना किया करते थे। साधुजन भी श्रावकोंको उनके यथेष्ट कर्तव्य कर्मका उपदेश देते थे, उनके याचित व्रतको यदि उचित समझते थे तो उसकी गुरुमंत्रपूर्वक उन्हें दीक्षा देते थे और यदि उनकी शक्ति तथा स्थिति-योग्य उसे नहीं पाते थे तो उसका निषेध कर देते थे; साथ ही जिस व्रतादिकका उनके लिये निर्देश करते थे उसके विधिविधानको भी उनकी योग्यताके अनुकूल ही नियंत्रित कर देते थे। इस तरहपर गुरुजनोंके द्वारा धर्मोपदेशको सुनकर धर्मानुष्ठानकी जो कुछ शिक्षा श्रावकोंको मिलती थी उसीके अनुसार चलना वे अपना धर्म—अपना कर्तव्यकर्म—समझते थे, उसमें 'चूँचरा' (किं, कथमित्यादि) करना उन्हें नहीं आता था, अथवा यों कहिये कि उनकी श्रद्धा और भक्ति उन्हें उस ओर (संशयमार्गकी तरफ) जाने ही न देती थी। श्रावकोंमें सर्वत्र आज्ञाप्रधानताका साम्राज्य स्थापित था और अपनी इस प्रवृत्ति तथा परिणतिके कारण ही वे लोग श्रावक* तथा श्राद्ध× कहलाते थे। उस वक्त तक श्रावकधर्ममें, अथवा स्वाचार-विषयपर श्रावकोंमें तर्कका प्रायः प्रवेश ही नहीं हुआ था और न नाना आचार्योंका परस्पर इतना मतभेद ही हो पाया था जिसकी व्याख्या करने अथवा जिसका सामंजस्य स्थापित

---

* 'शृणोति गुर्वादिभ्यो धर्ममिति श्रावकः' (सा० ध० टी०) जो गुरु आदिकके मुखसे धर्म श्रवण करता है उसे श्रावक (सुननेवाला) कहते हैं।

संपत्तदंसणाई पइदियहं जइजणा सुणेई य।
सामायारिं परमं जो खलु तं सावगं विन्ति ॥ —श्रावकप्रज्ञप्ति।

जो सम्यग्दर्शनादियुक्त गृहस्थ प्रतिदिन मुनिजनोंके पास जाकर परम सामाचारीको (साधु तथा गृहस्थोंके आचारविशेषको) श्रवण करता है उसे 'श्रावक' कहते हैं।

× श्रद्धासमन्वित अथवा श्रद्धा-गुण-युक्तको 'श्राद्ध' कहते हैं, ऐसा हेमचंद्र तथा श्रीधरसेनादि आचार्योंने प्रतिपादन किया है। मुनिजनोंके आचार-विचारमें श्रद्धा रखनेके कारण ही उनके उपासक 'श्राद्ध' कहलाते थे।

-करने आदिके लिये किसीको तर्क-पद्धतिका आश्रय लेनेकी जरूरत पड़ती। उस वक्त तर्कका प्रयोग प्रायः स्वपरमतके सिद्धान्तों तथा आप्तादि विवादग्रस्तविषयोंपर ही होता था। वे ही तर्ककी कसौटीपर चढ़े हुए थे, उन्हींकी परीक्षा तथा निर्णयादिके लिये उसका सारा प्रयास था। और इसलिये उस वक्तके जो तर्क-प्रधान ग्रंथ पाये जाते हैं वे प्रायः उन्हीं विषयोंको लिये हुए हैं। जहाँ विवाद नहीं होता वहाँ तर्कका काम भी नहीं होता। इसीसे छंद, अलंकार, काव्य, कोश, व्याकरण, वैद्यक, ज्योतिषादि दूसरे कितने ही विषयोंके ग्रंथ तर्कपद्धतिसे प्रायः शून्य पाये जाते हैं। खुद स्वामी समंतभद्रका 'जिनशतक' नामक ग्रंथ भी इसी कोटिमें स्थित है—स्वामीद्वारा निर्मित होनेपर भी उसमें 'देवागम' जैसी तर्क-प्रधानता नहीं पाई जाती—वह एक कठिन, शब्दालंकारप्रधान ग्रंथ है और आचार्य महोदयके अपूर्व काव्यकौशल, अद्भुत व्याकरणपांडित्य और अद्वि-तीय शब्दाधिपत्यको सूचित करता है। 'रत्नकरंडक'भी उन्हीं तर्कप्रधानता-रहित ग्रंथोंमेंसे एक ग्रंथ है और इसलिये उसकी यह तर्कहीनता संदेहका कोई कारण नहीं हो सकती। ऐसा कोई नियम भी नहीं है जिससे एक ग्रंथकार अपने संपूर्ण ग्रंथोंमें एक ही पद्धतिको जारी रखनेके लिये बाध्य हो सके। नाना विषयोंके ग्रंथ नाना प्रकारके शिष्योंको लक्ष्य करके लिखे जाते हैं और उनमें विषय तथा शिष्यरुचिकी विभिन्नताके कारण लेखनपद्धतिमें भी अक्सर विभि-न्नता हुआ करती है। यह दूसरी बात है कि उनके साहित्यमें प्रौढता, प्रतिपा-दनकुशलता और शब्दविन्यासादि कितनी ही बातोंकी परस्पर समानता पाई जाती हो और इस समानतासे 'रत्नकरंडक' भी खाली नहीं है।

यहाँ पर ग्रन्थकर्तृत्व सम्बधमें इतना और भी प्रकट कर देना उचित मालूम होता है कि मिस्टर बी॰ लेविस राइस साहबने, अपनी 'इन्स्क्रिप्शन्स ऐट् श्रवणबेलगोल' नामक पुस्तककी भूमिकामें रत्नकरंडकके सल्लेखनाधिकारसम्बन्धी 'उपसर्गे दुर्भिक्षे......' इत्यादि सात पद्योंको उद्धृत करते हुए, लिखा है कि यह 'रत्नकरंडक' 'आयितवर्म्मा'का बनाया हुआ एक ग्रन्थ है। यथा—

The vow in performance of which they thus starved themselves to death is called Sallekhanâ and the following is the description of it in the **Ratnakarandaka, a work by Âyit-Varmmâ.**

परंतु आयितवर्म्मा कौन थे, कब हुए हैं और कहाँसे अथवा किस जगहकी ग्रन्थप्रतिपरसे उन्हें इस नामकी उपलब्धि हुई इत्यादि बातोंका भूमिकामें कोई उल्लेख नहीं है। हाँ आगे चलकर स्वामी समन्तभद्रको भी 'रत्नकरंडक'का कर्ता लिखा है और यह बतलाया है कि उन्होंने पुनर्दीक्षा लेनेके पश्चात् इस ग्रन्थकी रचना की है—

Samantabhadra, having again taken dîksha, composed the Ratna Karandaka & other Jinâgam, Purans & became a professor of Syâdvâda.

यद्यपि, 'आयितवर्म्मा' यह नाम बहुत ही, अश्रुतपूर्व जान पड़ता है और जहाँ तक हमने जैनसाहित्यका अवगाहन किया है हमें किसी भी दूसरी जगहसे इस नामकी उपलब्धि नहीं हुई। तो भी इतना संभव है कि 'शांतिवर्मा'की तरह 'आयितवर्मा' भी समन्तभद्रके गृहस्थजीवनका एक नामान्तर हो अथवा शांतिवर्म्माकी जगह गलतीसे ही यह लिख गया हो। यदि ऐसा कुछ नहीं है तो उपर्युक्त प्रमाण-समुच्चयके आधार पर हमें इसे कहनेमें जरा भी संकोच नहीं हो सकता कि राइस साहबका इस ग्रंथको आयितवर्म्माका बतलाना बिलकुल गलत और भ्रममूलक है—उन्हें अवश्य ही इस उल्लेखके करनेमें कोई गलतफहमी अथवा विप्रतिपत्ति हुई है। अन्यथा यह ग्रंथ स्वामी समन्तभद्रका ही बनाया हुआ है और उन्हींके नामसे प्रसिद्ध है।

यह सब लिखे जानेके बाद, हालमें हमें उक्त पुस्तकके नये संस्करणको देखनेका अवसर मिला, जो सन् १९२३ में प्रकाशित हुआ है, और उस परसे हमें यह प्रकट करते हुए प्रसन्नता होती है कि इस संस्करणमें राइस साहबकी उक्त गलतीका सुधार कर दिया गया है और साफ तौर पर 'रत्नकरंडक आव् समन्तभद्र' (Ratna Karandaka of Samantabhadra) शब्दोंके द्वारा 'रत्नकरंडक'को समन्तभद्रका ही ग्रंथ स्वीकार किया है।

ग्रन्थके पद्योंकी जाँच।

समाजमें कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो इस ग्रंथको स्वामी समन्तभद्रका बनाया हुआ तो जरूर स्वीकार करते हैं, परंतु उन्हें इस ग्रंथके कुछ पद्यों पर संदेह है। उनके विचारसे ग्रंथमें कुछ ऐसे पद्य भी पाये जाते हैं जो मूल ग्रंथका अंग न होकर किसी दूसरे ग्रंथ अथवा ग्रंथोंके पद्य हैं और बादको किसी

तरह पर ग्रंथमें शामिल हो गये हैं। ऐसे पद्योंको वे लोग 'क्षेपक' अथवा 'प्रक्षिप्त' कहते हैं और इस लिये ग्रन्थपर संदेहका यह एक दूसरा प्रकार है जिसका यहाँ पर विचार होनेकी जरूरत है—

ग्रंथपर इस प्रकारके संदेहको सबसे पहले पं० पन्नालालजी वाकलीवालने, सन् १८९८ ईसवीमें, लिपिवद्ध किया। इस सालमें आपने रत्नकरंडश्रावकाचारको अन्वय, और अन्वयानुगत हिन्दी अनुवादसहित तयार करके उसे 'दिगम्बर जैनपुस्तकालय—वर्धा' द्वारा प्रकाशित कराया है। ग्रंथके इस संस्करणमें २१ इक्कीस पद्योंको 'क्षेपक' प्रकट किया गया अथवा उनपर 'क्षेपक' होनेका संदेह किया गया है जिनकी क्रमिकसूची, कुछ आद्याक्षरोंको लिये हुए, निम्न प्रकार है—

तावदंजन; ततोजिनेंद्र; यदि पाप; श्वापि देवो; भयाशास्नेह; मातंगो; धनश्री; मद्यमांस; प्रत्याख्यान; यदनिष्टं; व्यापार; श्रीषेण; देवाधिदेव; अर्हच्चरण; निःश्रेयस; जन्मजरा; विद्यादर्शन; कालेकल्प; निःश्रेयसमधिपन्ना; पूजार्था; सुखयतु।

इन पद्योंमेंसे कुछके 'क्षेपक' होनेके हेतुओंका भी फुट नोटों द्वारा उल्लेख किया गया है जो यथाक्रम इस प्रकार है—

'तावदंजन' और 'ततोजिनेंद्र' ये दोनों पद्य समन्तभद्रकृत नहीं हैं; परंतु दूसरे किसी आचार्य अथवा ग्रंथके ये पद्य हैं ऐसा कुछ बतलाया नहीं। तीसरे 'यदि पाप' पद्यका ग्रंथके विषयसे संबंध नहीं मिलता। 'श्वापि देवो' 'भयाशा' और 'यदनिष्टं' नामके पद्योंका सम्बंध, अन्वय तथा अर्थ ठीक नहीं बैठता। 'श्रीषेण,' 'देवाधिदेव' और 'अर्हच्चरण' ये पद्य ग्रंथके स्थलसे सम्बंध नहीं रखते। पन्द्रहवें 'निःश्रेयस'से बीसवें 'पूजार्था' तकके ६ पद्योंका अन्वयार्थ तथा विषयसम्बंध ठीक ठीक प्रतिभास नहीं होता और ११ वाँ 'व्यापार' नामका पद्य 'अनभिज्ञ क्षेपक' है—अर्थात् यह पद्य मूर्खता अथवा नासमझीसे ग्रंथमें प्रविष्ट किया गया है। क्यों कि प्रथम तो इसका अन्वय ही ठीक नहीं बैठता; दूसरे अगले श्लोकमें अन्यान्य ग्रंथोंकी तरह, प्रतिदिन सामायिकका उपदेश है और इस श्लोकमें केवल उपवास अथवा एकासनेके दिन ही सामायिक करनेका उपदेश है, इससे पूर्वापर विरोध आता है। इस पद्यके सम्बंधमें जोरके साथ यह वाक्य भी कहा गया है कि "श्रीमत्समंतभद्रस्वामीके ऐसे वचन कदापि नहीं हो सकते," और इस पद्यका अन्वय तथा अर्थ भी नहीं दिया गया। अन्तिम

पद्यको भी शायद ऐसा ही भारी क्षेपक समझा है और इसीसे उसका भी अन्वयार्थ नहीं किया गया। शेष पद्योंके सम्बंधमें सिर्फ इतना ही प्रकट किया है कि वे 'क्षेपक' मालूम होते अथवा बोध होते हैं। उनके क्षेपकत्वका कोई हेतु नहीं दिया। हाँ, भूमिकामें इतना जरूर सूचित किया है कि "शेषके श्लोकोंका हेतु विस्तृत होनेके कारण प्रकाशित नहीं किया गया सो पत्रद्वारा या साक्षात् होनेपर प्रगट हो सकता है।"

इस तरहपर बाकलीवालजीके तात्कालिक संदेहका यह रूप है। उनकी इस कृतिसे कुछ लोगोंके संदेहको पुष्टि मिली और कितने ही हृदयोंमें नवीन संदेहका संचार भी हुआ।

यद्यपि, इस ग्रंथके सम्बंधमें अभीतक कोई प्राचीन उल्लेख अथवा पुष्ट प्रमाण ऐसा देखनेमें नहीं आया जिससे यह निश्चित हो सके कि स्वामी समंतभद्रने इसे इतने श्लोकपरिमाण निर्माण किया था, न ग्रंथकी सभी प्रतियोंमें एक ही श्लोकसंख्या पाई जाती है—बल्कि कुछ प्रतियाँ ऐसी भी उपलब्ध होती हैं जिनमें श्लोकसंख्या डेढसौसे भी बढ़ी हुई है—और इसमें तो कोई संदेह ही नहीं कि टीका-टिप्पणवाली प्रतियोंपरसे किसी मूल ग्रंथकी नकल उतारते समय, लेखकोंकी असावधानी अथवा नासमझीके कारण, कभी कभी उन प्रतियोंमें 'उक्तं च' रूपसे दिये हुए अथवा समर्थनादिके लिये टिप्पणी किये हुए—हाशियेपर (Margin) नोट किये हुए—दूसरे ग्रंथोंके पद्य भी मूल ग्रंथमें शामिल हो जाते हैं; और इसीसे कितने ही ग्रंथोंमें 'क्षेपक' पाये जाते हैं *। इसके सिवाय प्रकृत ग्रंथमें कुछ पद्य ऐसी अवस्थामें भी अवश्य हैं कि यदि उन्हें ग्रंथसे पृथक् कर दिया जाय तो उससे शेष पद्योंके क्रम तथा विषयसम्बंधमें परस्पर कोई बाधा नहीं आती और न कुछ अन्तर ही पड़ता है। ‡ ऐसी हाल-

---

* इस विषयके एक उदाहरणके लिये देखो 'पूज्यपाद–उपासकाचारकी जाँच' वाला हमारा लेख, जो जैनहितैषी भाग १५ के अंक १२ वें में प्रकाशित हुआ है। हालमें 'दशभक्ति' नामका एक ग्रंथ शोलापुरसे, संस्कृतटीका और मराठी अनुवादसहित, प्रकाशित हुआ है। उससे मालूम होता है कि दशभक्तियोंके मूलपाठोंमें भी कितने ही क्षेपक शामिल हो रहे हैं। यह सब नासमझ और असावधान लेखकोंकी कृपाका ही फल है!

‡ जैसे कि कथाओंका उल्लेख करनेवाले 'तावदंजन चौरोङ्गे' आदि पद्य।

तमें ग्रंथके कुछ पद्योंपर संदेहका होना अस्वाभाविक नहीं है। परंतु ये सब बातें किसी ग्रन्थप्रतिमें 'क्षेपक' होनेका कोई प्रमाण नहीं हो सकतीं।

और इसलिये इतने परसे ही, विना किसी गहरी खोज और जाँचके सहसा यह नहीं कहा जा सकता कि इस ग्रंथकी वर्तमान (१५० पद्यों वाली) प्रतिमें भी कोई क्षेपक जरूर शामिल है। ग्रंथके किसी भी पद्यको 'क्षेपक' वतलानेसे पहले इस वातकी जाँचकी वड़ी जरूरत है कि, उक्त पद्यकी अनुपस्थितिसे ग्रंथके प्रतिपाद्य विषयसम्वन्धादिकमें किसी प्रकारकी वाधा न आते हुए भी, नीचे लिखे कारणोंमेंसे कोई कारण उपलब्ध है या कि नहीं—

१ दूसरे अमुक विद्वान्, आचार्य अथवा ग्रंथका वह पद्य है और ग्रंथमें 'उक्तं च' आदिरूपसे नहीं पाया जाता।

२ ग्रंथकर्ताके दूसरे ग्रंथ या उसी ग्रंथके अमुक पद्य अथवा वाक्यके वह विरुद्ध पड़ता है।

३ ग्रंथके विषय, संदर्भ, कथनक्रम अथवा प्रकरणके साथ वह असम्बद्ध है।

४ ग्रंथकी दूसरी अमुक प्राचीन, शुद्ध और असंदिग्ध प्रतिमें वह नहीं पाया जाता।

५ ग्रन्थके साहित्यसे उसके साहित्यका कोई मेल नहीं खाता, ग्रन्थकी कथनशैली उसके अस्तित्वको नहीं चाहती अथवा ग्रन्थकर्ताद्वारा ऐसे कथन-की संभावना ही नहीं है।

जव तक इन कारणोंमेंसे कोई भी कारण उपलब्ध न हो और जव तक यह न वतलाया जाय कि उस पद्यकी अनुपस्थितिसे ग्रंथके प्रतिपाद्य विषयसम्वन्धा-दिकमें कोई प्रकारकी वाधा नहीं आती तव तक किसी पद्यको क्षेपक कहनेका साहस करना दुःसाहस मात्र होगा।

पं० पन्नालालजी वाकलीवालने जिन पद्योंको क्षेपक वतलाया है अथवा जिन-पर क्षेपक होनेका संदेह किया है उनमेंसे किसी भी पद्यके संम्वंधमें उन्होंने यह प्रकट नहीं किया कि वह दूसरे अमुक आचार्य, विद्वान् अथवा ग्रंथका पद्य है, या उसका कथन स्वामी समंतभद्रप्रणीत उसी या दूसरे ग्रन्थके अमुक पद्य अथवा वाक्यके विरुद्ध है; न यही सूचित किया कि रत्नकरंडककी दूसरी अमुक प्राचीन, शुद्ध तथा असंदिग्ध प्रतिमें वह नहीं पाया जाता, या उसका साहित्य ग्रंथके दूसरे साहित्यसे मेल नहीं खाता, और न एक पद्यको छोड़कर दूसरे

किसी पद्यके सम्बंधमें इस प्रकारका कोई विवेचन ही उपस्थित किया कि, वैसा कथन स्वामी समंतभद्रका क्यों कर नहीं हो सकता। और इस लिये आपका संपूर्ण हेतुप्रयोग उपर्युक्त कारणकलापके प्रायः तीसरे नम्बरमें ही आ जाता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि वाकलीवालजीने उन पद्योंको मूल ग्रंथके साथ असम्बद्ध समझा है। उनकी समझमें कुछ पद्योंका अन्वयार्थ ठीक न बैठने या विषयसम्बंध ठीक प्रतिभासित न होने आदिका भी यही प्रयोजन है। अन्यथा, 'चतुरावर्तत्रितय' नामके पद्यको भी वे 'क्षेपक' बतलाते जिसका अन्वयार्थ उन्हें ठीक नहीं भासा।

परंतु वास्तवमें ये सभी पद्य वैसे नहीं हैं जैसा कि वाकलीवालजीने उन्हें समझा है। विचार करनेपर उनके अन्वयार्थ तथा विषयसम्बंधमें कोई खास खराबी मालूम नहीं होती और इसका निर्णय ग्रंथकी संस्कृतटीका परसे भी सहजहीमें हो सकता है। उदाहरणके तौर पर हम यहाँ उसी एक पद्यको लेते हैं जिसे वाकलीवालजीने 'अनभिज्ञक्षेपक' लिखा है और जिसके विषयमें आपका विचार संदेहकी कोटिसे निकलकर निश्चयकी हदको पहुँचा हुआ मालूम होता है। साथ ही जिसके सम्बंधमें आपने यहाँ तक कहनेका भी साहस किया है कि "स्वामी समंतभद्रके ऐसे वचन कदापि नहीं हो सकते।" वह पद्य इस प्रकार है—

व्यापारवैमनस्याद्विनिवृत्त्यामन्तरात्मविनिवृत्त्या।
सामायिकं बध्नीयादुपवासे चैकभुक्ते वा॥

इस पद्यमें, प्रधानतासे और तद्व्रतानुयायी सर्व साधारणकी दृष्टिसे, उपवास तथा एकभुक्तके दिन सामायिक करनेका विधान किया गया है—यह नहीं कहा गया है कि केवल उपवास तथा एकभुक्तके दिन ही सामायिक करना चाहिये। फिर भी इससे कभी कोई यह न समझ ले कि दूसरे दिन अथवा नित्य सामायिक करनेका निषेध है अतः आचार्य महोदयने अगले पद्यमें इस बातको स्पष्ट कर दिया है और लिख दिया है कि नित्य भी (प्रतिदिवसमपि) निरालसी होकर सामायिक करना चाहिये। वह अगला पद्य इस प्रकार है—

सामायिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यं।
व्रतपंचकपरिपूरणकारणमवधानयुक्तेन॥

इस पद्यमें 'प्रतिदिवसं' के साथ 'अपि' शब्द खास तौरसे ध्यान देने योग्य है और वह इस पद्यसे पहले 'प्रतिदिवससामायिक' से भिन्न किसी

दूसरे विधानको माँगता है। यदि पहला पद्य ग्रंथसे निकाल दिया जाय तो यह 'अपि' शब्द बहुत कुछ खटकने लगता है। अतः उक्त पद्य क्षेपक नहीं है और न अगले पद्यके साथ उसका कोई विरोध जान पड़ता है। उसे 'अनभिज्ञक्षेपक' बतलाना अपनी ही अनभिज्ञता प्रकट करना है। मालूम होता है कि बाकलीवालजीका ध्यान इस 'अपि' शब्द पर नहीं गया और इसीसे उन्होंने इसका अनुवाद भी नहीं दिया। साथ ही, उक्त अनभिज्ञक्षेपकका अर्थ भी उन्हें ठीक प्रतिभासित नहीं हुआ। यही वजह है कि उन्होंने उसमें व्यर्थ ही 'केवल' और 'ही' शब्दोंकी कल्पना की और उन्हें क्षेपकत्वके हेतुस्वरूप यह भी लिखना पड़ा कि इस पद्यका अन्वय ही ठीक नहीं बैठता। अन्यथा इस पद्यका अन्वय कुछ भी कठिन नहीं है–'सामयिकं बध्नीयात्'को पद्यके अन्तमें कर देनेसे सहज ही अन्वय हो जाता है। दूसरे पद्योंके अन्वयार्थ तथा विषयसम्बंधकी भी प्रायः ऐसी ही हालत है। उन्हें भी आपने उस वक्त ठीक तौरसे समझा मालूम नहीं होता और इस लिये उनका वह सब उल्लेख प्रायः भूलसे भरा हुआ जान पड़ता है। हालमें, हमारे दर्याफ्त करने पर, बाकलीवालजीने, अपने १८ जून सन् १९२३ के पत्रमें, इस भूलको स्वीकार भी किया है, जिसे हम उन्हींके शब्दोंमें नीचे प्रकट करते हैं—

"रत्नकरंडके प्रथम संस्करणमें जिन पद्योंको मैंने क्षेपक ठहराया था उसमें कोई प्रमाण नहीं उस वक्तकी अपनी तुच्छ बुद्धिसे ही ऐसा अनुमान हो गया था। संस्कृतटीकामें सबकी युक्तियुक्त टीका देखनेसे मेरा मन अब नहीं है कि वे क्षेपक हैं। वह प्रथम ही प्रथम मेरा काम था संस्कृत टीका देखनेमें आई नहीं थी इसीलिये विचारार्थ प्रश्नात्मक (?) नोट कर दिये गये थे। सो मेरी भूल थी।"

यद्यपि यह बाकलीवालजीकी उस वक्तकी भूल थी परंतु इसने कितने ही लोगोंको भूलके चक्करमें डाला है, जिसका एक उदाहरण पं० नाना रामचंद्रजी नाग हैं। आपने बाकलीवालजीकी उक्त कृति परसे उन्हीं २१ पद्योंपर क्षेपक होनेका संदेह किया हो सो नहीं, बल्कि उनमेंसे पंद्रह + पद्योंको बिलकुल ही

+ उक्त २१ पद्योंमेंसे निम्नलिखित छह पद्योंको छोड़कर जो शेष रहते हैं उनको—

मद्यमांस, यदनिष्टं, निःश्रेयस, जन्मजरा, विद्यादर्शन, काले कल्प।

ग्रंथसे बाहरकी चीज समझ लिया। साथ ही तेरह* पद्योंको और भी उन्हीं जैसे मानकर उन्हें उसी कोटिमें शामिल कर दिया और इस तरहपर इक्कीसकी जगह अट्ठाईस पद्योंको 'क्षेपक' करार देकर उन्हें 'उपासकाध्ययन' की उस प्रथमावृत्तिसे बिलकुल ही निकाल डाला—छापा तक भी नहीं—जिसको उन्होंने शक सं० १८२६ (वि० सं० १९६१) में मराठी अनुवादसहित प्रकाशित किया था। इसके बाद नाग साहबने अपनी बुद्धिको और भी उसी मार्गमें दौड़ाया और तब आपको अन्धकारमें ही—विना किसी आधार प्रमाणके—यह सूझ पड़ा कि इस ग्रंथमें और भी कुछ क्षेपक हैं जिन्हें ग्रंथसे बाहर निकाल देना चाहिये। साथ ही, यह भी मालूम पड़ा कि निकाले हुए पद्योंमेंसे कुछका फिरसे ग्रंथमें प्रवेश कराना चाहिये। और इस लिये पिछले साल, शक सं० १८४४ (वि० सं० १९७९) में जब आपने इस ग्रंथकी द्वितीयावृत्ति प्रकाशित कराई तब आपने अपनी उस सूझ बूझको कार्यमें परिणत कर डाला—अर्थात्, प्रथमावृत्तिवाले २८ पद्योंमेंसे २३ + और २६ † नये इस प्रकार ४९ × पद्योंको उक्त

---

* उन तेरह पद्योंकी सूची इस प्रकार है—

ओजस्तेजो, अष्टगुण, नवनिधि, अमरासुर, शिवमजर, रागद्वेष, मकराकर, पंचानां (७२), गृहहारि, संवत्सर, सामायिकं, गृहकर्मणा, उच्चैर्गोत्रं।

+ पांच पद्य जिन्हें प्रथमावृत्तिमें, ग्रंन्थसे बाहरकी चीज समझकर, निकाल दिया गया था और द्वितीयावृत्तिमें जिनको पुनः प्रविष्ट किया गया है वे इस प्रकार हैं—

मकराकर, गृहहारि, संवत्सर, सामयिकं, देवाधिदेव।

† इन २६ पद्योंमें छह तो वे बाकलीवालजीवाले पद्य हैं जिन्हें आपने प्रथमावृत्तिके अवसर पर क्षेपक नहीं समझा था और जिनके नाम पहले दिये जाचुके हैं। शेष २० पद्योंकी सूची इस प्रकार है—

देशयामि, क्षुत्पिपासा, परमेष्ठी, अनात्मार्थं, सम्यग्दर्शन (२८), दर्शनं, गृहस्थो, न सम्यक्त्व, मोहतिमिरा, हिंसानृत, सकलं, अल्पफल, सामयिके, शीतोष्ण, अशरण, चतुराहार, नवपुण्यैः, क्षितिगत, श्रावकपदानि, येन स्वयं।

× अक्टूबर सन १९२१ के 'जैनबोधक' में सेठ रावजी सखाराम दोशीने इन पद्योंकी संख्या ५८ (अट्ठावन) दी है और निकाले हुए पद्योंके जो क्रमिक नम्बर, समूचे ग्रन्थकी दृष्टिसे, दिये हैं उनसे वह संख्या ५९ हो जाती है।

आवृत्तिमें स्थान नहीं दिया। उन्हें क्षेपक अथवा ग्रन्थसे बाहरकी चीज समझकर एकदम निर्वासित कर दिया है—और आपने ऐसा करनेका कोई भी युक्तियुक्त कारण नहीं दिया। हाँ, टाइटिल और प्रस्तावना द्वारा इतना जरूर सूचित किया है कि, ग्रन्थकी यह द्वितीयावृत्ति पं० पन्नालाल वाकलीवालकृत 'जैनधर्मामृतसार' भाग २ रा नामक पुस्तककी उस प्रथमावृत्तिके अनुकूल है जो नागपुरमें जून सन १८९९ ईसवीको छपी थी। साथ ही, यह भी बतलाया है कि उस पुस्तकमेंसे सिर्फ उन्हीं श्लोकोंको यहाँ छोड़ा गया है जो दूसरे आचार्यके थे, बाकी भगवत्समंतभद्रके १०० श्लोक इस आवृत्तिमें ज्योंके त्यों ग्रहण किये गये हैं। परंतु उस पुस्तकका नाम न तो 'उपासकाध्ययन' है और न 'रत्नकरंड,' न नाग साहबकी इस द्वितीयावृत्तिकी तरह उसके सात भाग हैं और न उसमें समंतभद्रके १०० श्लोक ही पाये जाते हैं; बल्कि वह एक संग्रहपुस्तक है जिसमें प्रधानतः रत्नकरंडश्रावकाचार और पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रंथोंसे श्रावकाचार विषयका कुछ कथन प्रश्नोत्तर रूपसे संग्रह किया गया है और उसे 'प्रश्नोत्तर श्रावकाचार' ऐसा नाम भी दिया है। उसमें यथावश्यकता 'रत्नकरंडश्रावकाचार' से कुल ८६ श्लोक उद्धृत किये गये हैं। अतः नाग साहबकी यह द्वितीयावृत्ति उसीके अनुकूल है अथवा उसीके आधार पर प्रकाशित की गई है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। मालूम होता है कि उन्होंने इस प्रकारकी बातोंद्वारा * पबलिकके सामने असिल बात पर कुछ

साथ ही, २१, २६, ३२, ४१, ६३, ६७, ६९, ७०, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ८३, ८७, ८८, ८९, ९१, ९३, ९४, ९५, ९९, १०१, ११२, और १४८ नम्बरवाले २५ पद्योंको भी निकाले हुए सूचित किया है, जिन्हें वास्तवमें निकाला नहीं गया!! और निकाले हुए २, २८, ३१, ३३, ३४, ३६, ३९, ४०, ४७, ४८, ६६, ८५, ८६, १०४, और १४९ नम्बरवाले १५ पद्योंका उस सूचीमें उल्लेख ही नहीं किया! इस प्रकारके गलत और भ्रामक उल्लेख, निःसन्देह बड़े ही खेदजनक और अनर्थमूलक होते हैं। बम्बई प्रान्तिक सभाने भी शायद इसीपर विश्वास करके अपने २१ वें अधिवेशनके तृतीय प्रस्तावमें ५८ संख्याका गलत उल्लेख किया है। (देखो जनवरी सन् १९२२ का 'जैनबोधक' पत्र।)

* एक दो बातें और भी ऐसी ही हैं जिन्हें लेख बढ़ जानेके भयादिसे यहाँ छोड़ा गया है।

पर्दा डालना चाहा है । और वह असल बात यह है कि, आपकी समझमें यह ग्रन्थ एक 'शतक' ग्रन्थ मालूम होता है और इसलिये आप इसमें १०० श्लोक मूलके और बाकी सब क्षेपक समझते हैं। इसी बातको आपने अपने चैत्र शुक्ल ४ शक संवत् १८४४ के पत्रमें हम पर इस प्रकार प्रकट भी किया था—

"....यह शतक है, और ५० * श्लोक क्षेपक हैं, १०० श्लोक लक्षणके हैं,"

परंतु यह सब आपकी केवल कल्पना ही कल्पना है । आपके पास इसके समर्थनमें कोई भी प्रमाण मालूम नहीं होता, जिसका यहाँ पर ऊहापोह किया जाता । हाँ एक बार प्रथमावृत्तिके अवसर पर, उसकी प्रस्तावनामें, आपने ग्रन्थसे निकाले हुए २८ पद्योंके सम्बंधमें यह प्रकट किया था कि, वे पद्य ग्रंथकी कर्णाटक वगैरह प्रतिमें 'उक्तंच' रूपसे दिये हुए हैं, अतः समंतभद्राचार्यके न होकर दूसरे आचार्यके होनेसे, हमने उन्हें इस पुस्तकमें ग्रहण नहीं किया । प्रस्तावनाके वे शब्द इस प्रकार हैं—

"ह्या पुस्तकाच्या प्रती कर्नाटकांत वगैरे आहेत त्यांत कांहीं 'उक्तंच, म्हणून श्लोक घातलेले आहेत ते श्लोक समंतभद्र आचार्यांचे रचलेले नसून दुसऱ्या आचार्यांचे असल्यामुळें ते आम्हीं ह्या पुस्तकांत घेतले नाहींत।"

परंतु कर्णाटक वगैरहकी वह दूसरी प्रति कौनसी है जिसमें उन २८ पद्योंको 'उक्तं च' रूपसे दिया है, इस बातका कोई पता आप, कुछ विद्वानोंके दर्याफ्त करने पर भी, नहीं बतला सके । और इस लिये आपका उक्त उल्लेख मिथ्या पाया गया । इस प्रकारके मिथ्या उल्लेखोंको करके व्यर्थकी गड़बड़ पैदा करनेमें आपका क्या उद्देश्य अथवा हेतु था, इसे आप ही समझ सकते हैं । परंतु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं और न इसे कहनेमें हमें जरा भी संकोच हो सकता है कि, आपकी यह सब कार्रवाई बिलकुल ही अविचारित हुई है और बहुत ही आपत्तिके योग्य है । कुछ पद्योंका क्रम भी आपने बदला है और वह भी आपत्तिके योग्य है । एक माननीय ग्रंथमेंसे, बिना किसी प्रबल प्रमाणकी

---

* यद्यपि उक्त द्वितीयावृत्तिमें ५० की जगह ४९ श्लोक ही निकाले गये हैं और १०१ छापे गये हैं परंतु प्रस्तावनामें १०० श्लोकोंके छापनेकी ही सूचना की गई है । इससे संभव है कि अन्तका 'पापमराति' वाला पद्य गलतीसे कम्पोज होकर छप गया हो और, सब पद्योंपर एक क्रमसे नम्बर न होनेके कारण, उसका कुछ खयाल न रहा हो ।

उपलब्धिके और विना इस वातका अच्छी तरहसे निर्णय हुए कि उसमें कोई क्षेपक शामिल हैं या नहीं, अपनी ही कोरी कल्पनाके आधारपर अथवा स्वरुचिमात्रसे कुछ पद्योंको (चाहे उनमें कोई क्षेपक भी भले ही हों) इस तरहपर निकाल डालना एक बहुत ही वड़े दुःसाहस तथा भारी धृष्टताका कार्य है। और इस लिये नागसाहवकी यह सब अनुचित कारवाई कदापि अभिनंदनके योग्य नहीं हो सकती। आपने उन पद्योंको निकालते समय यह भी नहीं सोचा कि उनमेंसे कितने ही पद्य ऐसे हैं जो आजसे कई शताब्दियों पहलेके वने हुए ग्रंथोंमें स्वामी समंतभद्रके नामसे उल्लेखित पाये जाते हैं, कितने ही 'श्रावकपदानि देवैः' जैसे पद्योंके निकाल डालनेसे दूसरे पद्योंका महत्त्व तथा विषय कम हुआ जाता है; अथवा रत्नरंडकपर संस्कृत तथा कनड़ी आदिकी कितनी ही टीकाएं ऐसी मिलती हैं जिनमें वे सब पद्य मूलरूपसे दिये हुए हैं, और इस लिये मुझे अधिक सावधानीसे काम लेना चाहिये। सचमुच ही नागसाहवने ऐसा करते हुए वड़ी भारी भूलसे काम लिया है। परंतु यह अच्छा हुआ कि अन्तमें आपको भी अपनी भूल मालूम पड़ गई और आपने अपनी इस नासमझीपर खेद प्रकट करते हुए, यह प्रण किया है कि, मैं भविष्यमें ऐसी कमती श्लोकवाली कोई प्रति इस ग्रंथकी प्रकाशित नहीं करूँगा *।

यह सब कुछ होते हुए भी, ग्रंथके कितने ही पद्योंपर अभी तक आपका संदेह वना हुआ है। एक पत्रमें तो आप हमें यहाँतक सूचित करते हैं कि— 'क्षेपककी शंका वहुत लोगोंको है परंतु उसका पक्का आधार नहीं मिलता।"

इस वाक्यसे यह विलकुल स्पष्ट हो जाता है कि नाग साहवने जिन पद्योंको 'क्षेपक' करार दिया है उन्हें क्षेपक करार देनेके लिये आपके अथवा आपके मित्रोंके पास कोई पक्का आधार (प्रमाण) नहीं है और इसलिये आपका यह सव कोरा संदेह ही संदेह है। अस्तु; ग्रंथकी संस्कृतटीकाके साथ इस प्रस्तावनाको पढ़ जानेपर आशा है आपका और आपके मित्रोंका वह संदेह बहुत कुछ दूर हो जायगा। इसी लिये जाँचका यह सब प्रयत्न किया जा रहा है।

रत्नकरंड श्रावकाचारकी एक आवृत्ति दक्षिण महाराष्ट्र जैनसभाके जनरल सेक्रेटरी († प्रोफेसर अण्णा साहव वावाजी लठ्ठे) ने भी मराठी अनुवादादिसहित

---

* देखो 'जैनवोधक' वर्ष ३२ का छठा अंक।

† यह नाम हमें पं० नाना रामचन्द्रजी नागके पत्रसे मालूम हुआ है। साथ ही

प्रकाशित कराई है। प्रकाशक हैं ' भाऊ वावाजी लट्ठे, कुरुंदवाड।' इस आवृत्तिमें यद्यपि, मूल श्लोक वही १५० दिये हैं जो पाठकोंके सामने उपस्थित इस सटीक प्रतिमें पाये जाते हैं परंतु प्रस्तावनामें इतना जरूर सूचित किया है कि इन श्लोकोंमें कुछ 'असम्बद्ध' श्लोक भी हैं। साथ ही, यह भी बतलाया है कि, कनडी लिपिकी एक प्रतिमें, जो उन्हें रा० देवाप्पा उपाध्यायसे प्राप्त हुई थी, ५० श्लोक अधिक हैं जिनमेंसे उन श्लोकोंको छोड़कर जो स्पष्ट रूपसे 'क्षेपक' मालूम होते थे शेष ७ पद्योंको परिशिष्टके तौरपर दिया गया है। इस सूचनासे दो बातें पाई जाती हैं—एक तो यह कि, कनडी लिपिमें इस ग्रन्थकी ऐसी भी प्रति है जिसमें २०० श्लोक पाये जाते हैं; दूसरी यह कि, लट्ठे साहबको भी इन डेढ़सौ श्लोकोंमेंसे कुछ पर क्षेपक होनेका संदेह है जिन्हें वे असम्बद्ध कहते हैं। यद्यपि आपने ऐसे पद्योंकी कोई सूची नहीं दी और न क्षेपकसम्बंधी कोई विशेष विचार ही उपस्थित किया—बल्कि उस प्रकारके विचारको वहाँ पर 'अप्रस्तुत' कह कर छोड़ दिया है—×तो भी उदाहरणके लिये आपने २७ वें पद्यकी ओर संकेत किया है और उसे असम्बद्ध बतलाया है। वह पद्य इस प्रकार है—

यदि पापनिरोधोन्यसंपदा किं प्रयोजनं।
अथ पापास्रवोस्त्यन्यसंपदा किं प्रयोजनं॥

यह पद्य स्थूलदृष्टिसे भले ही कुछ असम्बंद्धसा मालूम होता हो परंतु जब इसके गंभीर अर्थपर गहराईके साथ विचार किया जाता है और पूर्वापर पद्योंके अर्थके साथ उसकी शृंखला मिलाई जाती है तो यह असम्बद्ध नहीं रहता। इसके पहले २५ वें पद्यमें मदका अष्टभेदात्मक स्वरूप बतला कर २६ वें पद्यमें उस मदके करनेका दोष दिखलाया गया है और यह जतलाया गया है कि किसी कुल जाति या ऐश्वर्यादिके मदमें आकर धर्मात्माओंको सम्यग्दर्शनादिक युक्त व्यक्तियोंका तिरस्कार नहीं करना चाहिये। इसके बाद विवादस्थ पद्यमेंसे इस बातकी शिक्षा की गई है कि जो लोग कुलैश्वर्यादि सम्पत्तिसे युक्त हैं वे अपनी तत्तद्विषयक मदपरिणतिको दूर करनेके लिये कैसे और किस प्रकारके

यह भी ज्ञात हुआ है कि इस आवृत्तिका अनुवादादि कार्य भी प्रोफेसर साहबका ही किया हुआ है।

× यथा—"मूल पुस्तकांत म्हणून दिलेल्या १५० श्लोकांत देखील कांहीं असंबद्ध दिसतात. उदाहरणार्थ २७ वा श्लोक पहा. परंतु हा विचार या ठिकाणीं अप्रस्तुत आहे."

विचारों द्वारा समर्थ हो सकते हैं। धर्मात्मा वही होता है जिसके पापका निरोध है—अर्थात्, पापास्रव नहीं होता। विपरीत इसके, जो पापास्रवसे युक्त है उसे पापी अथवा अधर्मात्मा समझना चाहिये। इस पद्यमें यह बतलाया गया है कि जिसके पास पापके निरोधरूप धर्मसंपत्ति अथवा पुण्यविभूति मौजूद है उसके लिये कुलैश्वर्यादिकी सम्पत्ति कोई चीज नहीं—अप्रयोजनीय है—उसके अंतरंगमें उससे भी अधिक तथा विशिष्टतर संपत्तिका सद्भाव है जो कालांतरमें प्रकट होगी और इस लिये वह तिरस्कारका पात्र नहीं। इसी तरह जिसकी आत्मामें पापास्रव बना हुआ है उसके कुलैश्वर्यादि सम्पत्ति किसी कामकी नहीं। वह उस पापास्रवके कारण शीघ्र नष्ट हो जायगी और उसके दुर्गति गमनादिकको रोक नहीं सकेगी। ऐसी संपत्तिको पाकर मद करना मूर्खता है। जो लोग इस संपूर्ण तत्त्वको समझते हैं वे कुलैश्वर्यादिविहित धर्मात्माओंका कदापि तिरस्कार नहीं करते। अगले दो पद्योंमें भी इसी भावको पुष्ट किया गया है—यह समझाया गया है कि, एक मनुष्य जो सम्यग्दर्शनरूपी धर्मसम्पत्तिसे युक्त है वह चाण्डालका पुत्र होने पर भी—कुलादि सम्पत्तिसे अत्यंत गिरा हुआ होने पर भी—तिरस्कारका पात्र नहीं होता। उसे गणधरादिक देवोंने 'देव' कहा है—आराध्य बतलाया है। उसकी दशा उस अंगारके सदृश होती है जो बाह्यमें भस्मसे आच्छादित होने पर भी अन्तरंगमें तेज तथा प्रकाशको लिये हुए है और इसलिये कदापि उपेक्षणीय नहीं होता। मनुष्य तो मनुष्य, एक कुत्ता भी धर्मके प्रतापसे—सम्यग्दर्शनादिके माहात्म्यसे—देव बन जाता है और पापके प्रभावसे—मिथ्यात्वादिके कारण—एक देव भी कुत्तेका जन्म ग्रहण करता है। ऐसी हालतमें दूसरी ऐसी कौनसी सम्पत्ति है जो मनुष्योंको अथवा संसारी जीवोंको धर्मके प्रसादसे प्राप्त न हो सकती हो? कोई भी नहीं। और इसलिये कुलैश्वर्यादिविहीन धर्मात्मा लोग कदापि तिरस्कारके योग्य नहीं होते। यहाँ २९ वें पद्यमें 'अन्या सम्पत्' और २७ वें पद्यमें 'अन्य सम्पदा' पद खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं। इनमें 'अन्या' और 'अन्य' विशेषणोंका प्रयोग उस कुलैश्वर्यादि सम्पत्तिको लक्ष्य करके किया गया है जिसे पाकर मूढ लोग मद करते हैं और जिनके उस मदका उल्लेख २५, २६ नंबरके पद्योंमें किया गया है और इससे इन सब पद्योंका भले प्रकार एक सम्बंध स्थापित होता है। अतः उक्त २७ वाँ पद्य असम्बद्ध नहीं है।

कुछ विद्वानोंका खयाल है कि सम्यग्दर्शनकी महिमावाले पद्योंमें कितने ही पद्य क्षेपक हैं। उनकी रायमें या तो वे सभी पद्य क्षेपक हैं जो छंद परिवर्तनको लिये हुए—३४ वें पद्यके बाद परिच्छेदके अन्त तक—पाये जाते हैं और नहीं तो वे पद्य क्षेपक जरूर होने चाहिये जिनमें उन्हें पुनरुक्तियाँ मालूम देती हैं। इसमें संदेह नहीं कि ग्रन्थमें ३४ वें पद्यके बाद अनुष्टुपकी जगह आर्या छंद बदला है। परंतु छंदका परिवर्तन किसी पद्यको क्षेपक करार देनेके लिये कोई गारंटी नहीं होता। बहुधा ग्रन्थोंमें इस प्रकारका परिवर्तन पाया जाता है—खुद स्वामी समंतभद्रके 'जिनशतक' और 'बृहत्स्वयंभू स्तोत्र' ही इसके खासे उदाहरण हैं जिनमें किसी किसी तीर्थकरकी स्तुति भिन्न छंदमें ही नहीं किन्तु एकसे अधिक छंदोंमें भी की गई है। इसके सिवाय यहाँ पर जो छंद बदला है वह दो एक अपवादोंको छोड़कर बराबर ग्रन्थके अंत तक चला गया है—ग्रन्थके बाकी सभी परिच्छेदोंकी रचना प्रायः उसी छंदमें हुई है—और इस लिये छंदाधार पर उठी हुई इस शंकामें कुछ भी बल मालूम नहीं होता। हाँ पुनरुक्तियोंकी बात जरूर विचारणीय है यद्यपि केवल पुनरुक्ति भी किसी पद्यको क्षेपक नहीं बनाती तो भी इसे कहनेमें हमें जरा भी संकोच नहीं होता कि स्वामी समन्तभद्रके प्रबन्धोंमें व्यर्थकी पुनरुक्तियाँ नहीं हो सकतीं। इसी बातकी जाँचके लिये हमने इन पद्योंको कई बार बहुत गौरके साथ पढ़ा है परन्तु हमें उनमें जरा भी पुनरुक्तिका दर्शन नहीं हुआ। प्रत्येक पद्य नये नये भाव और नये नये शब्दविन्यासको लिये हुए हैं। प्रत्येकमें विशेषता पाई जाती है—हर एकका प्रतिपाद्यविषय सम्यग्दर्शनका माहात्म्य अथवा फल होते हुए भी अलग अलग है—और सभी पद्य एक टकसालके—एक ही विद्वान द्वारा रचे हुए—मालूम होते हैं। उनमेंसे किसी एकको अथवा किसीको भी क्षेपक कहनेका साहस नहीं होता। मालूम नहीं उन लोगोंने कहाँसे इनमें पुनरुक्तियोंका अनुभव किया है। शायद उन्होंने यह समझा हो और वे इसी बातको कहें भी कि 'जब ३५ वें पद्यमें यह बतलाया जा चुका है कि शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव नारक, तिर्यंच, नपुंसक और स्त्री पर्यायोंमें जन्म नहीं लेता, न दुष्कुलोंमें जाता है और न विकलांग, अल्पायु तथा दरिद्री ही होता है तो इससे यह नतीजा सहजही निकल जाता है कि वह मनुष्य और देवपर्यायोंमें जन्म लेता है, पुरुष होता है, अच्छे कुलोंमें जाता है; साथ ही धनादिककी अच्छी अवस्थाको भी पाता है। और इस लिये मनुष्य तथा देव पर्या-

यकी अवस्थाओंके सूचक अगले दो पद्योंके देनेकी जरूरत नहीं रहती। यदि उन्हें दिया भी था तो फिर उनसे अगले दो पद्योंके देनेकी कोई जरूरत न थी। और अन्तका ४१ वाँ पद्य तो विलकुल ही अनावश्यक जान पडता है, वह साफ तौरसे पुनरुक्तियोंको लिये हुए है—उसमें पहले चार पद्योंके ही आशयका संग्रह किया गया है—या तो उन चार पद्योंको ही देना था और या उन्हें न देकर इस एक पद्यको ही दे देना काफी था।'

इस सम्वंधमें हम सिर्फ इतना ही कहना उचित समझते हैं कि अव्वल तो 'जरूरत नहीं रहती' या 'जरूरत नहीं थी' और 'पुनरुक्ति' ये दोनों एक चीज नहीं हैं, दोनोंमें वहुत वडा अन्तर है और इस लिये जरूरत न होनेको पुनरुक्ति समझ लेना और उसके आधारपर पद्योंको क्षेपक मान लेना भूलसे खाली नहीं है। दूसरे, ३५ वें पद्यसे मनुष्य और देव पर्यायसम्बंधी जो नतीजा निकलता है वह वहुत कुछ सामान्य है और उससे उन विशेप अवस्थाओंका लाजिमी तौरपर बोध नहीं होता जिनका उल्लेख अगले पद्योंमें किया गया है—एक जीव देव पर्यायको प्राप्त होता हुआ भी भवनत्रिकमें (भवनवासी-व्यंतर-ज्योतिषियोंमें) जन्म ले सकता है और स्वर्गमें साधारण देव हो सकता है। उसके लिये यह लाजिमी नहीं होता कि वह स्वर्गमें देवोंका इन्द्र भी हो। इसी तरह मनुष्य पर्यायको प्राप्त होता हुआ कोई जीव मनुष्योंकी दुष्कुल और दरिद्रतादि दोषोंसे रहित कितनी ही जघन्य तथा मध्यम श्रेणियोंमें जन्म ले सकता है। उसके लिये मनुष्यपर्यायमें जाना ही इस वातका कोई नियामक नहीं है कि वह महाकुल और महा धनादिककी उन संपूर्ण विभूतियोंसे युक्त होता हुआ 'मानवतिलक' भी हो जिनका उल्लेख ३६ वें पद्यमें किया गया है। और यह तो स्पष्ट ही है कि एक मनुष्य महाकुलादिसम्पन्न मानवतिलक होता हुआ भी, नारायण, वलभद्रादि पदोंसे विभूषित होता हुआ भी, चक्रवर्ती अथवा तीर्थंकर नहीं होता। अतः सम्यग्दर्शनके माहात्म्य तथा कुलको अच्छी तरहसे प्रख्यापित करनेके लिये उन विशेष अवस्थाओंको दिखलानेकी खास जरूरत थी जिनका उल्लेख वादके चार पद्योंमें किया गया है और इस लिये वे पद्य क्षेपक नहीं हैं। हाँ, अन्तका ४१ वाँ पद्य, यदि वह सचमुच ही 'संग्रहवृत्त' है—जैसा कि टीकाकारने भी प्रकट* किया है—कुछ खटकता जरूर है। परंतु हमारी रायमें वह

* यथा—"यत्प्राक् प्रत्येकं श्लोकैः सम्यग्दर्शनस्य फलमुक्तं तद्दर्शनाधिकारस्य समाप्तौ संग्रहवृत्तेनोपसंहृत्य प्रतिपादयन्नाह—"

कोरा संग्रहवृत्त नहीं है। उसमें ग्रंथकार महोदयने एक दूसरा ही भाव रक्खा है जो पहले पद्योंसे उपलब्ध नहीं होता। पहले पद्य अपनी अपनी बातका खंडशः उल्लेख करते हैं। वे इस बातको नहीं बतलाते कि एक ही जीव, सम्यग्दर्शनके महात्म्यसे, उन सभी अवस्थाओंको भी क्रमशः प्राप्त कर सकता है—अर्थात्, देवेन्द्र, चक्रवर्ति और तीर्थकर पदोंको पाता हुआ मोक्षमें जा सकता है। इसी खास बातको बतलानेके लिये इस पद्यका अवतार हुआ मालूम होता है। और इस लिये यह भी 'क्षेपक' नहीं है।

सल्लेखना अथवा सद्धर्मका फल प्रदर्शित करनेवाले जो 'निःश्रेयस' आदि छह पद्य हैं उनका भी हाल प्रायः ऐसा ही है। वे भी सब एक ही टाइपके पद्य हैं और पुनरुक्तियोंसे रहित पाये जाते हैं। वहाँ पहले पद्यमें जिन 'निःश्रेयस' और 'अभ्युदय' नामके फलोंका उल्लेख है अगले पद्योंमें उन्हीं दोनोंके स्वरूपादिका स्पष्टीकरण किया गया है। अर्थात दूसरेमें निःश्रेयसका और छठेमें अभ्युदयका स्वरूप दिया है और शेष पद्योंमें निःश्रेयसको प्राप्त होने वाले पुरुषोंकी दशाका उल्लेख किया है इस लिये उनमें भी कोई क्षेपक नही और न उनमें परस्पर कोई असम्बंद्धता ही पाई जाती है।

इसी तरह पर 'क्षुत्पिपासा' 'परमेष्ठि परंज्योति' और 'अनात्मार्थं विनारागैः' नामके तीनों पद्योंमें भी कोई क्षेपक मालूम नहीं होता। वे आप्तके स्वरूपको विशद करनेके लिये यथावश्यकता और यथास्थान दिये गये हैं। पहले पद्यमें क्षुधा तृषादि दोषोंके अभावकी प्रधानतासे आप्तका स्वरूप बतलाया है और उसके बतलानेकी जरूरत थी; क्योंकि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंके अष्टादशदोषसम्बंधी कथनमें परस्पर बहुत बड़ा अन्तर *पाया जाता है। श्वेताम्बर भाई आप्तके क्षुधा-तृषादिकका होना भी मानते हैं जो दिगम्बरोंको इष्ट नहीं है—और ये सब अन्तर उनके प्रायः सिद्धान्तभेदोंपर अवलम्बित हैं। इस पद्यके द्वारा पूर्वपद्यमें आए हुए 'उत्सन्न-

---

* श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा मानें हुए अठारह दोषोंके नाम इस प्रकार हैं—१ वीर्यान्तराय, २ भोगान्तराय, ३ उपभोगान्तराय, ४ दानान्तराय, ५ लाभान्तराय, ६ निद्रा, ७ भय, ८ अज्ञान, ९ जुगुप्सा, १० हास्य, ११ रति, १२ अरति, १३ राग, १४ द्वेष, १५ अविरति, १६ काम, १७ शोक, १८ मिथ्यात्व। (देखो विवेकविलास और जैनतत्त्वादर्श।)

दोषेण' पदका बहुत कुछ स्पष्टीकरण हो जाता है। दूसरे पद्यमें आप्तके कुछ खास खास नामोंका उल्लेख किया गया है—यह बतलाया गया है कि आप्तको परमेष्ठी, परंज्योति, विराग, (वीतराग) विमल, कृती, सर्वज्ञ, सार्व तथा शास्ता आदि भी कहते हैं—और नामकी यह परिपाटी दूसरे प्राचीन ग्रंथोंमें भी पाई जाती है जिसका एक उदाहरण श्रीपूज्यपादस्वामीका समाधितंत्र ग्रंथ है, उसमें भी परमात्माकी नामावलीका एक 'निर्मलः केवलः' इत्यादि पद्य दिया है। अस्तु। तीसरे पद्यमें आप्तस्वरूपसे उत्पन्न होनेवाले इस प्रश्नको हल किया गया है कि जब शास्ता वीतराग है तो वह किस तरहपर और किस उद्देशसे हितोपदेश देता है और क्या उसमें उनकी कोई निजी गर्ज है? इस तरहपर ये तीनों ही पद्य प्रकरणके अनुकूल हैं और ग्रंथके आवश्यक अंग जान पड़ते हैं।

कुछ लोगोंकी दृष्टिमें, भोगोपभोगपरिमाण नामक गुणव्रतके कथनमें आया हुआ, 'त्रसहतिपरिहरणार्थं' नामका पद्य भी खटकता है। उनका कहना है कि 'इस पद्यमें मद्य, मांस और मधुके त्यागका जो विधान किया गया है। वह विधान उससे पहले अष्टमूल गुणोंके प्रतिपादक 'मद्यमांसमधुत्यागैः' नामके श्लोकमें आ चुका है। जब मूल गुणोंमें ही उनका त्याग आचुका तब उत्तर गुणोंमें, बिना किसी विशेषताका उल्लेख किये, उसको फिरसे दुहरानेकी क्या जरूरत थी? इस लिये यह पद्य पुनरुक्त दोषसे युक्त होनेके साथ साथ अनावश्यक भी जान पड़ता है। यदि मांसादिकके त्यागका हेतु बतलानेके लिये इस पद्यके देनेकी जरूरत ही थी तो इसे उक्त 'मद्यमांसमधुत्यागैः' नामक पद्यके साथ ही—उससे ठीक पहले या पीछे देना चाहिये था। वही स्थान इसके लिये उपयुक्त था और तब इसमें पुनरुक्त आदि दोषोंकी कल्पना भी नहीं हो सकती थी।'

ऊपरके इस कथनसे यह तो स्पष्ट है कि यह पद्य मद्यादिकके त्याग विषयक हेतुओंका उल्लेख करनेकी वजहसे कथनकी कुछ विशेषताको लिये हुए जरूर है और इसलिये इसे पुनरुक्त या अनावश्यक नहीं कह सकते। अब देखना सिर्फ इतना ही है कि इस पद्यको अष्ट मूलगुणवाले पद्यके साथ न देकर यहाँ क्यों दिया गया है। हमारी रायमें इसे यहाँ पर देनेका मुख्य हेतु यह मालूम होता है कि ग्रंथमें, इससे पहले, जो भोगोपभोगपरिमाण व्रतका तथा 'भोग' का स्वरूप दिया गया है उससे यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि क्या मद्यादिक भोग पदार्थोंका भी इस व्रतवालेको परिमाण करना चाहिये? उत्तरमें आचार्य महोदयने इस पद्यके द्वारा, यही

सूचित किया है कि 'नहीं, इन चीजोंका उसके परिमाण नहीं होता, ये तो उसके लिये विलकुल वर्जनीय हैं। साथ ही, यह भी बतला दिया है कि क्यों वर्जनीय अथवा त्याज्य हैं। यदि यह पद्य यहाँ न दिया जाकर अष्टमूलगुण-वाले पद्यके साथ ही दिया जाता तो यहाँ पर इससे मिलते जुलते आशयके किसी दूसरे पद्यको देना पड़ता और इस तरह पर ग्रंथमें एक बातकी पुनरुक्ति अथवा एक पद्यकी व्यर्थकी वृद्धि होती। यहाँ इस पद्यके देनेसे दोनों काम निकल जाते हैं—पूर्वोद्दिष्ट मद्यादिके त्यागका हेतु भी मालूम हो जाता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इस व्रतवालेके मद्यादिकका परिमाण नहीं होता, बल्कि उनका सर्वथा त्याग होता है। ऐसी हालतमें यह पद्य संदेहकी दृष्टिसे देखे जानेके योग्य मालूम नहीं होता।

कुछ लोग उक्त अष्टमूलगुणवाले पद्यको ही क्षेपक समझते हैं परंतु इसके समर्थनमें उनके पास कोई हेतु या प्रमाण नहीं है। शायद उनका यह खयाल हो कि इस पद्यमें पंचाणुव्रतोंको जो मूल गुणोंमें शामिल किया है वह दूसरे ग्रन्थोंके विरुद्ध है जिसमें अणुव्रतोंकी जगह पंच उदुम्बर फलोंके त्यागका विधान पाया जाता है और इतने परसे ही वे लोग इस पद्यको संदेहकी दृष्टिसे देखने लगे हों। यदि ऐसा है तो यह उनकी निरी भूल है। देशकालकी परिस्थितिके अनुसार आचार्योंका मतभेद परस्पर होता आया है ×। उसकी वजहसे कोई पद्य क्षेपक करार नहीं दिया जा सकता। भगवज्जिनसेन आदि और भी कई आचार्योंने अणुव्रतोंको मूल गुणोंमें शामिल किया है। पं० आशाधरजीने अपने सागारधर्मामृत और उसकी टीकामें समंतभद्रादिके इस मतभेदका उल्लेख भी किया है। वास्तवमें सकलव्रती मुनियोंके मूलगुणोंमें जिस प्रकार पंच महाव्रतोंका होना जरूरी है उसी प्रकार देशव्रती श्रावकोंके मूलगुणोंमें पंचाणुव्रतोंका होना भी जरूरी मालूम होता है। देशव्रती श्रावकोंको लक्ष्य करके ही आचार्य महोदयने इन मूल गुणोंकी सृष्टि की है। पंच उदुम्बरवाले मूलगुण प्रायः बालकोंको—अव्रतियों अथवा अनभ्यस्त देशसंयमियोंको—लक्ष्य करके लिखे गये हैं; जैसा कि शिवकोटि आचार्यके निम्न वाक्यसे भी प्रकट है—

× इसके लिये देखो 'जैनाचार्योंका शासनभेद,' नामके हमारे लेख, जो जैनहितैषीके १४ वें भागमें प्रकाशित हुए हैं।

मद्यमांसमधुत्यागसंयुक्ताणुव्रतानि नुः ।
अष्टौ मूलगुणः पंचोदुम्बरैश्चार्भकेष्वपि ॥

—रत्नमाला ।

ऐसी हालतमें यह पद्य भी संदेहकी दृष्टिसे देखे जानेके योग्य नहीं। यह अणुव्रतोंके बाद अपने उचित स्थान पर दिया गया है। इसके न रहनेसे, अथवा यों कहिये कि श्रावकाचारविषयक ग्रन्थमें श्रावकोंके मूल गुणोंका उल्लेख न होनेसे, ग्रंथमें एक प्रकारकी भारी त्रुटि रह जाती जिसकी स्वामी समन्तभद्र जैसे अनुभवी ग्रन्थकारोंसे कभी आशा नहीं की जा सकती थी। इस लिये यह पद्य भी क्षेपक नहीं हो सकता।

संदिग्ध पद्य।

ग्रंथमें प्रोषधोपवास नामके शिक्षाव्रतका कथन करनेवाले दो पद्य इस प्रकारसे पाये जाते हैं—

(१) पर्वण्यष्टम्यांच ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु ।
चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः ॥
(२) चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः
स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारंभमाचरति ॥

इनमें पहले पद्यसे प्रोषधोपवास व्रतका कथन प्रारंभ होता है और उसमें यह बतलाया गया है कि 'पर्वणी (चतुर्दशी) तथा अष्टमीके दिनोंमें सदेच्छा अथवा सदिच्छासे, जो चार प्रकारके आहारका त्याग किया जाता है उसे प्रोषधोपवास समझना चाहिये'। यह प्रोषधोपवास व्रतका लक्षण हुआ। टीकामें भी निम्न वाक्यके द्वारा इसे लक्षण ही सूचित किया है—

'अथेदानीं प्रोषधोपवासलक्षणं शिक्षाव्रतं व्याचक्षाणाः प्राह'—

इस पद्यके बाद दो पद्यमें उपवास-दिनके विशेष कर्तव्योंका निर्देश करके व्रतातीचारोंसे पहले, वह दूसरा पद्य दिया है जो ऊपर नंबर २ पर उद्धृत है। इस पद्यमें भी प्रोषधोपवासका लक्षण बतलाया गया है। और उसमें वही चार प्रकारके आहार त्यागकी पुनरावृत्ति की गई है। मालूम नहीं, यहाँपर यह पद्य किस उद्देशसे रक्खा गया है। कथनक्रमको देखते हुए, इस पद्यकी स्थिति कुछ संदिग्ध जरूर मालूम होती है। टीकाकार भी उसकी इस स्थितिको स्पष्ट नहीं कर सके। उन्होंने इस पद्यको देते हुए सिर्फ इतना ही लिखा है कि—

'अधुना प्रोषधोपवासस्तल्लक्षणं कुर्वन्नाह ।'

अर्थात्—अब प्रोषधोपवासका लक्षण करते हुए कहते हैं। परंतु प्रोषधोपवासका लक्षण तो दो ही पद्य पहले किया और कहा जा चुका है, अब फिरसे उसका लक्षण करने तथा कहनेकी क्या जरूरत पैदा हुई, इसका कुछ भी स्पष्टीकरण अथवा समाधान टीकामें नहीं है। अस्तु; यदि यह कहा जाय कि इस पद्यमें 'प्रोषध' और 'उपवास'का अलग अलग स्वरूप दिया है—चार प्रकारके आहारत्यागको उपवास और एक बार भोजन करनेको 'प्रोषध' ठहराया है—और इस तरह पर यह सूचित किया है कि प्रोषधपूर्वक—पहले दिन एकबार भोजन करके—जो अगले दिन उपवास किया जाता है—चार प्रकारके आहारका त्याग किया जाता है—उसे प्रोषधोपवास कहते हैं, तो इसके सम्बंधमें सिर्फ इतना ही निवेदन है कि प्रथम तो पद्यके पूर्वार्धमें भले ही उपवास और प्रोषधका अलग अलग स्वरूप दिया हो परंतु उसके उत्तरार्धसे यह ध्वनि नहीं निकलती कि उसमें प्रोषधपूर्वक उपवासका नाम प्रोषधोपवास बतलाया गया है। उसके शब्दोंसे सिर्फ इतना ही अर्थ निकलता है कि उपोषण (उपवास) पूर्वक जो आरंभाचरण किया जाता है उसे प्रोषधोपवास कहते हैं—बाकी धारणक और पारणकके दिनोंमें एकभुक्तिकी जो कल्पना टीकाकारने की है वह सब उसकी अतिरिक्त कल्पना मालूम होती है। इस लक्षणसे साधारण उपवास भी प्रोषधोपवास हो जाते हैं; और ऐसी हालतमें इस पद्यकी स्थिति और भी ज्यादा गड़बड़में पड़ जाती है। दूसरे, यदि यह मान भी लिया जाय कि, प्रोषधपूर्वक उपवासका नाम ही प्रोषधोपवास है और वही इस पद्यके द्वारा अभिहित है तो वह स्वामी समंतभद्रके उस पूर्वकथनके विरुद्ध पड़ता है जिसके द्वारा पर्वदिनोंमें उपवासका नाम प्रोषधोपवास सूचित किया गया है और इस तरह पर प्रोषधोपवासकी 'प्रोषधे पर्वदिने उपवास प्रोषधोपवासः' यह निरुक्ति की गई है। प्रोषध शब्द 'पर्वपर्यायवाची' है और प्रोषधोपवासका अर्थ 'प्रोषधे उपवासः' है, यह बात श्रीपूज्यपाद, अकलंकदेव, विद्यानन्द, सोमदेव, आदि सभी प्रसिद्ध विद्वानोंके ग्रंथोंसे पाई जाती है जिसके दो एक उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

"प्रोषध शब्दः पर्वपर्यायवाची। शब्दादिग्रहणं प्रतिनिवृत्तौत्सुक्यानि पंचापीन्द्रियाण्युपेत्य तस्मिन्वसंतीत्युपवासः। चतुर्विधाहारपरित्याग इत्यर्थः। प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः।" —सर्वार्थसिद्धिः।

"प्रोषधशब्दः पर्वपर्यायवाची, प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः।" इत्यादि
—तत्त्वार्थराजवार्तिक।

"प्रोषधे पर्वण्युपवासः प्रोषधोपवासः।" —श्लोकवार्तिक।

"पर्वाणि प्रोषधान्याहुर्मासे चत्वारि तानि च" इत्यादि—यशस्तिलक।

"प्रोषधः पर्वपर्यायवाची। पर्वणि चतुर्विधाहारनिवृत्तिः प्रोषधोपवासः"।
—चारित्रसार।

"इह प्रोषधशब्दः रूढया पर्वसु वर्तते। पर्वाणि चाष्टम्यादितिथयः पूरणात्पर्वधर्मोपचयहेतुत्वादिति"— —श्रा० प्र० टीकायां हरिभद्रः।

बहुत कुछ छानबीन करनेपर भी दूसरा ऐसा कोई भी ग्रंथ हमारे देखनेमें नहीं आया जिसमें प्रोषधका अर्थ 'सकृद्भुक्ति' और प्रोषधोपवासका अर्थ 'सकृद्भुक्तिपूर्वक उपवास' किया गया हो। प्रोषधका अर्थ 'सकृद्भुक्ति' नहीं है, यह बात खुद स्वामी समंतभद्रके निम्न वाक्यसे भी प्रकट होती ह जो इसी ग्रंथमें बादको 'प्रोषधोपवास' प्रतिमाका स्वरूप प्रतिपादन करनेके लिये दिया गया है—

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य।
प्रोषधनियमविधायी प्रणधिपरः प्रोषधानशनः॥

इससे 'चतुराहारविसर्जन' नामका उक्त पद्य स्वामी समंतभद्रके उत्तर कथनके भी विरुद्ध है, यह स्पष्ट हो जाता है। ऐसी हालतमें—ग्रंथके पूर्वोत्तर कथनोंसे भी विरुद्ध पड़नेके कारण—इस पद्यको स्वामी समंतभद्रका स्वीकार करनेमें बहुत अधिक संकोच होता है। आश्चर्य नहीं जो यह पद्य इस टीकासे पहले ही, किसी तरहपर, ग्रंथमें प्रक्षिप्त हो गया हो और टीकाकारको उसका खयाल भी न हो सका हो।

अब हम उन पद्योंपर विचार करते हैं जो अधिकांश लोगोंकी शंकाका विषय बने हुए हैं। वे पद्य दृष्टांतोंवाले पद्य हैं और उनकी संख्या ग्रंथमें छह पाई जाती है। इनमेंसे 'तावदंजन' और 'ततो जिनेंद्रभक्त' नामके पहले दो पद्योंमें सम्यग्दर्शनके निःशंकितादि अष्ट अंगोंमें प्रसिद्ध होनेवाले आठ व्यक्तियोंके नाम दिये हैं। 'मातंगो धनदेवश्च' नामके तीसरे पद्यमें पांच व्यक्तियोंके नाम देकर यह सूचित किया है कि इन्होंने उत्तम पूजातिशयको प्राप्त किया है। परंतु किस विषयमें? इसका उत्तर पूर्व पद्यसे सम्बंध मिलाकर यह दिया जा सकता है कि अहिंसादि पंचाणुव्रतोंके पालनके विषयमें।

इसके बाद ही ' धनश्री ' नामक पद्यमें पाँच नाम और देकर लिखा है कि उन्हें भी क्रमशः उसी प्रकार उपाख्यानका विषय बनाना चाहिये । परंतु इनके उपाख्यानका क्या विषय होना चाहिये अथवा ये किस विषयके दृष्टांत हैं, यह कुछ सूचित नहीं किया और न पूर्व पद्योंसे ही इसका कोई अच्छा निष्कर्ष निकलता है । पहले पद्यके साथ सम्बंध मिलानेसे तो यह नतीजा निकलता है कि ये पांचों दृष्टांत भी अहिंसादिक व्रतोंके हैं और इस लिये इनके भी पूजातिशयको दिखलाना चाहिये । हाँ टीकाकारने यह जरूर सूचित किया है कि ये क्रमशः हिंसादिकसे युक्त व्यक्तियोंके दृष्टांत हैं । ' श्रीषेण ' नामके पाँचवें पद्यमें चार नाम देकर यह सूचित किया है कि ये चतुर्भेदात्मक वैयावृत्यके दृष्टांत हैं । और ' अर्हच्चरणसपर्या ' नामक छठे पद्यमें लिखा है कि राजगृहमें एक प्रमोदमत्त (विशिष्ट धर्मानुरागसे मस्त) मेंडकने एक फूलके द्वारा अंर्हतके चरणोंकी पूजाके माहात्म्यको महात्माओंपर प्रकट किया था ।

इन पद्योंपर जो आपत्तियाँ की जाती हैं अथवा की जा सकती हैं उनका सार इस प्रकार है—

(१) ग्रंथके संदर्भ और उसकी कथनशैलीपरसे यह स्पष्ट है कि ग्रंथमें श्रावक धर्मका प्रतिपादन औपदेशिक ढंगसे नहीं किन्तु विधिवाक्योंके तौरपर अथवा आदेशरूपसे किया गया है । ऐसी हालतमें किसी दृष्टांत या उपाख्यानका उल्लेख करने अथवा ऐसे पद्योंके देनेकी कोई जरूरत नहीं होती और इस लिये ग्रंथमें ये पद्य निरे अनावश्यक तथा बेमेल मालूम होते हैं । इनकी अनुपस्थितिसे ग्रंथके प्रतिपाद्य विषयसम्बंधादिकमें किसी प्रकारकी बाधा भी नहीं आती ।

(२) शास्त्रोंमें एक ही विषयके अनेक दृष्टांत अथवा उपाख्यान पाये जाते हैं; जैसे अहिंसाव्रतमें ' मृगसेन ' धीवरका, असत्यभाषणमें राजा ' वसु'का, अब्रह्मसेवनमें ' कडार पिंग'का और परिग्रह विषयमें ' पिण्याक गंध'का उदाहरण सुप्रसिद्ध है । भगवती आराधना और यशस्तिलकादि ग्रंथोंमें इन्हींका उल्लेख किया गया है । एक ही व्यक्तिकी कथासे कई कई विषयोंके उदाहरण भी निकलते हैं—जैसे वारिषेणकी कथासे स्थितीकरण अंग तथा अचौर्यव्रतका और अनंतमतीकी कथासे ब्रह्मचर्यव्रत तथा निःकांक्षित अंगका । इसी तरहपर कुछ ऐसी भी कथाएँ उपलब्ध हैं जिनके दृष्टांतोंका प्रयोग विभिन्नरूपसे पाया जाता है । इसी ग्रंथमें सत्यघोषकी जिस कथाको असत्य भाषणका दृष्टान्त बनाया गया है ' भगवती आराधना ' और ' यशस्तिलक'में उसीको चोरीके सम्बंधमें प्रयुक्त किया गया

है । इसी तरह विष्णुकुमारकी कथाको कहीं कहीं 'वात्सल्य' अंगमें न देकर 'प्रभावनांग'में दिया गया है † । कथासाहित्यकी ऐसी हालत होते हुए और एक नामके अनेक व्यक्ति होते हुए भी स्वामी समंतभद्र जैसे सतर्क विद्वानोंसे, जो अपने प्रत्येक शब्दको बहुत कुछ जाँच तोलकर लिखते हैं, यह आशा नहीं की जा सकती कि वे उन दृष्टांतोंके यथेष्ट मार्मिक अंशका उल्लेख किये बिना ही उन्हें केवल उनके नामोंसे ही उद्धृत करनेमें संतोष मानते, और जो दृष्टांत सर्वमान्य नहीं उसे भी प्रयुक्त करते, अथवा बिना प्रयोजन ही किसी खास दृष्टांतको दूसरोंपर महत्त्व देते ।

(३) यदि ग्रंथकार महोदयको, अपने ग्रंथमें, दृष्टांतोंका उल्लेख करना ही इष्ट होता तो वे प्रत्येक व्यक्तिके कार्यकी गुरुता और उसके फलके महत्त्वको कुछ जँचे तुले शब्दोंमें जरूर दिखलाते । साथ ही, उन दूसरे विषयोंके उदाहरणोंका भी, उसी प्रकारसे, उल्लेख करते जो ग्रंथमें अनुदाहृत स्थितिमें पाये जाते हैं—अर्थात्, जब अहिंसादिक व्रतोंके साथ उनके प्रतिपक्षी हिंसादिक पापोंके भी उदाहरण दिये गये हैं तो सम्यग्दर्शनके निःशंकितादि अष्ट अंगोंके साथ उनके प्रतिपक्षी शंकादिक दोषोंके भी उदाहरण देने चाहियें थे । इसी प्रकार तीन मूढ़ताओंको धरनेवाले न धरनेवाले, मद्य-मांस-मधु आदिका सेवन करनेवाले न करनेवाले, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंके पालनमें तत्पर—अतत्पर, ' उच्चैर्गोत्रं प्रणतेः' नामक पद्यमें जिन फलोंका उल्लेख है उनको पानेवाले, सल्लेखनाकी शरणमें जानेवाले और न जानेवाले इन सभी व्यक्तियोंका अलग अलग दृष्टांत रूपसे उल्लेख करना चाहिये था । परंतु यह सब कुछ भी नहीं किया गया और न उक्त छहों पद्योंकी उपस्थितिमें इस न करनेकी कोई माकूल (समुचित) वजह ही मालूम होती है । ऐसी हालतमें उक्त पद्योंकी स्थिति और भी ज्यादा संदेहास्पद हो जाती है ।

(४) ' धनश्री ' नामका पद्य जिस स्थितिमें पाया जाता है इससे उसके उपाख्यानोंका विषय अच्छी तरहसे प्रतिभासित नहीं होता । स्वामी समंतभद्रकी रचनामें इस प्रकारका अधूरापन नहीं हो सकता ।

(५) ब्रह्मचर्याणुव्रतके उदाहरणमें ' नीली ' नामकी एक स्त्रीका जो दृष्टांत दिया गया है वह ग्रंथके संदर्भसे—उसकी रचनासे—मिलता हुआ मालूम नहीं

† देखो, ' अरुंगल छेप्पु ' नामक तामिल भाषाका ग्रंथ, जो अंग्रेजी जैनगजटमें, अनुवादसहित, मुद्रित हुआ है ।

होता। स्वामी समंतभद्रद्वारा यदि उस पद्यकी रचना हुई होती तो वे, अपने ग्रंथकी पूर्व रचनाके अनुसार, वहाँपर किसी पुरुष व्यक्तिका ही उदाहरण देते —स्त्रीका नहीं; क्योंकि उन्होंने ब्रह्मचर्याणुव्रतका जो स्वरूप 'न तु परदारान् गच्छति' नामके पद्यमें 'परदारनिवृत्ति' और 'स्वदारसंतोष' नामोंके साथ दिया है वह पुरुषोंको प्रधान करके ही लिखा गया है। दृष्टान्त भी उसके अनुरूप ही होना चाहिये था।

(६) परिग्रह परिमाणव्रतमें 'जय' का दृष्टांत दिया गया है। टीकामें 'जय'को कुरुवंशी राजा 'सोमप्रभ'का पुत्र और सुलोचनाका पति सूचित किया है। परन्तु इस राजा 'जय' (जयकुमार) की जो कथा भगवज्जिनसेनके 'आदिपुराण'में पाई जाती है उससे वह परिग्रहपरिमाण व्रतका धारक न होकर 'परदारनिवृत्ति' नामके शीलव्रतका—ब्रह्मचर्याणुव्रतका धारक मालूम होता है और उसी व्रतकी परीक्षामें उत्तीर्ण होनेपर उसे देवता द्वारा पूजातिशयकी प्राप्ति हुई थी। टीकाकार महाशय भी इस सत्यको छिपा नहीं सके और न प्रयत्न करने पर भी इस कथाको पूरी तौरसे परिग्रहपरिमाणनामके अणुव्रतकी बना सके हैं। उन्होंने शायद मूलके अनुरोधसे यह लिख तो दिया कि 'जय' परिमितपरिग्रही था और स्वर्गमें इन्द्रने भी उसके इस परिग्रहपरिमाणव्रतकी प्रशंसा की थी परंतु कथामें वे अन्ततक उसका निर्वाह पूरी तौरसे नहीं कर सके। उन्होंने एक देवताको स्त्रीके रूपमें भेजकर जो परीक्षा कराई है उससे वह जयके शीलव्रतकी ही परीक्षा हो गई है। आदिपुराणमें, इस प्रसंगपर साफ तौरसे जयके शीलमाहात्म्यका ही उल्लेख किया है, जिसके कुछ पद्य इस प्रकार हैं—

अमरेन्द्रे सभामध्ये शीलमाहात्म्यशंसनं।
जयस्य तत्प्रियायाश्च प्रकुर्वति कदाचन ॥ २६० ॥
श्रुत्वा तदादिमे कल्पे रविप्रभविमानजः।
श्रीशो रविप्रभाख्येन तच्छीलान्वेषणं प्रति ॥ २६१ ॥
प्रेषिता कांचना नाम देवी प्राप्य जयं सुधीः।

....

स्वानुरागं जये व्यक्तमकरोद्विकृतेक्षणा।
तद्दुष्टचेष्टितं दृष्ट्वा मा मंस्था पापमीदृशं ॥ २६७ ॥
सोदर्या त्वं ममादायि मया मुनिवराद्व्रतं।
परांगनांगसंसर्गसुखं मे विषभक्षणं ॥ २६८ ॥

....

सावित्र्यद्देवता चैवं शीलवत्याः परे न के।
ज्ञात्वा तच्छीलमाहात्म्यं गत्वा स्वस्थानिनं प्रति ॥ २७१ ॥
प्राशंसत्सा तयोस्तादृङ्माहात्म्यं सोऽपि विस्मयात्।
रविप्रभः समागत्य तावुभौ तद्गुणप्रियः ॥ २७२ ॥
स्ववृत्तान्तं समाख्याप युवाभ्यां क्षम्यतामिति।
पूजयित्वा महारत्नैर्नाकलोकं समीयिवान् ॥ २७३ ॥

—पर्व ४७ वाँ।

श्रीजिनसेनाचार्यप्रणीत हरिवंशपुराणमें भी, निम्नलिखित दो पद्यों द्वारा 'जय'के शीलमहात्म्यको ही सूचित किया है—

"शक्रप्रशंसनादेत्य रतिप्रभसुरेण सः।
परीक्ष्य स्वस्त्रिया मेरावन्यदा पूजितो जयः ॥ १२० ॥
सर्वासामेव शुद्धीनां शीलशुद्धिः प्रशस्यते।
शीलशुद्धिविशुद्धानां किंकरास्त्रिदशा नृणाम् ॥ २१ ॥

—सर्ग १२ वाँ।

इस तरह पर जयका उक्त दृष्टांतरूपसे उल्लेख उसके प्रसिद्ध आख्यानके विरुद्ध पाया जाता है और इससे भी पद्यकी स्थिति संदिग्ध हो जाती है।

(७) इन पद्योंमें दिये हुए दृष्टांतोंको टीकामें जिस प्रकारसे उदाहृत किया है, यदि सचमुच ही उनका वही रूप है और वही उनसे अभिप्रेत है तो उससे इन दृष्टांतोंमें ऐसा कोई विशेष महत्त्व भी मालूम नहीं होता, जिसके लिये स्वामी समंतभद्र जैसे महान् आचार्योंको उनके नामोल्लेखका प्रयत्न करनेकी जरूरत पड़ती। वे प्रकृत विषयको पुष्ट बनाने अथवा उसका प्रभाव हृदयपर स्थापित करनेके लिये पर्याप्त नहीं हैं। कितने ही दृष्टांत तो इनसे भी अधिक महत्त्वके, हिंसाऽहिंसादिके विषयमें, प्रतिदिन देखने तथा सुननेमें आते हैं।

इन्हीं सब कारणोंसे उक्त छहों पद्योंको स्वामी समंतभद्रके पद्य स्वीकार करनेसे इनकार किया जाता है और कहा जाता है कि वे 'क्षेपक' हैं।

हमारी रायमें, इन आपत्तियोंमेंसे सबसे पिछली आपत्ति तो ऐसी है जिसमें कुछ भी बल मालूम नहीं होता; क्योंकि उसकी कल्पनाका आधार एक मात्र टीका है। यह बिलकुल ठीक है; और इसमें कोई संदेह नहीं कि टीकाकारने इन

दृष्टान्तोंकी जो कथाएँ दी हैं वे बहुत ही साधारण तथा श्रीहीन हैं, और कहीं कहीं पर तो अप्राकृतिक भी जान पड़ती हैं। उनमें भावोंका चित्रण बिलकुल नहीं, और इस लिये वे प्रायः निष्प्राण मालूम होती हैं। टीकाकारने, उन्हें देते हुए, इस बातका कुछ भी ध्यान रक्खा मालूम नहीं होता कि जिस व्रत, अव्रत अथवा गुण-दोषादिके विषयमें ये दृष्टान्त दिये गये हैं उनका वह स्वरूप उस कथाके पात्रमें परिस्फुट (अच्छी तरहसे व्यक्त) कर दिया गया या नहीं जो इस ग्रंथ अथवा दूसरे प्रधान ग्रंथोंमें पाया जाता है, और उसके फलप्रदर्शनमें भी किसी असाधारण विशेषताका उल्लेख किया गया अथवा नहीं। अनंतमतीकी कथामें एक जगह भी 'निःकांक्षित' अंगके स्वरूपको और उसके विषयमें अनंतमतीकी भावनाको व्यक्त नहीं किया गया; प्रत्युत इसके अनंतमतीके ब्रह्मचर्य व्रतके माहात्म्यका ही यत्र तत्र कीर्तन किया गया है; 'प्रभावना' अंगकी लम्बी कथामें 'प्रभावना' के स्वरूपको प्रदर्शित करना तो दूर रहा, यह भी नहीं बतलाया गया कि वज्रकुमारने कैसे रथ चलवाया—क्या अतिशय दिखलाया और उसके द्वारा क्योंकर और क्या प्रभावना जैनशासनकी हुई; धनदेवकी कथामें इस बातको बतलानेकी शायद जरूरत ही नहीं समझी गई कि धनदेवकी सत्यताको राजाने कैसे प्रमाणित किया, और बिना उसको सूचित किये वैसे ही राजासे उसके हकमें फैसला दिला दिया गया! असत्यभाषणका दोष दिखलानेके लिये जो सत्यघोषकी कथा दी गई है उसमें उसे चोरीका ही अपराधी ठहराया है, जिससे यह दृष्टांत, असत्यभाषणका न रहकर दूसरे ग्रंथोंकी तरह चोरीका ही बन गया है। और इस तरहपर इन सभी कथाओंमें इतनी अधिक त्रुटियाँ पाई जाती हैं कि उनपर एक खासा विस्तृत निबंध लिखा जा सकता है। परंतु टीकाकार महाशय यदि इन दृष्टांतोंको अच्छी तरहसे खिला नहीं सके, उनके मार्मिक अंशोंका उल्लेख नहीं कर सके और न त्रुटियोंको दूर करके उनकी कथाओंको प्रभावशालिनी ही बना सके हैं, तो यह सब उनका अपना दोष है। उसकी वजहसे मूल ग्रंथपर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। और न मूल आख्यान वैसे कुछ निःसार अथवा महत्त्वशून्य ही हो सकते जैसा कि टीकामें उन्हें बता दिया गया है। इसीसे हमारा यह कहना है कि इस ७ वीं आपत्तिमें कुछ भी बल नहीं है।

छठी आपत्तिके सम्बंधमें यह कहा जा सकता है कि पद्यमें जिस 'जय' का उल्लेख है वह सुलोचनाके पतिसे भिन्न कोई दूसरा ही व्यक्ति होगा अथवा दूसरे

किसी प्राचीन पुराणमें जयको, परदारनिवृत्ति व्रतकी जगह अथवा उसके अति- रिक्त, परिग्रहपरिमाणव्रतका व्रती लिखा होगा । परंतु पहली अवस्थामें इतना जरूर मानना होगा कि वह व्यक्ति टीकाकारके समयमें भी इतना अप्रसिद्ध था कि टीकाकारको उसका बोध नहीं हो सका और इस लिये उसने सुलोचनाके पति 'जय' को ही जैसे तैसे उदाहृत किया है । दूसरी हालतमें, उदाहृत कथा परसे, टीकाकारका उस दूसरे पुराणग्रंथसे परिचित होना संदिग्ध जरूर मालूम होता है । चौथी आपत्तिके सम्बंधमें यह कल्पना की जा सकती है कि 'धनश्री' नामका पद्य कुछ अशुद्ध हो गया है । उसका 'यथा क्रमं' पाठ जरा खटकता भी है । यदि ऐसे पद्योंमें इस आशयके किसी पाठके देनेकी जरूरत होती तो वह 'मातंगो' तथा 'श्रीषेण' नामके पद्योंमें भी जरूर दिया जाता; क्योंकि उनमें भी पूर्वकथित विषयोंके क्रमानुसार दृष्टांतोंका उल्लेख किया गया है । परंतु ऐसा नहीं है; इस लिये यह पाठ यहाँपर अनावश्यक मालूम होता है । इस पाठकी जगह यदि उसीकी जोड़का दूसरा 'ऽन्यथासमं' पाठ बना दिया जाय तो झगड़ा बहुत कुछ मिट जाता है और तब इस पद्यका यह स्पष्ट आशय हो जाता है कि, पहले पद्यमें मातंगादिकके जो दृष्टांत दिये गये हैं उनके साथ ही (समं) इन 'धनश्री' आदिके दृष्टांतोंको भी विपरीत रूपसे (अन्यथा) उदाहृत करना चाहिये—अर्थात्, वे अहिंसादिव्रतोंके दृष्टांत हैं तो इन्हें हिंसादिक पापोंके दृष्टान्त समझना चाहिये और वहाँ पूजातिशयको दिखाना है तो यहाँ तिरस्कार और दुःखके अतिशयको दिखलाना होगा । इस प्रकारके पाठभेदका हो जाना कोई कठिन बात भी नहीं है । भंडारोंमें ग्रंथोंकी हालतको देखते हुए, वह बहुत कुछ साधारण जान पड़ती है । परंतु तब इस पाठभेदके सम्बंधमें यह मानना होगा कि वह टीकासे पहले हो चुका है और टीकाकारको दूसरे शुद्ध पाठकी उपलब्धि नहीं हुई । यही वजह है कि उसने 'यथाक्रमं' पाठ ही रक्खा है और पद्यके विषयको स्पष्ट करनेके लिये उसे टीकामें 'हिंसादिविरत्यभावे' पद की वैसे ही ऊपरसे कल्पना करनी पड़ी है ।

शेष आपत्तियोंके सम्बंधमें, बहुत कुछ विचार करने पर भी, हम अभीतक ऐसा कोई समाधानकारक उत्तर निश्चित नहीं कर सके हैं जिससे इन पद्योंको †

---

† यद्यपि छठे पद्यका रंगढंग दूसरे पद्योंसे कुछ भिन्न है और उसे ग्रंथका अंग माननेको जी भी कुछ चाहता है परंतु पहली आपत्ति उसमें खास तौरसे बाधा डालती हैं और यह स्वीकार करने नहीं देती कि वह भी ग्रंथका कोई अंग है ।

ग्रंथका एक अंग स्वीकार करनेमें सहायता मिल सके। इन आपत्तियोंमें बहुत कुछ तथ्य पाया जाता है; और इस लिये इनका पूरी तौरसे समाधान हुए विना उक्त छहों पद्योंको ग्रंथका अंग नहीं कहा जा सकता—उन्हें स्वामी समंतभद्रकी रचना स्वीकार करनेमें वहुत वड़ा संकोच होता है। आश्चर्य नहीं जो ये पद्य भी टीकासे पहले ही ग्रंथमें प्रक्षिप्त हो गये हों और साधारण दृष्टिसे देखने अथवा परीक्षादृष्टिसे न देखनेके कारण वे टीकाकारको लक्षित न हो सके हों। यह भी संभव है कि इन्हें किसी दूसरे संस्कृत टीकाकारने रचा हो, और कथाओंसे पहले उनकी सूचनाके लिये, अपनी टीकामें दिया हो और वादको उस टीका परसे मूलग्रंथकी नकल उतारते समय असावधान लेखकोंकी कृपासे वे मूलका ही अंग वना दिये गये हों। परंतु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि ये पद्य संदिग्ध जरूर हैं और इन्हें सहसा मूल ग्रंथका अंग अथवा स्वामी समंतभद्रकी रचना नहीं कहा जा सकता।

यहाँ तककी इस संपूर्ण जाँचमें जिन पद्योंकी चर्चा की गई है, हम समझते हैं, उनसे भिन्न ग्रंथमें दूसरे ऐसे कोई भी पद्य मालूम नहीं होते जो खास तौरसे संदिग्ध स्थितिमें पाये जाते हों अथवा जिनपर किसीने अपना युक्तिपुरस्सर संदेह प्रकट किया हो और इसलिये जिनकी जाँचकी इस समय जरूरत हो। अस्तु।

यह तो हुई ग्रंथकी उन प्रतियोंके पद्योंकी जाँच जो इस सटीक प्रतिकी तरह डेढ़ सौ श्लोक संख्याको लिये हुए है, अव दूसरी उन प्रतियोंको भी लीजिये जिनमें ग्रंथकी श्लोकसंख्या कुछ न्यूनाधिकरूपसे पाई जाती है।

अधिक पद्योंवाली प्रतियाँ।

ग्रंथकी हस्तलिखित प्रतियोंमें, यद्यपि, ऐसी कोई भी उल्लेख-योग्य प्रति अभी तक हमारे देखनेमें नहीं आई जिसमें श्लोकोंकी संख्या डेढ़सौसे कम हो; परंतु आराके 'जैनसिद्धान्तभवन'में ग्रंथकी ऐसी कितनी ही पुरानी प्रतियाँ ताड़पत्रोंपर जरूर मौजूद हैं जिनमें श्लोक-संख्या, परस्पर कमती वढ़ती होते हुए भी, डेढ़सौसे अधिक पाई जाती है। इन प्रतियोंमेंसे दो मूल प्रतियोंको जाँचने और साथ ही दो कनड़ी टीकावाली प्रतियोंपरसे उन्हें मिलानेका हमें अवसर मिला है, और उस जाँचसे कितनी ही ऐसी वातें मालूम हुई हैं जिन्हें ग्रंथके पद्योंकी जाँचके इस अवसर पर प्रकट कर देना जरूरी मालूम होता है—विना उनके

प्रकट किये यह जाँच अधूरी ही रहेगी। अतः पाठकोंकी अनुभववृद्धिके लिये यहाँ उस जाँचका कुछ सार दिया जाता है--

(१) भवनकी मुद्रित सूचीमें रत्नकरंडश्रावकाचारकी जिस प्रतिका नंबर ६३६ दिया है वह मूल प्रति है और उसमें ग्रंथके पद्योंकी संख्या १९० दी है-अर्थात्, ग्रंथकी इस सटीक प्रतिसे अथवा डेढ़सौ श्लोकोंवाली अन्यान्य मुद्रित अमुद्रित प्रतियोंसे उसमें ४० पद्य अधिक पाये जाते हैं। वे चालीस पद्य, अपने अपने स्थानकी सूचनाके साथ, इस प्रकार हैं—

'नाङ्गहीनमलं' नामके २१ वें पद्यके बाद—

सूर्यार्घ्यो ग्रहणस्नानं संक्रान्तौ द्रविणव्ययः।
संध्यासेवाग्निसंस्कारो (सत्कारो) देहगेहार्चनाविधिः ॥२१॥
गोपृष्ठान्तनमस्कारः तन्मूत्रस्य निषेवणं।
रत्नवाहनभूवृक्षशस्त्रशैलादिसेवनं ॥ २२ ॥

'न सम्यक्त्वसमं' नामके ३४ वें पद्यके बाद—

दुर्गतावायुषो बंधात्सम्यक्त्वं यस्य जायते।
गतिच्छेदो न तस्यास्ति तथाप्यल्पतरास्थितिः ॥ ३८ ॥

'अष्टगुण' नामके ३७ वें पद्यके बाद—

उक्तं च—अणिमा महिमा लघिमागरिमान्तर्धानकामरूपित्वं।
प्राप्ति प्राकाम्यवशित्वेशित्वाप्रतिहतत्वमिति वैक्रियिकाः ॥४१॥

'नवनिधि' नामके ३८ वें पद्यके बाद—

उक्तं च त्रयं—रक्षितयक्षसहस्रकालमहाकालपाण्डुमाणवशंख—
नैसर्पपद्मपिंगलनानारत्नाश्च नवनिधयः ॥४३॥
ऋतुयोग्यवस्तुभाजनधान्यायुधतूर्यहर्म्यवस्त्राणि।
आभरणरत्ननिकरान् क्रमेण निधयः प्रयच्छंति ॥४४॥
चक्रं छत्रमसिर्दण्डो मणिश्चर्म च काकिणी।
गृहसेनापती तक्षपुरोधाश्वगजस्त्रियः ॥४५॥

'प्राणातिपात' नामके ५२ वें पद्यके बाद—

स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा कषायवान्।
पूर्वं प्राण्यंतराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः ॥ ६० ॥

'अतिवाहना' नामके ६२ वें पद्यके वाद—

वधादसत्याच्चौर्याच्च कामाद्ग्रंथान्निवर्तनं।
पंचकाणुव्रतं रात्र्यभुक्तिः षष्ठमणुव्रतम् ॥ ७१ ॥

अह्नोमुखेऽवसाने च यो द्वे द्वे घटिके त्यजन्।
निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम् ॥ ७२ ॥

मौनं भोजनवेलायां ज्ञानस्य विनयो भवेत्।
रक्षणं चाभिमानस्येत्युद्दिशंति मुनीश्वराः ॥ ७२ ॥

हदनं मूत्रणं स्नानं पूजनं परमेष्ठिनां।
भोजनं सुरतं स्तोत्रं कुर्यान्मौनसमन्वितः ॥ ७४ ॥

मांसरक्तार्द्रचर्मास्थिपूयदर्शनतस्त्यजेत्।
मृतांगिवीक्षणादन्नं प्रत्याख्यानान्नसेवनात् ॥ ७५ ॥

मातंगश्वपचादीनां दर्शने तद्वचः श्रुतौ।
भोजनं परिहर्तव्यं मलमूत्रादिदर्शने ॥ ७६ ॥

'मद्यमांस' नामके ६६ वें पद्यके वाद—

मांसाशिषु दया नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु।
धर्मभावो न जीवेषु मधूदुम्बरसेविषु ॥ ८१ ॥

'अल्पफल' नामके ८५ वें पद्यके वाद—

स्थूलाः सूक्ष्मास्तथा जीवाः सन्त्युदुम्बरमध्यगाः।
तन्निमित्तं जिनोद्दिष्टं पंचोदुम्बरवर्जनं ॥ १०१ ॥

रससंपृक्तफलं यो दशति त्रसतनुरसैश्चसंमिश्रम्।
तस्य च मांसनिवृत्तिर्विफला खलु भवति पुरुषस्य ॥ १०२ ॥

चिल्वालावुफले त्रिभुवनविजयी शिलीदुकं (?) न सेवेत।
आपंचदशतिथिभ्यः पयोऽपि वत्सोद्भवात्समारभ्य ॥ १०२ ॥

गालितं शुद्धमप्यम्बु संमूर्छति मुहूर्तकः।
अहोरात्रं तदुष्णं स्यात्कांजिकं दूरवह्निकं ॥ १०४

हतिप्रायेषु पात्रेषु तोयं स्नेहं तु नाश्रयेत्।
नवनीतं न धर्तव्यंमूर्ध्वं तु प्रहरार्धतः ॥ १०५ ॥

'चतुराहारविसर्जन' नामके १०९ वें पद्यके बाद—

स प्रोषधोपवासस्तूत्तममध्यमजघन्यतास्त्रिविधः ।
चतुराहारविसर्जनजलसहिता चाम्लभेदः स्यात् ॥ १३० ॥

'नवपुण्यैः' नामके पद्य नं० ११३ के बाद—

खंडनी पेषणी चुल्ही उदकुंभी प्रमार्जिनी ।
पंचसूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति ॥ १३५ ॥
स्थापनमुच्चैः स्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामश्च ।
वाक्कायहृदयशुद्धय एषणशुद्धिश्च नवविधं पुण्यं ॥ १३६ ॥
श्रद्धाशक्तिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता दया क्षान्तिः ।
यस्यैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति ॥ १३७ ॥

'आहारौषध' नामके पद्य नं० ११७ के बाद—

उक्तं च त्रयम्—भैषज्यदानतो जीवो बलवान् रोगवर्जितः ।
सल्लक्षणः सुवज्रांगः तपसा मोक्षं व्रजेदसौ ॥ १४२ ॥

'श्रावकपदानि' नामके पद्य नं० १३६ के बाद—

दर्शनिकव्रतिकावपि सामायिकः प्रोषधोपवासश्च (सो च) ॥
सचित्तरात्रिभक्तव्रतनिरतौ ब्रह्मचारी च ॥ १६२ ॥
आरंभाद्विनिवृत्तः परिग्रहादनुमतेः ततोद्दिष्टात् ।
इत्येकादशनिलया जिनोदिताः श्रावकाः क्रमशः ॥ १६३ ॥

'सम्यग्दर्शनशुद्धः' नामके पद्य नं० १३७ के बाद—

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट् ।
अष्टौ शंकादयश्चेति दृग्दोषाः पंचविंशतिः ॥ १६५ ॥
द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या पापर्द्धिचौर्यां परदारसेवाः ।
एतानि सप्तव्यसनानि लोके पापाधिके पुंसि कराः भवंति ॥ १६६ ॥
अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षन्यग्रोधादिफलान्यपि ।
त्यजेन्मधुविशुद्धयासौ दर्शनिक इति स्मृतः ॥ १६७ ॥

'मूलफल' नामके पद्य नं० १४१ के बाद—

येन सचित्तं त्यक्तं दुर्जयजिह्वा विनिर्जिता तेन ।
जीवदया तेन कृता जिनवचनं पालितं तेन ॥ १७२ ॥

'अन्नं पानं' नामके पद्य नं० १४२ के वाद—

योनिशि भुक्तिं मुंचति तेनानशनं कृतं च षण्मासं।
संवत्सरस्य मध्ये निर्दिष्टं मुनिवरेणेति ॥ १७४ ॥

'मलवीजं' नामके पद्य नं० १४३ के वाद—

यो न च याति विकारं युवतिजनकटाक्षवाणविद्धोपि।
सत्वेन (व) शूरशूरो रणशूरो नो भवेच्छूरः ॥ १७६ ॥

'वाह्येषु दशसु' नामके पद्य नं० १४५ के वाद—

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदं।
यानं शय्यासनं कुप्यं भांडं चेति वहिर्दश ॥ १७९ ॥

मिथ्यात्ववेदहास्यादिषट्कषायचतुष्टयं।
रागद्वेषाश्च संगा स्युरंतरंगचतुर्दशः ॥ १८० ॥

वाह्यग्रंथविहीना दरिद्रमनुजाः स्वपापतः सन्ति।
पुनरभ्यंतरसंगत्यागी लोकेऽतिदुर्लभो जीवः ॥ १८१ ॥

'गृहतो मुनिवन' नामके पद्य नं० १४७ के वाद—

एकादशके स्थाने चोत्कृष्टश्रावको भवेद्द्विविधः।
वस्त्रैकधरः प्रथमः कौपीनपरिग्रहोऽन्यस्तु ॥ १८४ ॥

कौपीनोऽसौ रात्रिप्रतिमायोगं करोति नियमेन।
लोचं पिंछं धृत्वा भुंक्ते ह्युपविश्य पाणिपुटे ॥ १८५ ॥

वीरचर्या च सूर्यप्रतिमा त्रैकालयोगनियमश्च।
सिद्धान्तरहस्यादिस्वध्ययनं नास्तिदेशविरतानां ॥ १८६ ॥

आद्यास्तु षड्जघन्याः स्युर्मध्यमास्तदनु त्रयं।
शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने ॥ १८७ ॥

(२) भवनकी दूसरी मूलप्रतिमें, जिसका नंवर ६२१ है, इन उपर्युक्त चालीस पद्योंमेंसे ४३,४४,४५,६० और ८१ नंवरवाले पाँच पद्य तो विलकुल नहीं हैं; शेष पैंतीस पद्योंमें भी २२,२३,२७,१२५,१२६,१२७,१६२,१६३, १६५,१६६,१६७,१८४,१८५,१८६,१८७ नंवरवाले पंद्रह पद्योंको मूलग्रंथका अंग नहीं वनाया गया—उन्हें टिप्पणीके तौरपर इधर उधर हाशियेपर दिया है और उनमेंसे 'खंडनी पेषणी' आदि तीन पद्योंके साथ 'उक्तं च' तथा 'एका-

दशके' आदि चार पद्योंके साथ 'उक्तं च चतुष्टयं' ये शब्द भी लगे हुए हैं। ४१, १७४ और १७६ नंबरवाले तीन पद्योंको ग्रंथका अंग बनाकर पीछेसे कोष्टकके भीतर कर दिया है और उसके द्वारा यह सूचित किया गया है के ये पद्य मूलग्रंथके पद्य नहीं हैं—भूलसे मध्यमें लिखे गये हैं—उन्हें टिप्पणीके तौरपर हाशियेपर लिखना चाहिये था। इस तरहपर अठारह पद्योंको ग्रंथका अंग नहीं बनाया गया है। बाकीके सतरह पद्योंमेंसे, जिन्हें ग्रंथका अंग बनाया गया है, ७१ से ७६, १०१ से १०५ और १७२ नंबरवाले बारह पद्योंको 'उक्तं च' 'उक्तं च पंचकं' इत्यादि रूपसे दिया है और उसके द्वारा प्रथम मूलप्रतिके आशयसे भिन्न यह सूचित किया गया है कि ये स्वामी समंतभद्रसे भी पहलेके—दूसरे आचार्योंके—पद्य हैं और उन्हें समन्तभद्रने अपने मूलग्रंथमें उद्धृत किया है। हाँ, पहली प्रतिमें 'अभयज्ञदानतो' नामके जिस पद्य नं० १४२ को 'उक्तं च त्रयं' शब्दोंके साथ दिया है वह पद्य यहाँ उक्त शब्दोंके संसर्गसे रहित पाया जाता है और इस लिये पहली प्रतिमें उक्त शब्दोंके द्वारा जो यह सूचित होता था कि अगले 'श्रीषेण' तथा 'देवाधिदेव' नामके वे पद्य भी 'उक्तं च' समझने चाहिये जो डेढ़सौ श्लोकवाली प्रतियोंमें पाये जाते हैं वह बात इस प्रतिसे निकल जाती है। एक विशेषता और भी इस प्रतिमें देखी जाती है और वह यह है कि 'अतिवाहना' नामके ६२ वें पद्यके बाद जिन छह श्लोकोंका उल्लेख पहली प्रतिमें पाया जाता है उनका वह उल्लेख इस प्रतिमें उक्त स्थानपर नहीं है। वहाँ पर उन पद्योंमेंसे सिर्फ 'अहोमुखे' नामके ७२ वें पद्यका ही उल्लेख है—और उसे भी देकर फिर कोष्टकमें कर दिया है। उन छहों पद्योंको इस प्रतिमें 'मद्यमांस' नामके ६६ वें पद्यके बाद 'उक्तं च' रूपसे दिया है और उनके बाद 'पंचाणुव्रत' नामके ६३ वें मूल पद्यको फिरसे उद्धृत किया है।

(३) भवनकी तीसरी ६४१ नम्बरवाली प्रति कनड़ीटीकासहित है। इसमें पहली मूल प्रतिवाले वे सब चालीस पद्य, जो ऊपर उद्धृत किये गये हैं, अपने अपने पूर्वसूचित स्थानपर और उसी क्रमको लिये हुए, टीकाके अंगरूपसे पाये जाते हैं। सिर्फ 'द्यूतं च मांसं' नामके पद्य नं० १६६ की जगह टीकामें उसी आशयका यह पद्य दिया हुआ है—

द्यूतं मांसं सुरा वैश्या पापार्द्धि परदारता।
स्तेयेन सह सप्तेति व्यसनानि विदूरयेत्॥

इसके सिवाय इतनी विशेषता और भी है कि पहली मूल प्रतिमें सिर्फ पाँच पद्योंके साथ ही ' उक्तं च, ' ' उक्तं च त्रयं ' शब्दोंका संयोग था। इस प्रतिमें उन पद्योंके अतिरिक्त दूसरे और भी २१ पद्योंके साथ वैसे शब्दोंका संयोग पाया जाता है-अर्थात्, नं० १०१ से १०५ तकके पांच पद्योंको ' उक्तं च पंचकं, ' १३५* से १३७ नंबरवाले तीन पद्योंको ' उक्तं च, ' १६५ से १६७ नंबरवाले तीन पद्योंको ' उक्तं च त्रयं ' १७२, १७४, १७६ नंबरवाले पद्योंको जुदा जुदा ' उक्तं च, ' १७९ से १८१ नंबरवाले तीन पद्योंको ' उक्तं च त्रयं' और १८४ से १८७ नंबरवाले चार पद्योंको ' उक्तं च चतुष्टयं ' शब्दोंके साथ उद्धृत किया है। साथ ही, इस टीका तथा दूसरी टीकामें भी ' भैषज्यदानतो ' नामके पद्यके साथ ' श्रीषेण ' और ' देवाधिदेव ' नामके पद्योंको भी 'उक्तं च त्रयं' रूपसे एक साथ उद्धृत किया है। भाऊ बावाजी लट्ठे द्वारा प्रकाशित रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी प्रस्तावनादिसे ऐसा मालूम होता है कि कनड़ी लिपिकी २०० श्लोकोंवाली प्रतिमें ' भैषज्यदानतो ' नामक पद्यके बाद यह पद्य भी दिया हुआ है—

शास्त्रदानफलेनात्मा कलासु सकलास्वपि।
परिज्ञाता भवेत्पश्चात्केवलज्ञानभाजनं ॥ १

संभव है कि श्रीषण' नामक पद्यको साथ लेकर ये तीनों पद्य ही 'उक्तं च त्रयं' शब्दोंके वाच्य हों, और 'शास्त्रदान' नामका यह पद्य कनड़ी टीकाकी इन प्रतियोंमें छूट गया हो।

(४) भवनकी चौथी ६२९ नंबरवाली प्रति भी कनड़ीटीकासहित है। इसकी हालत प्रायः तीसरी प्रति जैसी है, विशेषता सिर्फ इतनी ही यहाँ उल्लेख योग्य है कि इसमें १७४ नंबरवाले पद्यके साथ ' उक्तं च ' शब्द नहीं दिये और १७२ नंबरवाले पद्यके साथ ' उक्तं च ' की जगह 'उक्तं च त्रयं' शब्दोंका प्रयोग किया है परंतु उनके बाद श्लोक वही एक दिया है। इसके सिवाय इस टीकामें ६० नंबरवाले पद्यके ' उक्तं च ' ७१ से ७६ नंबरवाले छह पद्योंको ' उक्तं च षट्कं ' और १६२, १६३ नंबरवाले दो पद्योंको ' उक्तं च द्वयं ' लिखा है। और इन ९ पद्योंका यह उल्लेख तीसरी प्रतिसे इस प्रतिमें अधिक है।

---

*१३५ और १३६ नंबरवाले पद्य रत्नकरंडकी इस संस्कृतटीकामें भी 'तदुक्तं' आदिरूपसे उद्धृत किये गये हैं।

(५) चारों प्रतियोंके इस परिचयसे * साफ जाहिर है कि उक्त दोनों मूल प्रतियोंमें परस्पर कितनी विभिन्नता है। एक प्रतिमें जो श्लोक टिप्पणादिके तौर पर दिये हुए हैं, दूसरीमें वे ही श्लोक मूल रूपसे पाये जाते हैं। इसी तरह दोनों टीकाओंमें जिन पद्योंको 'उक्तं च' आदिरूपसे दूसरे ग्रंथोंसे उद्धृत करके टीकाका एक अंग बनाया गया था उन्हें उक्त मूल प्रतियों अथवा उनसे पहली प्रतियोंके लेखकोंने मूलका ही अंग बना डाला है। यद्यपि, इस परिचयपरसे, किसीको यह बतलानेकी ऐसी कुछ जरूरत नहीं रहती कि पहली मूल प्रतिमें जो ४० पद्य बढ़ हुए हैं और दूसरी मूलप्रतिमें जिन १७ पद्योंको मूलका अंग बनाया गया है वे सब मूल ग्रंथके पद्य नहीं हैं; बल्कि टीका-टिप्पणियोंके ही अंग हैं—विज्ञ पाठक ग्रंथमें उनकी स्थिति, पूर्वापर पद्योंके साथ उनके सम्बंध, टीकाटिप्पणियोंमें उनकी उपलब्धि, ग्रंथके साहित्यसंदर्भ, ग्रंथकी प्रतिपादन शैली, समंतभद्रके मूल ग्रंथोंकी प्रकृति ‡ और दूसरे ग्रंथोंके पद्यादि विषयक अपने अनुभवपरसे सहजहीमें इस नतीजेको पहुँच सकते हैं कि वे सब दूसरे ग्रंथोंके पद्य हैं और इन प्रतियों तथा इन्हीं जैसी दूसरी प्रतियोंमें किसी तरहपर प्रक्षिप्त हो गये हैं—फिर भी साधारण पाठकोंके संतोषके लिये, यहाँपर कुछ पद्योंके सम्बंधमें, नमूनेके तौरपर, यह प्रकट कर देना अनुचित न होगा कि वे कौनसे ग्रंथोंके पद्य हैं और इस ग्रंथमें उनकी क्या स्थिति है। अतः नीचे उसीका यत्किंचित् प्रदर्शन किया जाता है—

क–'सूर्यार्घो ग्रहणस्नानं,' 'गोपृष्ठान्तनमस्कारः' नामके ये दो पद्य, यशस्तिलक ग्रंथके छठे आश्वासके पद्य हैं और उसके चतुर्थकल्पमें पाये जाते हैं। दूसरी मूल प्रतिमें, यद्यपि, इन्हें टिप्पणोके तौर पर नीचे दिया है तो भी पहली मूल प्रतिमें 'आपगासागरस्नानं' नामके पद्यसे पहले देकर यह सूचित किया है कि ये लोकमूढताके द्योतक पद्य हैं और, इस तरह पर, ग्रंथकर्ताने लोकमूढताके तीन पद्य दिये हैं। परंतु ऐसा नहीं है। ग्रंथकार महोदयने शेष दो मूढताओंको

---

* यह परिचय उस नोट परसे दिया गया है जो जैनसिद्धान्तभवन आराका निरीक्षण करते हुए हमने पं० शांतिराजजीकी सहायतासे तय्यार किया था।

‡ दोनों मूल प्रतियोंमें कुछ पद्योंको जो 'उक्तं च' रूपसे ग्रंथका अंग बनाया गया है वह स्वामी समंतभद्रके मूल ग्रंथोंकी प्रकृतिके विरुद्ध जान पड़ता है।

तरह 'लोकमूढता'का भी वर्णन एक ही पद्यमें किया है। १३ वीं शताव्दीके विद्वान् पं० आशाधरजीने भी' अपने 'अनगारधर्मामृत'की टीकामें स्वामिसमंतभद्रके नामसे—'स्वामिसूक्तानि' पदके साथ—मूढत्रयके द्योतक उन्हीं तीन पद्योंको उद्धृत किया है जो इस सटीक ग्रंथमें पाये जाते हैं। इसके सिवाय उक्त दोनों पद्य खालिस 'लोकमूढता'के द्योतक हैं भी नहीं। और न उन्हें वैसा सूचित किया गया है। यशस्तिलकमें उनके मध्यवर्ती यह पद्य और दिया है—

नदीनदसमुद्रेषु मज्जनं धर्मचेतसां।
तरुस्तूपाग्रभक्तानां वन्दनं भृगुसंश्रयः।

और इस तरहपर तीनों पद्योंमें मूढताओंके कथनका कुछ समुच्चय किया गया है, पृथक् २ स्वरूप किसीका नहीं दिया गया—जैसा कि उनके वादके निम्न पद्यसे प्रकट है—

समयान्तरपाषण्डवेदलोकसमाश्रयम्।
एवमादि विमूढानां ज्ञेयं मूढमनेकधा।

इस सब कथनसे यह विलकुल स्पष्ट हो जाता है कि उक्त दोनों पद्य मूलग्रंथके नहीं बल्कि यशस्तिलकके हैं।

ख—'मूढत्रयं' नामका १६५ नंवरवाला पद्य भी यशस्तिलकके छठे आश्वास (कल्प नं० २१) का पद्य है। वह साफ तौरसे 'सम्यग्दर्शनशुद्धः' पदकी टीका टिप्पणीके लिये उद्धृत किया हुआ ही जान पड़ता है—दूसरी प्रतिकी टिप्पणीमें वह दिया भी है। मूलग्रंथके संदर्भके साथ उसका कोई मेल नहीं—वह वहाँ निरा अनावश्यक जान पड़ता है। स्वामिसमंतभद्रने सूत्ररूपसे प्रत्येक प्रतिमाका स्वरूप एक एक पद्यमें ही दिया है।

इसी तरहपर, 'मांसाशिषु' और 'श्रद्धाशक्ति' नामके पद्य नं० ८१,१३७ भी यशस्तिलकके ही जान पड़ते हैं। वे क्रमशः उसके ७ वें, ८ वें आश्वासमें जरासे पाठभेदके * साथ पाये जाते हैं। मूलग्रंथके संदर्भके साथ इनका भी मेल

* पहले पद्यमें 'धर्मभावो न जीवेषु' की जगह 'आनृशंस्यं न मर्त्येषु' यह पाठ दिया है। और दूसरे पद्यमें 'शक्तिः' की जगह 'तुष्टिः,' 'दयाक्षान्ति'की जगह 'क्षमाशक्तिः' और 'यस्मैते' की जगह 'यत्रैते' ये पाठ दिये हैं जो वहुत साधारण हैं।

नहीं। पहले पद्यमें 'उदुम्बरसेवा'का उल्लेख, खास तौरसे खटकता है—ये पद्य भी टीका टिप्पणीके लिये ही उद्धृत किये हुए जान पड़ते हैं। पहला पद्य दूसरी प्रतिमें है भी नहीं और दूसरा उसकी टिप्पणीमें ही पाया जाता है। इससे भी ये मूल पद्य मालूम नहीं होते।

ग—'अहोमुखेवसाने' नामका ७२ नंबरवाला पद्य हेमचंद्राचार्यके 'योग-शास्त्र'का पद्य है और उसके तीसरे प्रकाशमें नंवर ६३ पर पाया जाता है। यहाँ मूलग्रंथकी पद्धति और उसके प्रतिपाद्य विषयके साथ उसका कोई सम्बंध नहीं।

घ—'वधादसत्यात्' नामका ७१ वाँ पद्य चामुंडरायके 'चारित्रसार' ग्रन्थका पद्य है और वहींसे लिया हुआ जान पड़ता है। इसमें जिन पंचाणुव्रतोंका उल्लेख है उनका वह उल्लेख इससे पहले, मूल ग्रन्थके ५२ वें पद्यमें आ चुका है। स्वामी समंतभद्रकी प्रतिपादनशैली इस प्रकार व्यर्थकी पुनरुक्तियोंको लिये हुए नहीं होती, इसके सिवाय ५१ वें पद्यमें अणुव्रतोंकी संख्या पाँच दी है और यहाँ इस पद्यमें 'रात्र्यभुक्ति' को भी छठा अणुव्रत बतलाया है, इससे यह पद्य ग्रंथके साथ बिलकुल असम्बद्ध मालूम होता है।

इसी तरह पर 'दर्शनिकव्रतकावपि,' 'आरंभाद्विनिवृत्तः' और 'आद्यास्तु षट् जघन्याः' नामके तीनों पद्य भी चारित्रसार ग्रंथसे लिये हुए मालूम होते हैं और उसमें यथास्थान पाये जाते हैं। दूसरी मूल प्रतिमें भी इन्हें टिप्पणीके तौर पर ही उद्धृत किया है और टीकामें तो 'उक्तं च' रूपसे दिया ही है। मूल ग्रंथके संदर्भके साथ ये अनावश्यक प्रतीत होते हैं।

ङ—'मौनं भोजनवेलायां', 'मांसरक्तार्द्रचर्मास्थि', 'स्थूलाः सूक्ष्मास्तथा जीवाः', नामके ७३, ७५ और १०१ नम्बरवाले ये तीनों पद्य पूज्यपादकृत उस उपासकाचारके पद्य हैं, जिसकी जाँचका लेख हमने जैनहितैषी भाग १५ के १२ वें अंकमें प्रकाशित कराया था। उसमें ये पद्य क्रमशः नं० २९, २८ तथा ११ पर दर्ज हैं। यहाँ ग्रंथके साहित्य, संदर्भादिसे इनका कोई मेल नहीं और ये खासे असम्बद्ध मालूम होते हैं।

ऐसी ही हालत दूसरे पद्योंकी है और वे कदापि मूल ग्रंथके अंग नहीं हो सकते। उन्हें भी उक्त पद्योंकी तरह, किसी समय किसी व्यक्तिने, अपनी याद-दाश्त आदिके लिये, टीका टिप्पणीके तौर पर उद्धृत किया है और बादको, उन टीका टिप्पणवाली प्रतियों परसे मूल ग्रंथकी नकल उतारते समय, लेख-

कोंकी असावधानी और नासमझीसे वे मूल ग्रंथका ही एक बेढंगा अथवा बेडौल अंग बना दिये गये हैं। सच है 'मुर्दा बदस्त जिन्दा ख्वाह गाड़ो या कि फूँको।' शास्त्र हमारे कुछ कह नहीं सकते, उन्हें कोई तोड़ो या मरोड़ो, उनकी कलेवरवृद्धि करो अथवा उन्हें तनुक्षीण बनाओ, यह सब लेखकोंके हाथका खेल और उन्हींकी कर्तूत है!! इन बुद्धू अथवा नासमझ लेखकोंकी बदौलत ग्रंथोंकी कितनी मिट्टी ख़राब हुई है उसका अनुमान तक भी नहीं हो सकता। ग्रंथोंकी इस खराबीसे कितनी ही गलतफहमियाँ फैल चुकी हैं और यथार्थ वस्तुस्थितिको मालूम करनेमें बड़ी ही दिक्कतें आ रही हैं। श्रुतसागरसूरिको भी शायद ग्रंथकी कोई ऐसी ही प्रति उपलब्ध हुई है और उन्होंने उस पर 'एकादशके' आदि उन चार पद्योंको स्वामी समंतभद्र द्वारा ही निर्मित समझ लिया है जो 'गृहतो मुनिवनमित्वा' नामके १४७ वें पद्यके बाद उक्त पहली मूल प्रतिमें पाये जाते हैं। यही वजह है कि उन्होंने 'षट्प्राभृत' की टीकामें* उनका महाकवि समंतभद्रके नामके साथ उल्लेख किया है और उनके आदिमें लिखा है 'उक्तं च समन्तभद्रेण महाकविना'। अन्यथा, वे समन्तभद्रके किसी भी ग्रंथमें नहीं पाये जाते और न अपने साहित्य परसे ही वे इस बातको सूचित करते हैं कि उनके रचयिता स्वामी समंतभद्र जैसे कोई प्रौढ विद्वान् और महाकवि आचार्य हैं। अवश्य ही वे दूसरे किसी ग्रंथ अथवा ग्रंथोंके पद्य हैं और इसीसे दूसरी मूल प्रतिके टिप्पणमें और दोनों कनड़ी टीकाओंमें उन्हें 'उक्तं च चतुष्टयं' शब्दोंके साथ उद्धृत किया है। एक पद्य तो उनमेंसे चारित्रसार ग्रंथका ऊपर बतलाया भी जा चुका है।

यहाँ पर यह प्रगट करना शायद कुछ अप्रासंगिक न होगा कि जो लोग अपनेको जिनवाणी माताके भक्त समझते हैं अथवा उसकी भक्तिका दम भरते हैं उनके लिये यह बड़ा ही लज्जाका विषय है जो उनके शास्त्रभंडारोंमें उन्हींके धर्मग्रंथोंकी ऐसी खराब हालत पाई जाती है। माता उनके सामने लुटती रहे, उस पर अत्याचार होता रहे, उसके अंग विकृत अथवा छिन्न भिन्न किये जाते रहें, कोई उसका सतीत्व भी हरण करता रहे और वे उसकी कुछ भी पर्वाह न करते हुए मौनावलम्बी रहें! क्या इसीका नाम मातृभक्ति है? इसका नाम कदापि मातृभक्ति नहीं हो सकता। पुत्रोंका ऐसा आचरण उनके लिये महान् कलंक है और

* देखो, सूत्रप्राभृत की गाथा नंबर २१ की टीका।

उन्हें धिक्कारका पात्र बनाता है। उन्हें माताकी सच्ची खबरदारी और उसकी सच्ची रक्षाका प्रबंध करना चाहिये—ऐसा विशाल आयोजन करना चाहिये जिससे जिनवाणीका प्रत्येक अंग—प्रत्येक धर्मग्रंथ अपनी अविकल स्थितिमें—अपने उस असली स्वरूपमें जिसमें किसी आचार्य महोदयने उसे जन्म दिया है—उपलब्ध हो सके। ऐसा होने पर ही वे अपना मुख उज्ज्वल कर सकेंगे और अपनेको जिनवाणी माताका भक्त कहला सकेंगे। अस्तु।

जाँचका सारांश।

इस लम्बी चौड़ी जाँचका सारांश सिर्फ इतना ही है कि—

१–ग्रंथकी दो प्रकारकी प्रतियाँ पाई जाती हैं–एक तो वे जो इस सटीक प्रतिकी तरह डेढ़सौ श्लोकसंख्याको लिये हुए हैं और दूसरी वे जिन्हें ऊपर 'अधिक पद्यों-वाली प्रतियाँ' सूचित किया है। तीसरी प्रकारकी ऐसी कोई उल्लेखयोग्य प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं हुई जिसमें पद्योंकी संख्या डेढ़सौसे कम हो। परंतु ऐसी प्रतियोंके उपलब्ध होनेकी संभावना बहुत कुछ है। उनकी तलाशका अभी-तक कोई यथेष्ट प्रयत्न भी नहीं हुआ जिसके होनेकी जरूरत है।

२–ग्रंथकी डेढ़सौ श्लोकोंवाली इस प्रतिके जिन पद्योंको क्षेपक बतलाया जाता है अथवा जिन पर क्षेपक होनेका संदेह किया जाता है उनमेंसे 'चतुराहार-विसर्जन' और दृष्टान्तोंवाले पद्योंको छोड़कर शेष पद्योंका क्षेपक होना युक्ति-युक्त मालूम नहीं होता और इसलिये उनके विषयका संदेह प्रायः निर्मूल जान पड़ता है।

३–ग्रंथमें 'चतुराहारविसर्जन' नामका पद्य और दृष्टांतोंवाले छहों पद्य, ऐसे सात पद्य बहुत ही संदिग्ध स्थितिमें पाये जाते हैं। उन्हें ग्रंथका अंग मानने और स्वामी समंतभद्रके पद्य स्वीकारनेमें कोई युक्तियुक्त कारण मालूम नहीं देता। वे खुशीसे उस कसौटी (कारणकलाप) के दूसरे तीसरे और पाँचवें भागोंमें आ जाते हैं जो क्षेपकोंकी जाँचके लिये इस प्रकरणके शुरूमें दी गई हैं। परंतु इन पद्योंके क्षेपक होनेकी हालतमें यह जरूर मानना पड़ेगा कि उन्हें ग्रंथमें प्रक्षिप्त हुए बहुत समय बीत चुका है–वे इस टीकासे पहले ही ग्रंथमें प्रविष्ट हो चुके हैं–और इसलिये ग्रन्थकी ऐसी प्राचीन तथा असंदिग्ध प्रतियोंको खोज निकालनेकी खास जरूरत है जो इस टीकासे पहलेकी—विक्रमकी १३ वीं शताब्दीसे पहलेकी—लिखी हुई हों अथवा जो खास तौर पर प्रकृत

विषय पर अच्छा प्रकाश डालनेके लिये समर्थ हो सकें। साथ ही, इस वातकी भी तलाश होनी चाहिये कि १३ वीं शताब्दीसे पहलेके बने हुए कौन कौनसे ग्रंथोंमें किस रूपसे ये पद्य पाये जाते हैं और इस संस्कृत टीकासे पहलेकी बनी हुई कोई दूसरी टीका भी इस ग्रंथ पर उपलब्ध होती है या नहीं। ऐसा होने पर ये पद्य तथा दूसरे पद्य भी और ज्यादा रोशनीमें आजायँगे और मामला वहुत कुछ स्पष्ट हो जायगा।

४—अधिक पद्योंवाली प्रतियोंमें जो पद्य अधिक पाये जाते हैं वे सब क्षेपक हैं। उन पर क्षेपकत्वके प्रायः सभी कारण चारितार्थ होते हैं और ग्रंथमें उनकी स्थिति वहुत ही आपत्तिके योग्य पाई जाती है। वे वहुत साफ तौर पर दूसरे ग्रंथोंसे टीका टिप्पणीके तौर पर उद्धृत किये हुए और वादको लेखकोंकी कृपासे ग्रंथका अंग वना दिये गये मालूम होते हैं। ऐसे पद्योंको ग्रंथका अंग मानना उसे वेढंगा और वेडौल वना देना है। इस प्रकारकी प्रतियाँ पद्योंकी एक संख्याको लिये हुए नहीं हैं और यह वात उनके क्षेपकत्वको और भी ज्यादा पुष्ट करती है।

आशा है, इस जाँचके लिये जो इतना परिश्रम किया गया है और प्रस्तावनाका इतना स्थान रोका गया है वह व्यर्थ न जायगा। विज्ञ पाठक इसके द्वारा अनेक स्थितियों, परिस्थितियों और घटनाओंका अनुभव कर जरूर अच्छा लाभ उठाएँगे, और यथार्थ वस्तुस्थितिको समझनेमें वहुत कुछ कृतकार्य होंगे। साथ ही, जिनवाणी माताके भक्तोंसे भी यह आशा की जाती है कि वे, धर्मग्रंथोंकी ओर अपनी इस हानिकर लापरवाहीको और अधिक दिनों तक जारी न रखकर शीघ्र ही माताकी सच्ची रक्षा, सच्ची खवरगीरी और उसके सच्चे उद्धारका कोई ठोस प्रयत्न करेंगे जिससे प्रत्येक धर्मग्रंथ अपनी अविकल स्थितिमें सर्व साधारणको उपलब्ध हो सके।

टीका और टीकाकार प्रभाचंद्र।

इस ग्रंथपर, 'रत्नकरण्डक–विषमपदव्याख्यान' नामके एक संस्कृतटिप्पणको छोड़कर जो आराके जैनसिद्धान्तभवनमें मौजूद है और जिसपरसे उसके कर्त्ताका कोई नामादिक मालूम नहीं होता, संस्कृतकी * सिर्फ यही एक टीका

---

* कनड़ी भाषामें भी इस ग्रंथपर कुछ टीकाएँ उपलब्ध हैं परंतु उनके रचयिताओं आदिका कुछ हाल मालूम नहीं हो सका। तामिल भाषाका 'अरुंगल-

अभीतक उपलब्ध हुई है जो इस ग्रंथके साथ प्रकाशित हो रही है। इसी टीकाकी बावत, पिछले पृष्ठोंमें, हम बराबर कुछ न कुछ उल्लेख करते आये हैं और उसपरसे टीकाका कितना ही परिचय मिल जाता है। हमारी इच्छा थी कि इस टीकापर एक विस्तृत आलोचना लिख दी जाती परंतु समयके अभाव और लेखके अधिक बढ़ जानेके कारण वह कार्यमें परिणत नहीं हो सकी। यहाँ पर टीकाके संबंधमें, सिर्फ इतना ही निवेदन कर देना उचित मालूम होता है कि यह टीका प्रायः साधारण है—ग्रंथके मर्मको अच्छी तरहसे उद्घाटन करनेके लिये पर्याप्त नहीं है और न इसमें गृहस्थधर्मके तत्त्वोंका कोई अच्छा विवेचन ही पाया जाता है—सामान्य रूपसे ग्रंथके प्रायः शब्दानुवादको ही लिये हुए है। कहीं कहीं तो जरूरी पदोंके शब्दानुवादको भी छोड़ दिया है; जैसे 'भयाशास्नेह' नामके पद्यकी टीकामें 'कुदेवागमलिंगिनां' पदका कोई अनुवाद अथवा स्पष्टीकरण नहीं दिया गया जिसके देनेकी खास जरूरत थी, और कितने ही पदोंमें आए हुए 'आदि' शब्दकी कोई व्याख्या नहीं की गई जिससे यह मालूम होता कि वहाँ उससे क्या कुछ अभिप्रेत है। इसके सिवाय, टीकामें ये तीन खास विशेषताएँ पाई जाती हैं—

प्रथम तो यह कि, इसमें मूल ग्रंथको सातकी जगह पाँच परिच्छेदोंमें विभाजित किया है—अर्थात्, 'गुणव्रत' और 'प्रतिमा' वाले अधिकारोंको अलग अलग परिच्छेदोंमें न रखकर उन्हें क्रमशः 'अणुव्रत' और 'सल्लेखना' नामके परिच्छेदोंमें शामिल कर दिया हैं। मालूम नहीं, यह लेखकोंकी कृपाका फल है अथवा टीकाकारका ही ऐसा विधान है। जहाँतक हम समझते हैं, विषय-विभागकी दृष्टिसे, ग्रंथके सात परिच्छेद ही ठीक मालूम होते हैं और वे ही ग्रंथकी मूल प्रतियोंमें पाये जाते हैं *। यदि सात परिच्छेद नहीं रखने थे तो फिर चार

छेप्पु' (रत्नकरण्डक) ग्रंथ इस ग्रंथको सामने रखकर ही बनाया गया मालूम होता है और कुछ अपवादोंको छोड़कर इसीका ही प्रायः भावानुवाद अथवा सारांश जान पड़ता है। (देखो, अँग्रेजी जैनगजटमें प्रकाशित उसका अंग्रेजी अनुवाद।) परंतु वह कब बना और किसने बनाया, इसका कोई पता नहीं चलता और न उसे तामिल भाषाकी टीका ही कह सकते हैं। हिन्दीमें पं० सदासुखजीका भाष्य (स्वतंत्र व्याख्यान) प्रसिद्ध ही है।

* देखो 'सनातनजैनग्रंथमाला' के प्रथम गुच्छकमें प्रकाशित रत्नकरण्डश्रावकाचार, जिसे निर्णयसागरप्रेस बम्बईने सन् १९०५ में प्रकाशित किया

होने चाहियें थे। गुणव्रतोंके अधिकारको तो, 'एवं पंचप्रकारमणुव्रतं प्रतिपाद्येदानीं त्रिःप्रकारं गुणव्रतं प्रतिपादयन्नाह' इस वाक्यके साथ, अणुव्रत-परिच्छेदमें शामिल कर देना परंतु शिक्षाव्रतोंके कथनको शामिल न करना क्या अर्थ रखता है, यह कुछ समझमें नहीं आता। इसीसे टीकाकी यह विशेषता हमें आपत्तिके योग्य जान पड़ती है।

दूसरी विशेषता यह कि, इसमें दृष्टान्तोंवाले छहों पद्योंको उदाहृत किया है—अर्थात्, उनकी तेईस कथाएं दी हैं। ये कथाएँ कितनी साधारण, श्रीहीन, निष्प्राण, तथा आपत्तिके योग्य हैं और उनमें क्या कुछ त्रुटियाँ पाई जाती हैं, इस विषयकी कुछ सूचनाएँ पिछले पृष्ठोंमें, 'संदिग्धपद्य' शीर्षकके नीचे, सातवीं आपत्तिका विचार करते हुए, दी जा चुकी हैं। वास्तवमें इन कथाओंकी त्रुटियोंको प्रदर्शित करनेके लिये एक अच्छा खासा निबंध लिखा जा सकता है, जिसकी यहाँ पर उपेक्षा की जाती है।

तीसरी विशेषता यह है कि, इस टीकामें श्रावकके ग्यारह पदोंको—प्रतिमाओं, श्रेणियों अथवा गुणस्थानोंको—सल्लेखनानुष्ठाता (समाधिमरण करनेवाले) श्रावकके ग्यारह भेद बतलाया है—अर्थात्, यह प्रतिपादन किया है कि जो श्रावक समाधिमरण करते हैं—सल्लेखनाव्रतका अनुष्ठान करते हैं—उन्हींके ये ग्यारह भेद हैं। यथा—

"साम्प्रतं योऽसौ सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकस्तस्य कतिप्रतिमा भवन्तीत्याशंक्याह—

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।
स्वगुणाः पूर्वगुणैःसह सन्तिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः॥"

इस अवतरणमें 'श्रावकपदानि' नामका उत्तर अंश तो मूल ग्रंथका पद्य है और उससे पहला अंश टीकाकारका वह वाक्य है जिसे उसने उक्त पद्यको देते हुए उसके विषयादिकी सूचना रूपसे दिया है। इस वाक्यमें लिखा है कि 'अब सल्लेखनाका अनुष्ठाता जो श्रावक है उसके कितनी प्रतिमाएँ होती हैं, इस बातकी आशंका करके आचार्य कहते हैं।' परंतु आचार्य महोदयके उक्त पद्यमें न तो वैसी कोई आशंका उठाई गई है और न यही प्रतिपादन किया गया है कि ये ११

था। जैनग्रंथरत्नाकर कार्यालय बम्बई आदि द्वारा प्रकाशित और भी बहुत संस्करणोंमें तथा पुरानी हस्तलिखित प्रतियोंमें वे ही सात परिच्छेद पाये जाते हैं जिनका उल्लेख प्रस्तावनाके शुरूमें 'ग्रंथपरिचय' के नीचे किया गया है।

प्रतिमाएँ सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकके होती हैं; वल्कि 'श्रावकपदानि' पदके प्रयोग द्वारा उसमें सामान्य रूपसे सभी श्रावकोंका ग्रहण किया है—अर्थात् यह बतलाया है कि श्रावकलोग ११ श्रेणियोंमें विभाजित हैं। इसके सिवाय, अगले पद्योंमें, श्रावकोंके उन ११ पदोंका जो अलग अलग स्वरूप दिया है उसमें सल्लेखनाके लक्षणकी कोई व्याप्ति अथवा अनुवृत्ति भी नहीं पाई जाती—सल्लेखनाका अनुष्ठान न करता हुआ भी एक श्रावक अनेक प्रतिमाओंका पालन कर सकता है और उन पदोंसे विभूषित हो सकता है। इस लिये टीकाकारका उक्त लिखना मूल ग्रंथके आशयके प्रायः विरुद्ध जान पड़ता है। दूसरे प्रधान ग्रंथोंसे भी उसका कोई समर्थन नहीं होता—प्रतिमाओंका कथन करनेवाले दूसरे किसी भी आचार्य अथवा विद्वानके ग्रंथोंमें ऐसा विधान नहीं मिलता जिससे यह मालूम होता हो कि ये प्रतिमाएँ सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकके ग्यारह भेद हैं। प्रत्युत इसके ऐसा प्रकार देखनेमें आता है कि इन सभी श्रावकोंको मरणके निकट आनेपर सल्लेखनाके सेवनकी प्रेरणा की गई है, जिसका एक उदाहरण 'चारित्रसार' ग्रंथका यह वाक्य है—"उक्तैरुपासकैर्मारणान्तिकी सल्लेखना प्रीत्या सेव्या।' और यह है भी ठीक, सल्लेखनाका सेवन मरणके संनिकट होनेपर ही किया जाता है और बाकीके धर्मों—व्रतानियमादिकों—का अनुष्ठान तो प्रायः जीवनभर हुआ करता है। इस लिये ये ११ प्रतिमाएँ केवल सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकके भेद नहीं हैं बल्कि श्रावकाचार*-विधिके विभेद हैं, श्रावकधर्मका अनुष्ठान करनेवालोंकी खास श्रेणियाँ हैं—और इनमें प्रायः सभी श्रावकोंका समावेश हो जाता है। हमारी रायमें टीकाकारको 'सल्लेखनानुष्ठाता' के स्थानपर 'सद्धर्मानुष्ठाता' पद देना चाहिये था। ऐसा होनेपर मूलग्रंथके साथ भी टीकाकी संगति ठीक बैठ जाती; क्यों कि मूलमें इससे पहले उस सद्धर्म—अथवा समीचीन धर्मके फलका कीर्तन किया गया है जिसके कथनकी आचार्य महादेवने ग्रंथके शुरूमें प्रतिज्ञा की थी और पूर्व पद्यमें 'फलति सद्धर्मः' ये शब्द भी स्पष्ट रूपसे दिये हुए हैं—उसी सद्धर्मके अनुष्ठाताको अगले पद्योंद्वारा ११ श्रेणियोंमें विभाजित किया है। परंतु जान पड़ता है टीकाकारको शायद ऐसा करना इष्ट नहीं था और शायद यही वजह हो

---

* श्रीअमितगति आचार्यके निम्नवाक्यसे भी ऐसा ही पाया जाता है:—

एकादशोक्ता विदितार्थतत्त्वैरुपासकाचारविधेर्विभेदाः।
पवित्रमारोढुमनस्यलभ्यं सोपानमार्गा इव सिद्धिसौधम्॥

—उपासकाचार।

जो उसने सल्लेखना और प्रतिमाओंके दोनों अधिकारोंको एक ही परिच्छेदमें शामिल किया है। परंतु कुछ भी हो, यह तीसरी विशेषता भी आपत्तिके योग्य जरूर है। अस्तु।

यह टीका 'प्रभाचंद्र' आचार्यकी बनाई हुई है। परंतु टीकामें न तो प्रभाचंद्रकी कोई प्रशस्ति है, न टीकाके बननेका समय दिया है और न टीकाकारने कहीं पर अपने गुरुका ही नामोल्लेख किया है। ऐसी हालतमें यह टीका कौनसे प्रभाचंद्राचार्यकी बनाई हुई है और कब बनी है, इस प्रश्नका उत्पन्न होना स्वाभाविक है; और वह अवश्य ही यहाँ पर विचार किये जानेके योग्य है; क्योंकि जैन समाजमें 'प्रभाचंद्र' नामके बीसियों * आचार्य हो गये हैं, जिनमेंसे कुछका—जिनका हम अभी तक अनुसंधान कर सके हैं—सामान्य परिचय अथवा पता मात्र इस प्रकार है—

(१) वे प्रभाचंद्र जिनका उल्लेख श्रवणबेल्गोलके प्रथम शि० लेखमें पाया जाता है, और जिनकी बाबत यह कहा जाता है कि वे भद्रबाहु श्रुतकेवलीके दीक्षित शिष्य सम्राट् 'चन्द्रगुप्त' थे।

(२) वे प्रभाचंद्र जिनका श्रीपूज्यपादकृत जैनेन्द्र व्याकरणके 'रात्रेः कृति प्रभाचंद्रस्य' इस सूत्रमें उल्लेख मिलता है।

(३) वे प्रभाचंद्र जिनका उल्लेख, जैनसिद्धान्तभास्करकी ४ थी किरणमें प्रकाशित 'शुभचंद्राचार्यकी गुर्वावली' और 'नंदिसंघकी पट्टावलीके आचार्योंकी नामावलीमें, 'लोकचंद'के बाद और 'नेमिचंद' से पहले पाया जाता है। साथ ही पट्टावलीमें जिनके पट्ट पर प्रतिष्ठित होनेका समय भी वि० संवत् ४५३ दिया है †। यदि यह समय ठीक हो तो दूसरे नंबर वाले प्रभाचंद्र और ये दोनों एक व्यक्ति भी हो सकते हैं।

---

* सन् १९२१-२२ में इस टीकाके कर्तृत्व-विषय पर कुछ विद्वानोंने चर्चा चलाई थी, और 'प्रभाचंद्र कितने हैं' इत्यादि शीर्षकोंको लिये हुए कितने ही लेख उस समय जैनमित्र, जैनसिद्धान्त, जैनबोधक और जैनहितेच्छु पत्रोंमें प्रकाशित हुए थे। उन लेखोंमें प्रभाचंद्र नामके विद्वानोंकी जो संख्या प्रकाशित हुई थी वह शायद पाँचसे अधिक नहीं थी।

† जैनहितैषी भाग छठा, अंक ७–८ में प्रकाशित 'गुर्वावली' और 'पट्टावली'में भी यह सब उल्लेख मिलता है।

• (४) वे प्रभाचंद्र जो परलुरुनिवासी 'विनयनन्दी' आचार्यके शिष्य थे और जिन्हें चालुक्य राजा 'कीर्तिवर्मा' प्रथमने एक दान दिया था*। ये आचार्य विक्रमकी छठी और सातवीं शताब्दीके विद्वान् थे, क्यों कि उक्त कीर्तिवर्माका अस्तित्व समय शक सं० ४८९ पाया जाता है।

(५) 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' और 'न्यायकुमुदचंद्रोदय'के कर्ता वे प्रसिद्ध प्रभाचंद्र, जो 'परीक्षामुख'के रचयिता माणिक्यनन्दी आचार्यके शिष्य थे और आदिपुराणके कर्ता श्रीजिनसेनाचार्यने जिनकी स्तुति की है। ये आचार्य विक्रमकी प्रायः ८ वीं ९ वीं शताब्दीके विद्वान् थे। जैनेन्द्र व्याकरणका 'शब्दाम्भोजभास्कर' नामका महान्यास ‡ भी संभवतः आपका ही बनाया हुआ है और शायद 'शाकटायनन्यास'के कर्ता भी आप ही हों; क्यों कि शिमोगा जिलेसे मिले हुए नगर ताल्लुकेके ४६ वें नंबरके शिलालेखमें एक पद्य इस प्रकार पाया जाता है—

सुखि....न्यायकुमुदचन्द्रोदयकृते नमः।
शाकटायनकृत्सूत्रन्यासकर्त्रे व्रतीन्दवे॥

(६) वे प्रभाचंद्र जो 'पुष्पनंदी' के शिष्य और 'तोरणाचार्य' के प्रशिष्य थे और जिनके लिये शक संवत् ७१९ वि० सं० ८५४ में एक वसतिका बनाई गई थी, जिसका उल्लेख राष्ट्रकूट राजा तृतीय गोविंदके एक ताम्रपत्रमें मिलता है। शक सं० ७२४ के दूसरे ताम्रपत्रमें भी आपका उल्लेख है +।

(७) वे प्रभाचंद्र जो 'वृषभनन्दि' अपर नाम 'चतुर्मुखदेव'के शिष्य और वक्रगच्छके आचार्य 'गोपनन्दि'के × सहाध्यायी (गुरुभाई) थे; और

---

* देखो 'साउथ इंडियन जैनिज्म' भाग दूसरा, पृ० ८८।

‡ इस न्यासकी एक प्रति बम्बईके सरस्वतीभवनमें मौजूद है परंतु करीब १२००० श्लोक परिमाण होने पर भी वह अपूर्ण है—अन्तके दो अध्यायोंका न्यास उसमें नहीं हैं— पूरा न्यास ३०००० श्लोकपरिमाण बतलाया जाता है, ऐसा पं० नाथूरामजी प्रेमी सूचित करते हैं।

+ देखो, माणिकचंद्रग्रंथमालामें प्रकाशित 'षट्प्राभृतादिसंग्रह' की भूमिका।

× गोपनन्दिको होयसल राजा एरेयंगने शक सं० १०१५ में जीर्णोद्धार आदि कार्योंके लिये दो गाँव दान किये थे। देखो, एपिग्रेफिया कर्णाटिका, जिल्द ५वींमें चन्नरायपट्टण ताल्लुकेका शि० लेख नं० १४८।

जिनकी प्रशंसामें श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ५५ (६९) में ये वाक्य दिये हुए हैं—

> श्रीधाराधिपभोजराजमुकुटप्रोताश्मरश्मिच्छटा-
> च्छायाकुङ्कुमपङ्कलिप्तचरणाम्भोजातलक्ष्मीधवः ।
> न्यायाब्जाकरमण्डने दिनमणिश्शब्दाब्जरोधो मणिः ॥
> स्थेयात्पण्डितपुण्डरीकतरणिश्श्रीमान्प्रभाचन्द्रमाः ॥
> श्रीचतुर्मुखदेवानां शिष्यो घृष्यः प्रवादिभिः ।
> पण्डितश्श्रीप्रभाचन्द्रो रुन्द्रवादिगजाङ्कुशः ॥

इन परिचय वाक्योंसे मालूम होता है कि ये प्रभाचंद्र न्याय तथा व्याकरणके बहुत बड़े पंडित थे और इनके चरणकमल धाराधिपति भोजराजके द्वारा पूजित थे और इसलिये इन्हें राजा भोजके समकालीन अथवा विक्रमकी ११ वीं शताब्दीके उत्तरार्ध और १२ वीं शताब्दीके पूर्वार्धका विद्वान् समझना चाहिये ।

(८) वे प्रभाचंद्र जो अविद्धकर्ण 'पद्मनंदि' सैद्धान्तिकके शिष्य 'कुलभूषण'के सधर्मा—और इसलिये उक्त पद्मनंदिके प्रसिद्ध नाम 'कौमारदेव'के शिष्य—थे और जिन्हें श्रवणबेल्गोलके ४० वें शिलालेखमें 'प्रथित तर्कग्रंथकार, आदि विशेषणोंके साथ स्मरण किया है । यथा—

> शब्दाम्भोरुहभास्करः प्रथिततर्कग्रंथकारः प्रभा-
> चंद्राख्यो मुनिराजपंडितवरः श्रीकुण्डकुन्दान्वयः ॥

ये आचार्य विक्रमकी प्रायः ११ वीं शताब्दीके विद्वान् थे ।

(९) वे प्रभाचंद्र जिन्हें 'प्रमेयकमलमार्तंड'की मुद्रित प्रतिके अन्तमें दिये हुए निम्न पद्यमें 'पद्मनन्दि सैद्धान्त'के शिष्य तथा 'रत्ननन्दि'के पदमें रत लिखा है, और उसके बादकी गद्यपंक्तियोंमें जिन्हें धारानिवासी तथा भोजदेव राजाके समकालीन विद्वान् सूचित किया है—

> " श्रीपद्मनन्दिसैद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालयः ।
> प्रभाचंद्रश्चिरंजीयाद्रत्ननन्दिपदे रतः ॥

श्रीभोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणामार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलंकेन श्रीमत्प्रभाचंद्रपंडितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति ।"

ये प्रभाचंद्र 'प्रमेयकमलमार्तंड'के टीका–टिप्पणकार जान पड़ते हैं, इसीसे उक्त पद्य तथा गद्य पंक्तियां ग्रंथकी सभी प्रतियोंमें नहीं पाई जातीं *। मुद्रित प्रतिमें, प्रथम परिच्छेदके अन्तमंगलके बाद जो सात पंक्तियाँ मूल रूपसे छप गई हैं वे साफ तौर पर उक्त मंगलपद्यकी टीका ही हैं और ग्रंथकी टीका–टिप्पणीका ही एक अंग होनेको सूचित करती हैं। इसके सिवाय मुद्रित प्रतिमें जो फुटनोट लगे हुए हैं वे सब भी प्रायः उसी टीका–टिप्पणीपरसे लिये गये हैं ‡।

यदि इन प्रभाचंद्रके गुरु 'पद्मनंदिसिद्धान्त' और ८ वें नंबरवाले प्रभाचंद्रके गुरु 'अविद्धकर्ण पद्मनंदिसैद्धान्तिक' दोनों एक ही व्यक्ति हों तो ये दोनों प्रभाचंद्र भी एक ही व्यक्ति हो सकते हैं; और यदि ये प्रभाचंद्र 'चतुर्मुखदेव' के भी शिष्य हों तो ७ वें नंबरवाले प्रभाचंद्र भी इनके साथ एक ही व्यक्ति हो सकते हैं।

(१०) वे प्रभाचंद्र जो मेघचंद्रत्रैविद्यदेवके प्रधान शिष्य तथा विष्णुवर्धन राजाकी पट्टराणी 'शांतलदेवी'के गुरु थे, और शक सं० १०६८ (वि० सं० १२०३) में जिनके स्वर्गारोहणका उल्लेख श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ५० में पाया जाता है। इस स्थानके और भी कितने ही शिलालेखोंमें आपका उल्लेख मिलता है। आपके गुरु मेघचंद्रका देवलोक शक सं० १०३७ में हुआ था, ऐसा ४८ वें शिलालेखसे पाया जाता है।

(११) वे प्रभाचंद्र जिन्हें श्रवणबेल्गोलके शक सं० १११८ के लिखे हुए, शिलालेख नं० १३० में महामंडलाचार्य 'नयकीर्ति'का शिष्य लिखा है। नयकीर्तिका देहान्त शक सं० १०९९ (वि० सं० १२३४) में हो चुका था, ऐसा उक्त

---

* पूना के 'भाण्डारकर इन्स्टिटयूट' में इस ग्रंथकी जो दो प्रतियाँ देवनागरी लिपिमें मौजूद हैं उनमेंसे किसीमें भी उक्त गद्य पंक्तियाँ नहीं हैं और ८३६ नंबरकी प्रतिमें, जो विक्रम सं० १४८९ की लिखी हुई पुरानी प्रतिपरसे नकल की गई है, उक्त पद्य भी नहीं है, ऐसा पं० नाथूरामजी प्रेमी स्वयं उन प्रतियोंको देखकर सूचित करते हैं।

‡ ग्रंथके संपादक पं० वंशीधरजी शास्त्रीने, इस बातको स्वीकार करते हुए सुहृद्वर पं० नाथूरामजी पर प्रकट किया है कि जिस प्रतिपरसे यह ग्रंथ छपा है वह विस्तृत टिप्पणसहित है; और टिप्पणी जो छापी गई है वह वही है उनकी निजकी नहीं है।

स्थानके शिलालेख नं० ४२ में पाया जाता है, और इस लिये ये प्रभाचंद्र विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके प्रायः पूर्वार्द्धके विद्वान् थे।

(१२) वे प्रभाचंद्र, जिन्होंने जयसिंहके राज्यमें 'पुष्पदन्त'के प्राकृत 'उत्तरपुराण' पर एक टिप्पण लिखा है और जो धारानगरीके निवासी थे। इस टिप्पणकी प्रशस्ति* इस प्रकार है—

"नित्यं तत्र तव प्रसन्नमनसा यत्पुण्यमत्यद्भुतं
यातन्तेन समस्तवस्तुविषयं चेतश्चमत्कारकः।
व्याख्यातं हि तदा पुराणममलं स्वस्पष्टमिष्टाक्षरैः
भूयाच्चेतसि धीमतामतितरां चंद्रार्कतारावधिः॥ १॥
तत्त्वाधारमहापुराणगमनद्योती जनानंदनः
सर्वप्राणिमनःप्रभेदपटुताप्रस्पष्टवाक्यैः करैः।
भव्याब्जप्रतिबोधकः समुदितो भूभृत्प्रभाचंद्रतः
जीयाट्टिप्पणकः प्रचंडतरणिः सर्वार्थमग्रद्युतिः॥ २॥

श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामोपार्जिता-मलपुण्यनिराकृताखिलमलकलंकेन श्रीप्रभाचंद्रपंडितेन महापुराणटिप्पणके शतत्र्यधिकसहस्रत्रयपरिमाणं कृतमिति।"

जान पड़ता है यह जयसिंह राजा, जिसके राज्यकालमें उक्त टिप्पण लिखा गया है, 'देवपालदेव' का उत्तराधिकारी था और इसे 'जैतुगिदेव' भी कहते थे। वि० सं० १२९२ और १२९६ के मध्यवर्ती किसी समयमें इसने अपने पिताका राज्यासन ग्रहण किया था और इसका राज्यकाल वि० सं० १३१२ या १३१३ तक पाया जाता है। प्रसिद्ध विद्वान् पं० आशाधरजीने इसी राजाके राज्यकालमें 'सागारधर्मामृत' और 'अनगारधर्मामृत' की टीकाएँ लिखी हैं।

परंतु ऊपरकी प्रशस्तिमें प्रभाचंद्रने 'धारानिवासी' के अतिरिक्त अपने लिये जिन दो विशेषणोंका प्रयोग किया है वे वही हैं जो नंबर ९ में उद्धृत की हुई प्रमेयकमलमार्तंडकी टिप्पणवाली अन्तिम गद्यपंक्तियोंमें पाये जाते हैं और इससे दोनों टिप्पणकार एक ही व्यक्ति थे ऐसा कहा जा सकता है। यदि यह

* यह प्रशस्ति पं० पन्नालालजी वाकलीवालने जयपुर पाटोदी मंदिरके भंडारकी २२३ नंबरकी प्रति परसे उतारी थी, ऐसा हमें उनके एक पत्र परसे मालूम हुआ, जो ४ जून १९२३ का लिखा हुआ है।

ठीक हो तब या तो यह कहना होगा कि प्रमेयकमलमार्तंडका टिप्पण राजा भोज (प्रथम) के समयमें और महापुराणका टिप्पण भोजके उत्तराधिकारी जयसिंह (प्रथम) के समयमें लिखा गया है, अथवा यह कहना होगा कि महापुराणका टिप्पण जयसिंह (द्वितीय) के समयमें और प्रमेयकमलमार्तंडका टिप्पण भोज (द्वितीय) के समयमें—वि० सं० १३४० के करीब—लिखा गया है। इसके सिवाय यह भी कहा जा सकता है कि दोनों प्रभाचंद्र धारानिवासी होते हुए भी एक दूसरेसे भिन्न थे और उनमेंसे एकने दूसरेका अनुकरण करके ही अपने लिये उन विशेषणोंका प्रयोग किया है जो अर्थकी दृष्टिसे प्रायः साधारण हैं और कोई विशेष ऐतिहासिक महत्त्व नहीं रखते। उत्तरपुराण-टिप्पणकारके अन्तिम पद्योंमें जो ऊपर उद्धृत भी किये गये हैं, प्रमेयकमलमार्तंडके अन्तिम पद्योंका * कितना ही अनुकरण पाया जाता है, और इस समानता परसे यह कहा नहीं जा सकता कि प्रमेयकमलमार्तंड ग्रंथके कर्ता प्रभाचंद्र ही उत्तरपुराणके टिप्पणकार हैं, क्योंकि इन प्रभाचंद्रके समयमें उक्त उत्तरपुराणका जन्म भी नहीं हुआ था–वह शक सं० ८८७ (वि० सं० १०२२) क्रोधन संवत्सरका बना हुआ पाया जाता है और उसमें 'वीरसेन' 'जिनसेन' का, उनके 'धवल जयधवल' नामक टीकाग्रंथों तकके साथ, उल्लेख मिलता है। इतिहासमें भोजके उत्तराधिकारी जयसिंहके राज्यकी स्थिति भी बहुत कुछ संदिग्ध पाई जाती है। इन सब बातों परसे हमें तो यही प्रतीत होता है कि प्रमेयकमलमार्तंडके टिप्पणकार चाहे भोज प्रथमके समकालीन हों अथवा भोज द्वितीयके परंतु उत्तरपुराणके उक्त टिप्पणकार जयसिंह

---

* वे पद्य इस प्रकार हैं—

गंभीरं निखिलार्थगोचरमलं शिष्यप्रबोधप्रदं
यद्व्यक्तं पदमद्वितीयमखिलं माणिक्यनन्दिप्रभोः।
तद्व्याख्यातमदो यथावगमतो किंचिन्मया लेशतः
स्थेयाच्छुद्धधियां मनोरतिगृहे चन्द्रार्कतारावधि ॥ १ ॥
मोहध्वान्तविनाशनो निखिलतो विज्ञानशुद्धिप्रदो
मेयानन्तनभोविसर्पणपटुर्वस्तूक्तिभाभासुरः।
शिष्याब्जप्रतिबोधनः समुदितो योऽद्रे परीक्षामुखा-
जीयात्सोऽत्रनिबन्ध एष सुचिरं मार्तण्डतुल्योऽमलः ॥ २ ॥

द्वितीयके समकालीन ही होने चाहियें। इस विषयका और विशेष निर्णय दोनों टिप्पणोंके अच्छे अध्ययन पर अवलम्बित है।

(१३) वे प्रभाचंद्र जो प्राकृत 'भावसंग्रह' (भावत्रिभंगी) के कर्ता 'श्रुतमुनि' के शास्त्रगुरु (विद्यागुरु) थे और उक्त भावसंग्रहकी प्रशस्तिमें * जिन्हें 'सारत्रयनिपुण' आदि विशेषणोंके साथ स्मरण किया है। 'सारत्रय-निपुण' विशेषणसे ऐसा मालूम होता है कि आप समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय ग्रंथोंके अच्छे जानकार थे, और इसलिये इन ग्रंथोंपर प्रभाचंद्रके नामसे जिन टीकाओंका उल्लेख 'दि० जैन ग्रंथकर्ता और उनके ग्रंथ ×' नामकी सूचीमें, पाया जाता है वे शायद इन्हीं प्रभाचंद्रकी बनाई हुई हों। ये प्रभा-चंद्र विक्रमकी १३ वीं और १४ वीं शताब्दीके विद्वान् थे; क्योंकि अभयचंद्र सैद्धान्तिकके शिष्य बालचंद्र मुनिने, जो कि उक्त श्रुतमुनिके अणुव्रतगुरु होनेसे आपके प्रायः समकालीन थे, शक सं० ११९५ (वि० सं० १३३०) में 'द्रव्य-संग्रह' सूत्रपर एक टीका लिखी है, जिसका उल्लेख 'कर्णाटक-कविचरित' अथवा 'कर्णाटक जैनकवि' में मिलता है। उक्त ग्रंथसूचीमें वि० सं० १३१६ का जो उल्लेख किया है वह भी आपके समयके अनुकूल पड़ता है।

(१४) वे प्रभाचंद्र जिनकी बाबत 'विद्वज्जनबोधक' में ऐसा उल्लेख मिलता है कि वे संवत् १३०५ में भ्रष्ट होकर दिल्लीमें रक्ताम्बर हो गये थे—बादशाहकी आज्ञासे उन्होंने रक्त वस्त्र धारण कर लिये थे—और शाही मदद पाकर जिन्होंने उस समय अनेक प्रकारके मिथ्यात्व तथा कुमार्गका प्रचार किया था। इनका समय भी विक्रमकी १३ वीं १४ वीं शताब्दी समझना चाहिये। इनके गुरुका नाम मालूम न होनेसे यह नहीं कहा जा सकता कि वे इससे पहले अथवा पीछेके उल्लखित किसी प्रभाचंद्रसे भिन्न थे या अभिन्न।

एक रक्ताम्बर प्रभाचंद्र भगवती आराधनाके टीकाकार भी हो गये हैं जिनका उल्लेख उक्त ग्रंथसूचीमें मिलता है। मालूम नहीं वे ये ही थे अथवा इनसे भिन्न।

(१५) वे प्रभाचंद्र जिन्हें, जैनसिद्धान्तभास्करकी ४ थी किरणमें प्रका-

---

* यह प्रशस्ति माणिकचंद्रग्रंथमालामें प्रकाशित 'भावसंग्रहादि' ग्रंथकी भूमिकामें प्रकाशित हुई है।

× देखो जैनहितैषी भाग ६ ठा, अंक ५–६ और ९–१०।

शित, शुभचंदकी गुर्वावली* तथा मूल (नंदी) संघकी दूसरी पट्टावलीमें रत्नकीर्तिके पट्टशिष्य, शुभकीर्तिके प्रपट्टशिष्य, और पद्मनन्दिके पट्टगुरु लिखा है, और साथ ही निम्न पद्यके द्वारा यह भी सूचित किया है कि पूज्यपादके शास्त्रोंकी व्याख्या करनेसे आपकी कीर्ति लोकमें विख्यात हुई थी—

पट्टे श्रीरत्नकीर्तेरनुपमतपसः पूज्यपादीयशास्त्र—
व्याख्या-विख्यातकीर्तिर्गुणगणनिधिपः सत्क्रियाचारुचंचुः ।
श्रीमानानन्दधामा प्रतिबुधनुतमा मानसंदायिवादो
जीयादाचन्द्रतारं नरपतिविदितः श्रीप्रभाचन्द्रदेवः ॥

ये प्रभाचंद्र जिन ‘ शुभकीर्ति ’ (रत्नकीर्तिके पट्टगुरु †) के पट्टशिष्य थे वे ‘ वनवासी ’ आम्नायके थे, ऐसा उक्त गुर्वावलीसे मालूम होता है । श्रवण-

---

* जैनहितैषी, छठे भागके अंक ७–८ में जो ‘ गुर्वावली ’ छपी है उसमें भी यह सब दिया हुआ है ।

† गुर्वावलीमें पहले एक स्थान पर शुभकीर्तिको ‘ धर्मचंद्र ’ का पट्टगुरु और रत्नकीर्तिका ‘ प्रपट्टगुरु ’ भी सूचित किया है; परंतु वह कुछ ठीक प्रतीत नहीं होता; क्योंकि उक्त धर्मचंद्रकी बावत यह भी लिखा है कि वे ‘ हमीर ’ भूपाल द्वारा पूजित थे, और हमीर (हम्मीर) का राज्यकाल वि० स० १३३८ या १३४२ से प्रारंभ होकर १३५८ तक पाया जाता है । (देखो, भारतके प्राचीन राजवंश, प्रथमभाग ।) ऐसी हालतमें प्रभाचंद्रका समय विक्रमकी १५ वीं शताब्दी हो जाता है, जो पट्टावलीके समयके विरुद्ध पड़ता है और उक्त शिलालेखके भी अनुकूल मालूम नहीं होता । क्योंकि शिलालेखमें शुभकीर्तिके प्रशिष्य रूपसे जिन ‘ अमरकीर्ति ’ आचार्यका उल्लेख है प्रभाचंद्र उनके प्रायः समकालीन विद्वान् होने चाहियें और शिलालेखमें अमरकीर्तिकी भी दो तीन पीढ़ियोंका उल्लेख है । एक ‘ अमरकीर्ति ’ आचार्यने वि० सं० १२४७ में ‘ षट्कर्मोपदेश ’ नामक प्राकृत ग्रंथकी रचना की है । यदि ये वही अमरकीर्ति हों जो शुभकीर्तिके प्रशिष्य थे तो इससे इन प्रभाचंद्रका समय और भी स्पष्ट हो जाता है । पट्टावलियों तथा गुर्वावलियोंमें, आचार्योंके नामोंका संग्रह करते हुए, नाम–साम्यके कारण कहीं कहीं पर कुछ गड़बड़ जरूर हुई है, और वह अच्छे अनुसंधानके द्वारा ही संलक्षित हो सकती है । परंतु इसके लिये गहरे अध्ययनके साथ साथ साधनसामग्रीकी सुलभताकी बड़ी जरूरत है जिसकी ओर समाजका कुछ भी ध्यान नहीं है ।

वेल्भोलके शिलालेख नं० १११ (२७४) से भी, जो शक सं० १२९५ का लिखा हुआ है, इसका समर्थन होता है। और साथ ही, यह भी पाया जाता है कि शुभकीर्तिके एक शिष्य ' धर्मभूषण ' भी थे, जिनकी शिष्यपरम्पराका इस शिलालेखमें उल्लेख है। अस्तु; ये प्रभाचंद्र भी विक्रमकी १३ वीं और १४ वीं शताब्दीके विद्वान् थे। उक्त ४ थी किरणमें प्रकाशित नन्दिसंघकी पट्टावलीके * आचार्योंकी नामावलीमें इनके पट्टारोहणका जो समय वि० सं० १३१० दिया है संभव है कि वह ठीक ही हो अथवा इनका पट्टारोहण उससे भी कुछ पहले हुआ हो। ये आचार्य दीर्घजीवी—प्रायः सौ वर्षकी आयुके धारक—हुए जान पड़ते हैं।

(१६) वे प्रभाचंद्र (प्रभेन्दु) मुनि जो अष्टांगयोगसम्पन्न थे और जिन्होंने ' चरित्रसार'की छह हजार श्लोकपरिमाण एक वृत्ति लिखकर (लेखयित्वा) मलधारि ललितकीर्तिके शिष्य कल्याणकीर्तिको समर्पित की थी और जिसका उल्लेख जैनसिद्धान्त भवन आरामें उक्त चारित्रसारकी कनड़ी टीकाके अन्तिम भागपर पाया जाता है। कल्याणकीर्ति वि० सं० १४८८ में मौजूद थे। उन्होंने, पांड्य नगरके गोम्मटस्वामिचैत्यालयमें रहते हुए, शक सं० १३५३ में ' यशोधरचरित्र'की रचना की है–इससे ये प्रभाचन्द्र विक्रमकी प्रायः १५ वीं शताब्दीके उत्तरार्धके विद्वान् थे।

(१६) वे प्रभाचंद्र जो ' नयसेन ' आचार्यकी संततिमें होनेवाले ' हेमकीर्ति' भट्टारकके शिष्य 'धर्मचंद्र'के पट्टशिष्य थे, और जिन्होंने, सकीट नगर (एटा जिला) में, लम्बकंचुक (लमेचू?) आम्नायके 'सकरू' साधु (साह) के पुत्र पं० सोनिकको प्रार्थनापर तत्त्वार्थसूत्रकी 'तत्वार्थरत्नप्रभाकर' नामकी टीका लिखी है। इस टीकाकी रचनाका समय कारंजाकी प्रतिमें वि० सं० १४८९ दिया हुआ है, ऐसा बाबू हीरालालजी एम० ए० सूचित करते हैं। इससे इन प्रभाचंद्रका समय भी विक्रमकी १५ वीं शताब्दी जान पड़ता है

(१८) वे प्रभाचंद्र जो शुभचंद्र भ० के पट्ट अथवा पद्मनंदिके प्रपट्ट पर प्रतिष्ठित होनेवाले जिनचंद्र भ० के पट्टशिष्य थे, जिनका पट्टाभिषेक सम्मेदशिखर पर हुआ था, जो धर्मचंद्र, धर्मकीर्ति अथवा चंद्रकीर्तिके पट्टगुरु थे और जिन्हें देवागमालंकृति, प्रमेयकमलमार्तंड तथा जैनेंद्रादिक लक्षणशास्त्रोंका ज्ञाता

---

* जैनहितैषी भाग छठा, अंक ७–८ में प्रकाशित ' पट्टावली ' में भी यही समय दिया है।

लिखा है *। ये प्रभाचंद्र विक्रमकी १६ वीं शताब्दीके विद्वान् थे; क्यों कि उक्त जिनचंद्रके एक शिष्य पं० मेधावीने वि० सं० १५४१ में 'धर्मसंग्रह-श्रावकाचार'को बनाकर समाप्त किया है।

(१९) वे प्रभाचंद्र जिन्हें 'ज्ञानसूर्योदय' नाटकके कर्ता 'वादिचन्द्र' सूरिने अपना पट्टगुरु और ज्ञानभूषणका पट्टशिष्य लिखा है। उक्त नाटक सं० १६४८ में बनकर समाप्त हुआ है। इससे ये प्रभाचंद्र विक्रमकी प्रायः १६ वीं शताब्दीके उत्तरार्ध और १७ वीं शताब्दीके पूर्वार्धके विद्वान् जान पड़ते हैं।

(२०) वे सब प्रभाचंद्र जो श्वेताम्बर सम्प्रदायके आचार्य हुए हैं, और जिनके पृथक् पृथक् नामोल्लेखादिकी यहाँ कोई जरूरत मालूम नहीं होती।

इन 'प्रभाचंद्र' नामके विद्वानोंमेंसे प्रथम चार विद्वानोंकी बनाई हुई यह टीका नहीं है; क्योंकि इस टीकामें 'प्रमेयकमलमार्तंड' और 'न्यायकुमुदचंद्रोदय' ग्रंथोंका उल्लेख पाया जाता है ‡ और ये चारों ही प्रभाचंद्र इन दोनों ग्रंथोंकी रचनासे पहले हो गये हैं। पहले नम्बरके प्रभाचंद्र तो मूल ग्रथंकी रचनासे भी पहलेके विद्वान् हैं। १६ वें नम्बरसे १९ वें नम्बरतकके विद्वानोंकी भी बनाई हुई यह टीका नहीं है; क्योंकि ये चारों ही प्रभाचंद्र, जो विक्रमकी १५ वीं १६ वीं और १७ वीं शताब्दियोंके विद्वान् हैं, पं० आशाधरजीसे बहुत पीछे हुए हैं और पं० आशाधरजीकी अनगारधर्मामृतटीकामें, जो वि० सं० १३०० में बनकर समाप्त हुई है, इस टीकाका निम्नप्रकारसे उल्लेख मिलता है—

यथाहुस्तत्र भगवन्तः श्रीमत्प्रभेन्दुदेवपादा रत्नकरण्डकटीकायां 'चतुरावर्तत्रितय' इत्यादिसूत्रे 'द्विनिषद्यं' इत्यस्य व्याख्याने "देववन्दनां कुर्वता हि प्रारंभे समाप्तौ चोपविश्य प्रणामः कर्तव्यः" इति।

—अ० ८, पद्य नं० ९३ की टीकाका अन्तिम भाग।

---

* देखो, जैनसिद्धान्तभास्करकी ४ थी किरणमें प्रकाशित 'मूल (नन्दी) संघकी दूसरी पट्टावली' तथा 'पाण्डवपुराणकी दानप्रशस्ति;' और पिटर्सन साहबकी ४ थी रिपोर्टमें प्रकाशित 'त्रिषष्ठिलक्षणमहापुराणसंग्रह' (नं० १३९९) तथा 'ऋषभनाथचरित्र' (नं० १४०४) की दानप्रशस्तियाँ, जो क्रमशः वि० सं० १६३२ और १७१० की लिखी हुई हैं।

‡ देखो छठे पद्यकी टीकाका निम्नवाक्य—

'तदलमतिप्रसंगेन प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचंद्रे च प्रपंचतः प्ररूपणात्।'

इसके सिवाय रत्नकरण्डककी इस टीकाकी एक प्रति विक्रमसंवत् १४१५ (माघ सुदि ७ रवि दिन) की लिखी हुई कारंजाके शास्त्रभंडार (वलात्कारगण-मंदिर) में मौजूद है, ऐसा उस सूचीपरसे मालूम होता है जो हालमें वा० हीरालालजी एम० ए० ने भंडारके ग्रन्थोंको स्वयं देखकर उतारी थी और हमारे पास देखनेके लिये भेजी थी। इससे यह टीका वि० सं० १४१५ के बाद होनेवाले किसी भी प्रभाचंद्रकी बनाई हुई नहीं है, इतनी बात और भी स्पष्ट हो जाती है। २० वें नम्बरमें उल्लेखित किसी श्वेताम्बर प्रभाचन्द्रकी बनाई हुई भी यह टीका नहीं है; क्यों कि केवलीके कवलाहार-विषयक श्वेताम्बरोंकी मान्यताका इसमें (छठे पद्यकी टीकामें) खास तौरसे खंडन किया गया है। और भी कई बातें ऐसी हैं जिनसे यह टीका किसी श्वेताम्बर आचार्यकृत प्रतीत नहीं होती। अब देखना चाहिये कि शेष—५ से १५ नम्बर तकके—विद्वानोंमेंसे यह टीका कौनसे प्रभाचन्द्राचार्यकी बनाई हुई है अथवा बनाई हुई हो सकती है।—

कुछ विद्वानोंका खयाल है कि यह टीका उन्हीं प्रभाचंद्राचार्य (न० ५) की बनाई हुई है जो प्रमेयकमलमार्तंड तथा न्यायकुमुदचंद्रोदयके कर्ता हैं, और अपने इस विचारके समर्थनमें वे प्रायः टीकाका निम्न वाक्य पेश करते हैं—

"तदलमतिप्रसंगेन प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे प्रपंचतः प्ररूपणात्।"

उनका कहना है कि इस वाक्यके द्वारा टीकाकारने, केवलिकवलाहार-विषयक प्रकृत प्रकरणको संकोचते हुए, उसके विस्तृत कथनको अपने ही बनाये हुए 'प्रमेयकमलमार्तंड' तथा 'न्यायकुमुदचंद्रोदय' नामके ग्रंथोंमें देखनेकी प्रेरणा की है। परन्तु इस वाक्यमें ऐसा कोई भी नियामक शब्द नहीं है जिससे यह निर्धारित किया जा सके कि टीकाकारने इसमें अपने ही बनाये हुए ग्रंथोंका उल्लेख किया है। वाक्यका स्पष्ट आशय सिर्फ इतना ही है कि 'प्रमेयकमलमार्तंड और न्यायकुमुदचन्द्र (चन्द्रोदय) में प्रकृत विषयका विस्तारके साथ प्ररूपण होनेसे यहाँ उसका और अधिक कथन देनेकी जरूरत नहीं है,—जो दिया गया है उसी पर संतोष किया जाता है'—उसमें ऐसा कहीं भी कुछ बतलाया नहीं गया कि वह प्ररूपणा मेरे ही द्वारा हुई है अथवा मैं ही उन ग्रन्थोंका कर्ता हूँ। हाँ, यह ठीक है कि इस प्रकारके वाक्योंद्वारा एक ग्रन्थकार अपने किसी दूसरे ग्रन्थका भी उल्लेख अपने ग्रन्थमें कर सकता है, परंतु वैसे ही वाक्योंके द्वारा दूसरे विद्वानोंके ग्रन्थोंका भी उल्लेख किया जाता है और अक्सर होता आया है, जिसके दो एक नमूने नीचे दिये जाते हैं—

'तथाप्तमीमांसायां व्यासतः समर्थितत्वात् ।'

'यथा चाभावैकान्तादिपक्षा न्यक्षेण प्रतिक्षिप्ता देवागमाप्तमीमांसायां तथेह प्रतिपत्तव्या इत्यलमिह विस्तरेण ।' —युक्त्यनुशासनटीका ।

'इत्यादिरूपेण कृष्णादिषड्लेश्यालक्षणं गोमटसारादौ विस्तरेण भणितमास्ते तदत्र नोच्यते ।' —पंचास्तिकायटीका जयसेनीया ।

ऐसी हालतमें, विना किसी प्रबल प्रमाणकी उपलब्धिके, उक्त वाक्य मात्रसे यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि यह टीका और उक्त दोनों ग्रंथ एक ही व्यक्तिके बनाये हुए हैं।

इस टीकामें एक स्थानपर—'वरोपलिप्सया' पदके नीचे ये वाक्य पाये जाते हैं—

"नन्वेवं श्रावकादीनां शासनदेवतापूजाविधानादिकं सम्यग्दर्शनम्लानताहेतुः प्राप्नोतीति चेत् एवमेव यदि वरोपलिप्सया कुर्यात् । यदा तु शासनसक्तदेवतात्वेन तासां तत्करोति तदा न म्लानताहेतुः । तत् कुर्वतश्च दर्शनपक्षपाताद्वरमयाचितमपि ताः प्रयच्छन्त्येव । तदकरणे चेष्टदेवताविशेषात् फलप्राप्तिर्निर्विघ्नतो झटिति न सिद्ध्यति । न हि चक्रवर्तिपरिवारापूजने सेवकानां चक्रवर्तिनः सकाशात् तथा फलप्राप्तिर्दृष्टा ।"

टीकाके इस अंशको लेकर दूसरे कुछ विद्वानोंका खयाल है कि यह टीका उन प्रभाचंद्राचार्यकी बनाई हुई नहीं हो सकती जो प्रमेयकमलमार्तण्डादिक ग्रंथोंके प्रणेता हैं। उनकी रायमें, इन वाक्योंद्वारा जो यह प्रतिपादन किया गया है कि 'रागद्वेषसे मलिन शासन देवताओंका पूजनविधानादिक उस हालतमें सम्यग्दर्शनकी मलिनताका—उसमें दोष उत्पन्न करनेका—हेतु नहीं होता जब कि वह विना किसी वरकी इच्छाके केवल उन्हें शासनभक्त देवता समझकर किया जाता है;' और साथ ही, यह बतलाया गया है कि 'वे शासनदेवता, दर्शनमें पक्षपात रखने—जैनधर्मके पक्षपाती होने—के कारण उन पूजनादिक करनेवाले श्रावकोंको विना माँगे भी वर देते ही हैं, और यदि उनका पूजनादिक नहीं किया जाता किन्तु इष्टदेवताविशेष (अर्हन्तादिक) का ही पूजनादिक किया जाता है तो उस पूजनादिकसे इष्टदेवताविशेषके द्वारा शीघ्र ही निर्विघ्न रूपसे किसी फलकी सिद्धि उसी प्रकार नहीं हो पाती जिस प्रकार कि चक्रवर्तीके परिवारका पूजन न करने पर चक्रवर्तिके पाससे सेवकोंको फलकी प्राप्ति नहीं

होती,' वह सब कथन मूल ग्रंथ तथा समीचीन आगमके विरुद्ध है और युक्ति-युक्त नहीं है ।

प्रमेयकमलमार्तंडादिकके रचयिता जैसे प्रौढ विद्वानोंसे वे ऐसे कथनकी अथवा इस प्रकारके निर्बल युक्तिप्रयोगकी आशा नहीं रखते और इसी लिये उनका उपर्युक्त खयाल है । इसमें संदेह नहीं कि टीकाका यह कथन बहुत कुछ आपत्तिके योग्य है और उसमें शासनदेवताओंका पूजन करनेपर फल-प्राप्तिकी जो बात कही गई है वह जैनसिद्धान्तोंकी तात्त्विक दृष्टिसे निरी गिरी हुई है और बिलकुल ही बच्चोंको बहकाने जैसी बात है । क्योंकि, चक्रवर्ती जिस प्रकार रागद्वेषसे मलिन होता है, परिमित परिवार रखता है, अपने परिवारके आदरसत्कारको देखकर प्रसन्न होता है, परिवारके लोगोंकी बात सुनता है—उनकी सिफारिश मानता है—और इच्छापूर्वक किसीका निग्रह-अनुग्रह करता है उसी प्रकारकी स्थिति अर्हन्तादिक इष्ट देवताओंकी नहीं है । उनमें चक्रवर्तिवाली बातें घटित नहीं होतीं—वे रागद्वेषसे रहित हैं, किसीकी पूजा या अवज्ञापर उनके आत्मामें प्रसन्नता या अप्रसन्नताका भाव जाग्रत नहीं होता, शासन देवता उनके साथमें कुटुम्बके तौर पर सम्बद्ध नहीं हैं, वे शासन देवताओंकी कोई सिफारिश नहीं सुनते और न स्वयं ही इच्छापूर्वक किसीका निग्रह अथवा अनुग्रह किया करते हैं—उनके द्वारा फलप्राप्तिका रहस्य* ही दूसरा है । इनके सिवाय शासन-देवता अव्रती होनेके कारण, धार्मिक दृष्टिसे, व्रतियों (श्रावकों) द्वारा पूजे जानेकी क्षमता भी नहीं रखते; धर्मका पक्ष होनेसे उन्हें स्वयं ही श्रावकोंकी—धर्ममें अपनेसे ऊँचे पदपर प्रतिष्ठित व्यक्तियोंकी–पूजा करनी चाहिये, न कि श्रावकोंसे अपनी पूजा करानी चाहिये । रही लौकिक वरप्राप्तिकी दृष्टिसे पूजा, उसे टीकाकार भी दूषित ठहराते ही हैं; फिर किस दृष्टिसे उनका पूजन किया जाय, यह कुछ समझमें नहीं आता । यदि साधर्मीपनेकी दृष्टिसे अथवा जैनधर्मका पक्ष रखनेकी वजहसे ही उन्हें पूजा जाय तो सभी जैनी पूज्य ठहरते हैं; शासन देवताओंकी पूजामें तब कोई विशेषता नहीं रहती । और यह बात तो बनती ही नहीं कि कोई शासनदेवता कर्मसिद्धान्तको उलट देने या कर्मसिद्धान्तके अनु-

* इस फलप्राप्तिके रहस्यका कुछ अनुभव प्राप्त करनेके लिये लेखकके लिखे हुए 'उपासनातत्त्व'को देखना चाहिये, जो जैन-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय बम्बई द्वारा प्रकाशित हो चुका है ।

कूल किसी व्यक्तिको उसके कर्मका फल न होने देनेका सामर्थ्य रखता हो, अथवा यों कहिये कि परम भक्तिभावसे की हुई अर्हन्तदेवकी पूजाके अवश्यंभावी फलको, वह अपनी पूजा न होनेके कारण रोक सकता हो। इस लिये शासनदेवताओंकी पूजाके समर्थनमें उक्त युक्तिप्रयोग निर्बल तथा असमीचीन जरूर है और उसे समाजमें उस समय प्रचलित शासनदेवताओंकी पूजाका मूल ग्रंथके साथ सामंजस्य स्थापित करनेका प्रयत्न मात्र समझना चाहिये। परंतु किसीकी श्रद्धाका विषय ही यदि निर्बल हो तो उसे उसके समर्थनार्थ निर्बल युक्तियोंका प्रयोग करना ही पड़ेगा, और इस लिये केवल इन वाक्योंपरसे ही यह नहीं कहा जा सकता कि यह टीका प्रमेयकमलमार्तंडादिके कर्त्ता प्रभाचंद्राचार्यकी बनाई हुई नहीं है, अथवा नहीं हो सकती। उसके लिये उक्त आचार्य महोदयके माने हुए ग्रंथों (प्रमेयकमलमार्तंडादिक) परसे यह दिखलानेकी जरूरत है कि उनके विचार इस शासनदेवताओंकी पूजाके विरुद्ध थे अथवा ग्रंथके साहित्यकी जाँच, आदि दूसरे मार्गोंसे ही यह सिद्ध किया जाना चाहिये कि यह टीका उन आचार्यकी बनाई हुई नहीं हो सकती। अभीतक ऐसी कोई बात सामने नहीं आई जिससे शासन देवताओंकी पूजाके विषयमें इन आचार्यकी श्रद्धा तथा विचारोंका कुछ हाल मालूम हो सके और इस लिये दूसरे मार्गोंसे ही अब इस बातके जाँचनेकी जरूरत है कि यह टीका उनकी बनाई हुई हो सकती है या कि नहीं।

प्रमेयकमलमार्तंड और न्यायकुमुदचंद्र भी, दोनों टीकाग्रंथ हैं—एक श्रीमाणिक्यनन्दी आचार्यके ‘परीक्षामुख’ सूत्रकी वृत्ति है तो दूसरा भट्टाकलंकदेवके ‘लघीयस्त्रय’ ग्रंथकी व्याख्या। इन टीकाओंका ‘रत्नकरण्डक’की इस टीकाके साथ जब मीलान किया जाता है तो दोनोंमें परस्पर बहुत बड़ी असमानता पाई जाती है। एककी प्रतिपादनशैली—कथन करनेका ढंग—और साहित्य दूसरेसे एकदम भिन्न है, दोनोंके आदि अन्तके पद्योंमें भी परस्पर कोई सादृश्य नहीं देखा जाता, रत्नकरण्डकटीकाके प्रत्येक परिच्छेदके अन्तमें प्रतिपादित विषयकी सूचनादि रूपसे कोई पद्य भी नहीं हैं, प्रमेयकमलमार्तंडादिकमें साहित्यकी प्रौढता और अर्थगंभीरतादिकी जो बात पाई जाती है वह इस टीकामें नहीं है, और यह बात तो बहुत ही स्पष्ट है कि यह टीका विवेचनोंसे प्रायः शून्य है, जब कि प्रमेय कमलमार्तण्डादिक टीकाएँ प्रायः प्रत्येक विषयके विवेचनोंको लिये हुए हैं और इस टीकाकी तरह शब्दानुवादका अनुसरण करनेवाली अथवा उसीपर अपना प्रधान लक्ष रखनेवाली नहीं हैं। दोनोंकी इस सब विभि-

नताका अच्छा अनुभव इन टीकाओंके तुलनात्मक अध्ययनसे सहजहीमें हो सकता है और इस लिये यहाँपर इस विषयको अधिक तूल (विस्तार) देनेकी जरूरत नहीं है। जिन विद्वानोंने तुलनात्मक दृष्टिसे इन टीकाओंका अध्ययन किया है वे स्वयं इस बातको स्वीकार करते हैं कि दोनोंमें परस्पर बहुत बड़ी असमानता है। पंडित वंशीधरजी शास्त्रीने भी, प्रमेयकमलमार्तण्डका सम्पादन करते हुए, उसके 'उपोद्घात'में लिखा है कि इस टीकाकी रचनातरंगभंगी प्रमेयकमलमार्तंडकी रचनातरंगभंगीसे 'विसदृशी' है*—उसके साथ समानता अथवा मेल नहीं रखती। ऐसी हालतमें विज्ञ पाठक स्वयं ही समझ सकते हैं कि जब इन टीकाओंमें परस्पर इतनी अधिक असमानता पाई जाती है तो ये तीनों टीकाएँ एक ही व्यक्तिकी बनाई हुई कैसे हो सकती हैं; और साथ ही, इस बातका भी अनुभव कर सकते हैं कि यदि यह टीका उन्हीं प्रमेयकमलमार्तण्डादिके रचयिता जैसे प्रौढ विद्वानाचार्यकी बनाई हुई होती तो इसमें, प्रमेयकमलमार्तंडादिक जैसी कोई खास खूबी अवश्य पाई जाती—कमसे कम यह श्रावकधर्मके अच्छे विवेचनको जरूर लिये हुए होती जिससे वह इस समय प्रायः शून्य प्रतीत होती है। और साथ ही, इसमें प्रायः वे अधिकांश त्रुटियाँ भी न होतीं जिनका पहले कुछ दिग्दर्शन कराया जा चुका है।

जहाँ तक हमने इस टीकाके साहित्यकी जाँच की है उस परसे हमें यह टीका इन प्रमेयकमलमार्तंडादिके कर्ता प्रभाचंद्राचार्यकी बनाई हुई मालूम नहीं होती; इसकी रचना प्रमेयकमलमार्तंडादिकी रचनासे बहुत पीछे—कई शताब्दियोंके बाद—हुई जान पड़ती है। नीचे इसी बातको कुछ विशेष प्रमाणोंद्वारा स्पष्ट किया जाता है—

१. इसी टीकामें एक स्थानपर—'नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः' इत्यादि पद्यके नीचे, 'सप्तगुणसमाहितेन' पदकी व्याख्याके अवसरपर, एक पद्य निम्न प्रकारसे उद्धृत पाया जाता है—

---

* यथा—'रत्नकरण्डकाभिधस्य श्रीसामन्तभद्रीयश्रावकाचारस्य बृहत्स्वयंभूस्तोत्रस्य, समाधिशतकस्य चोपरि विवरणानि श्रीप्रभाचन्द्रेणैव विनिर्मितानि सन्ति किन्तु तेषां प्रणेता स एवापरो वा प्रभाचन्द्रस्तदनन्तरलब्धजन्मेति न पार्यतेऽवधारयितुमलं तथापि प्रमेयकमलमार्तण्डापेक्षया तद्वृत्तीनां रचनातरङ्गभङ्गी विसदृशीति वक्तुमुत्सहे।'

"श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमाशक्तिः।
यस्यैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति ॥"
"इत्येतैः सप्तभिर्गुणैः समाहितेन तु दात्रा दानं दातव्यं।"

यह पद्य, जिसमें दातारके सप्तगुणोंका उल्लेख है, और जिसके अनन्तर ही उक्त टीकावाक्यद्वारा यह प्रतिपादन किया गया है कि 'इन सप्त गुणोंसे युक्त दातारके द्वारा दान दिया जाना चाहिये,' यशस्तिलक ग्रंथके ४३ वें 'कल्प' का पद्य है। यशस्तिलक ग्रंथ, जिसे 'यशोधरमहाराजचरित' भी कहते हैं सोमदेवसूरिका बनाया हुआ है और शक सं० ८८१ (वि० सं० १०१६) में बनकर समाप्त हुआ है। इससे यह टीका 'यशस्तिलक' से बादकी अथवा यों कहिये कि प्रमेयकमलमार्तंडसे प्रायः अढ़ाईसौ वर्षसे भी पीछेकी बनी हुई है, ऐसा कहनेमें कोई संकोच नहीं होता।

२. '*दुःश्रुति*' *अनर्थदण्डका स्वरूप प्रतिपादन करनेवाले* '*आरंभसंग*' नामक पद्यकी टीकाका एक अंश इस प्रकार है—

"आरंभश्च कृष्यादिः संगश्च परिग्रहः तयोः प्रतिपादनं वार्ता नीतौ विधीयते 'कृषिः पशुपाल्यं वाणिज्यं च वार्ता' इत्यभिधानात्।

इसमें 'वार्ता'का जो लक्षण ग्रंथान्तरसे उद्धृत किया है और जिसके उद्धरणकी बातको 'इत्याभिधानात्' पदके द्वारा सूचित भी किया है वह 'नीतिवाक्यामृत' ग्रंथके 'वार्तासमुद्देश' का प्रथम सूत्र है। 'नीतौ विधीयते' इस वाक्यसे भी नीतिग्रंथको सूचित करनेकी ध्वनि निकलती है। यह 'नीतिवाक्यामृत' उन्हीं सोमदेवाचार्यका बनाया हुआ है जो यशस्तिलकके कर्ता हैं और इसकी रचना यशस्तिलक ग्रंथसे भी पीछे हुई है; क्योंकि इसकी प्रशस्तिमें 'यशोधरमहाराजचरित' के रचे जानेका उल्लेख है। इससे यह टीका 'नीतिवाक्यामृत' से भी बादकी बनी हुई है।

---

१ इसके स्थानपर 'सत्यं' पाठ गलतीसे मुद्रित हो गया मालूम होता है; *अन्यथा इन गुणोंमें* सत्यगुणका समावेश नहीं है।

२ 'यत्रैते' ऐसा भी पाठान्तर देखा जाता है।

३ 'पशुपालनं' यह पाठान्तर है और यही ठीक मालूम होता है।

४ 'वणिज्या' यह पाठान्तर है और यह भी ठीक जान पड़ता है।

३. ' नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः ' इत्यादि दानस्वरूपप्रतिपादक पद्यकी टीकामें, ' दानं दातव्यं कैः कृत्वा नवपुण्यैः ' इन शब्दोंके साथ (अनन्तर) नीचे लिखी गाथा उद्धृत की गई है, और उसके वाद ही 'एतैर्नवाभिः पुण्यैः पुण्योपार्जनहेतुभिः ' ये शब्द दिये हैं, और इस तरहपर ' नवपुण्यैः ' पदकी व्याख्या की गई है—

पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयमच्चणं च पणमं च।
मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धी य णवविहं पुण्णं ॥

यह गाथा वसुनन्दि आचार्यके उस ' उपासकाध्ययन ' शास्त्रकी है जिसे ' वसुनन्दि-श्रावकाचार ' भी कहते हैं और उसमें नं० २२४ पर पाई जाती है। जान पड़ता है टीकाकारने इसमें मूलके अनुरूप ही ' नवपुण्यं ' संज्ञाका प्रयोग देखकर इसे यहाँ पर उद्धृत किया है; अन्यथा, वह यशस्तिलकके ' श्रद्धा तुष्टिः ' इत्यादि पद्यको उद्धृत करते हुए उसके साथके दूसरे ' प्रतिग्रहोच्चासन'* पद्यको भी उद्धृत कर सकता था। परंतु उसमें इन ९ वातोंको 'नवोपचार ' संज्ञा दी है जिसका यहाँ ' नवपुण्यैः ' पदकी व्याख्यामें मेल नहीं था। इसके सिवाय और भी कुछ विशेषता थी। इस लिये टीकाकारने जानबूझकर उसे छोड़ा और उसके स्थान पर इस गाथाको देना पसंद किया है। अस्तु; अव देखना चाहिये कि जिन वसुनन्दि सैद्धान्तिकके ग्रंथकी यह गाथा है वे कव हुए हैं। वसुनन्दिने मूलाचार ग्रंथकी अपनी ' आचारवृत्ति ' टीकाके आठवें परिच्छेदमें, कायोत्सर्गके चार भेदोंका वर्णन करते हुए, ' त्यागो देहममत्वस्य तनूत्सृतिरुदाहृता......इत्यादि पाँच श्लोक ' उक्तं च' रूपसे दिये हैं और उनके अन्तमें लिखा है कि ' उपासकाचारे उक्तमास्ते ' अर्थात्, यह कथन ' उपासकाचार ' का है। यह उपासकाचार ग्रंथ जिसके आठवें परिच्छेदमें उक्त पाँचों श्लोक उसी क्रमको लिये नं० ५७ से ६१ तक पाये जाते हैं, 'श्रीअमितगति आचार्यका वनाया हुआ है, जो विक्रमकी ११ वीं शताब्दीके विद्वान् थे और जिन्होंने वि० सं० १०७० में अपने ' धर्मपरीक्षा ' ग्रंथको वनाकर समाप्त किया है। ' उपासकाचार ' भी उसी वक्तके करीवका वना हुआ ग्रंथ है। इससे वसु-

* यह पूरा पद्य इस प्रकार है—

प्रतिग्रहोच्चासनपादपूजाप्रणामवाक्कायमनःप्रसादाः।
विद्याविशुद्धिश्च नवोपचाराः कार्या मुनीनां गृहसंश्रितेन ॥

नन्दि आचार्य प्रायः वि० सं० १०७० के बाद हुए हैं, इस कहनेमें कुछ भी दिक्कत नहीं होती। परंतु कितने समय बाद हुए हैं, यह बात अभी नहीं कही जा सकती। हाँ, इतना जरूर कहा जा सकता है कि वे पं० आशाधरजीसे पहले हुए हैं; क्योंकि पं० आशाधरजीने अपने 'सागरधर्मामृत' की स्वोपज्ञ टीकामें, जो वि० सं० १२९६ में बन कर समाप्त हुई है, वसुनन्दि श्रावकाचारकी 'पंचुंबरसहियाइं' नामकी गाथाका उल्लेख करते हुए लिखा है—

'इति वसुनन्दिसैद्धान्तिमतेन दर्शनप्रतिमायां प्रतिपन्नस्तस्येदं। तन्मतेनैव व्रतप्रतिमां बिभ्रतो ब्रह्माणुव्रतं स्यात्तद्यथा—'पव्वेसु इत्थिसेवा...... ।'

इसके सिवाय, 'अनगारधर्मामृत' की टीकामें, जो वि० सं० १३०० में बनकर समाप्त हुई है, वसुनन्दिकी आचारवृत्तिका भी आशाधरजीने निम्न प्रकारसे उल्लेख किया है—

'एतच्च भगवद्वसुनन्दिसैद्धान्तदेवपादैराचारटीकायां 'दुओ णदं जहाजादं' इत्यादिसूत्रे व्याख्यातं द्रष्टव्यं ।'

ऐसी हालतमें वसुनन्दि आचार्य वि० सं० १०७० और १२९६ के मध्यवर्ती किसी समयके–विक्रमकी प्रायः १२ वीं या १३ वीं शताब्दीके–विद्वान् होने चाहिये। आपने अपने श्रावकाचारमें जो गुरुपरम्परा दी है उससे मालूम होता है कि आप 'नेमिचंद्र' के शिष्य और 'नयनन्दी' के प्रशिष्य थे, और नयनंदी 'श्रीनंदी'के शिष्य थे। श्रीनंदीको दिये हुए कुछ दानोंका उल्लेख गुडिगेरिके टूटे हुए एक कनडी शिलालेख* में पाया जाता है, जो शक संवत् ९९८ का लिखा हुआ है, और इससे मालूम होता है कि 'श्रीनंदी' वि० सं० ११३३ में भी मौजूद थे। ऐसी हालतमें आपके प्रशिष्य (नेमिचंद) के शिष्य 'वसुनन्दी'का समय विक्रमकी १२ वीं शताब्दीका प्रायः अन्तिम भाग और संभवतः १३ वीं शताब्दीका प्रारंभिक भाग भी अनुमान किया जाता है और इस लिये यह टीका जिसमें वसुनन्दीके वाक्यका उल्लेख पाया जाता है विक्रमकी १३ वीं शताब्दीकी—प्रमेयकमलमार्तंडसे प्रायः चारसौ वर्ष पीछेकी—बनी हुई जान पड़ती है और कदापि प्रमेयकमलमार्तंडादिके कर्ता प्रभाचंद्राचार्यकी बनाई हुई नहीं हो सकती।

---

* देखो, इंडियन ऐंटिकेरी, जिल्द १८, पृष्ठ ३८, Ind. Ant., XVIII, P. 38

४. 'धर्मामृतं सतृष्णः' इत्यादि पद्यकी टीकामें, 'ज्ञानध्यानपरः' पदकी व्याख्या करते हुए, नीचे लिखे दो पद्य उद्धृत किये गये हैं—

अध्रुवाशरणे चैव भव एकत्वमेव च।
अन्यत्वमशुचित्वं च तथैवास्रवसंवरौ ॥ १ ॥
निर्जरा च तथा लोको बोधिदुर्लभधर्मता।
द्वादशैता अनुप्रेक्षा भाषिता जिनपुंगवैः ॥ २ ॥

ये दोनों पद्य 'पद्मनन्दि–उपासकाचार' के पद्य हैं, जो 'पद्मनन्दिपंचविंशति' में संगृहीत भी पाया जाता है। इस उपासकाचारके कर्ता श्रीपद्मनन्दि आचार्य पं० आशाधरजीसे पहले हो गये हैं।* उन्हें विक्रमकी १२ वीं शताब्दीके उत्तरार्धका विद्वान् समझना चाहिये। वे उन शुभचन्द्राचार्यके शिष्य थे जिनका देहावसान शक सं० १०४५ (वि० सं० ११८०) में हुआ है+। इनका बनाया हुआ 'एकत्वसप्तति' नामका भी एक ग्रंथ है जो 'पद्मनंदिपंचविंशतिका' में 'एकत्वाशीति' के नामसे संगृहीत है×। 'नियमसार' की पद्मप्रभ-मलधारिदेव-विरचित टीकामें इस ग्रंथके कितने ही पद्य, 'तथाचोक्तमेकत्वसप्ततौ' इस वाक्यके साथ, उद्धृत हैं और वे सब उक्त 'एकत्वाशीति' में ज्योंके त्यों पाये जाते हैं। 'एकत्वाशीति' के निम्न पद्यमें भी इस ग्रंथका नाम 'एकत्वसप्तति' ही दिया है—

एकत्वसप्ततिरियं सुरसिन्धुरुच्चैः
श्रीपद्मनन्दिहिमभूधरतः प्रसूता।
यो गाहते शिवपदाम्बुनिधिं प्रविष्टा—
मेतां लभेत स नरः परमां विशुद्धिम् ॥ ७७ ॥

जान पड़ता है 'एकत्वसप्तति' की पृथक् प्रतियोंमें कोई विशेष प्रशस्ति भी लगी हुई है जिसमें 'निम्ब' सामन्तको 'सामन्तचूडामणि' के तौर पर उल्लेखित किया है। इसीसे, 'इंस्क्रिप्शन्स एट् श्रवणबेल्गोल' (एपिग्रेफिया कर्णाटिका, जिल्द दूसरी) के द्वितीय संस्करण (सन् १९२३) की प्रस्तावना-

---

* पं० आशाधरजीने अपने अनगारधर्मामृतकी टीकाके ९ वें अध्यायमें, 'अत एव श्रीपद्मनन्दिपादैरपि सचेलतादूषणं दिङ्मात्रमिदमधिजगे' इस वाक्यके साथ आपके 'म्लाने क्षालनतः' इत्यादि पद्यको उद्धृत किया है जो पद्मनन्दिपंचविंशतिके अन्तर्गत 'यत्याचारधर्म' नामके प्रकरणमें पाया जाता है।

+ देहावसानके इस समयके लिये देखो श्रवणबेल्गोलका शिलालेख नं० ४३ (११७)।

× देखो, गांधी वहालचंद कस्तूरचंद धाराशिवकी ओरसे शक सं० १८२० में प्रकाशित 'पद्मनंदिपंचविंशति'।

में, प्राक्तन-विमर्ष-विचक्षण राव वहादुर मिस्टर आर. नरसिंहाचार एम. ए. लिखते हैं कि—

He (Nimba Sâmanta) is praised as the crest jewel of Sâmantas in the Ekatvasaptati of Padmnandi a deciple of Subhachandra who died in 1123.

अर्थात्—जिन शुभचन्द्रका ईसवी सन् ११२३ (शक सं० १०४५ वि० सं० ११८०) में देहान्त हुआ है उनके शिष्य पद्मनन्दिकी वनाई हुई 'निम्व' सामन्तकी ' सामन्त-चूडामणि ' के तौर पर प्रशंसा की गई है।

इससे पद्मनंदिका उक्त उपासकाचार वि० सं० ११८० के करीवका वना हुआ मालूम होता है। उसके वाक्योंका उल्लेख करनेसे भी यह टीका विक्रम की १२ वीं शताब्दीकी वनी हुई सिद्ध होती है। विक्रमकी १२ वीं शताब्दीसे पहलेके वने हुए किसी ग्रंथमें इसका उल्लेख मिलता भी नहीं।

इन सव प्रमाणोंसे यह वात विलकुल स्पष्ट हो जाती है और इसमें कोई संदेह नहीं रहता कि यह टीका प्रमेयकमलमार्तंडादिके रचयिता प्रभाचंद्राचार्यकी वनाई हुई नहीं है और न हो सकती है। इसमें केवलीके कवलाहार विषयका कुछ कथन जरूर प्रमेयकमलमार्तंड और न्यायकुमुदचंद्रके आधारपर उनके कुछ वाक्योंको लेकर किया गया है आर इसीसे विशेष कथनके लिये उन ग्रंथोंको देखनेकी प्रेरणा की गई है। परन्तु उनके उल्लेखसे टीकाकारका यह आशय कदापि नहीं है कि वे ग्रंथ उसीके वनाये हुए हैं।

जव कि यह टीका विक्रमकी १२ वीं शताब्दीकी—संभवतः इस शताब्दीके मध्यकालकी—वनी हुई पाई जाती है तव यह सहजहीमें कहा जा सकता है कि यह टीका उन दूसरे प्रभाचंद्र नामके आचार्योंकी भी वनाई हुई नहीं है जिनका उल्लेख ऊपर ६ से १० नम्वर तक किया गया है और जो १२ वीं शताब्दीसे पहलेके विद्वान् हैं। अव देखना चाहिये कि शेष ११ से १५ नम्वर तकके विद्वानोंमें यह कौनसे प्रभाचंद्राचार्यकी वनाई हुई प्रतीत होती है। १४ वें नम्वरके रक्ताम्वर प्रभाचंद्रकी वनाई हुई तो यह प्रतीत नहीं होती; क्योंकि इसमें आचारभ्रष्टताको पुष्ट करनेवाली कोई खास वात नहीं देखी जाती। ११ वीं प्रतिमावाले उत्कृष्ट श्रावकके कथनमें, 'चेलखण्डधरः' * पदकी व्याख्या करते हुए, यह तक भी नहीं लिखा कि वह वस्त्र ' रक्त ' होना चाहिये, और जिसका

* इस पदकी व्याख्यामें ' कोपीनमात्रवस्त्रखण्डधारकः आर्यलिंगधारीस्त्ययं:' इतना ही लिखा है।

वहाँ सहजहीमें विधान किया जा सकता था; जैसा कि पं० मेधावीने, अपने 'धर्मसंग्रहश्रावकाचार' में 'रक्तकौपीनसंग्राही' पदके द्वारा उसका विधान कर दिया है। यदि यह कहा जाय कि वे प्रभाचंद्र तो सं० १३०५ में ही भ्रष्ट होकर रक्ताम्बर हुए थे, उससे पहले तो वे भ्रष्ट नहीं थे, और यह टीका सं० १३०० से भी पहलेकी बनी हुई है, इस लिये भ्रष्ट होनेसे पहलेकी यह उनकी कृति हो सकती है, सो ऐसे होनेकी संभावना अवश्य है; परंतु एक तो इन प्रभाचंद्रके गुरु अथवा पट्टगुरुका नाम मालूम न होनेसे इनकी पृथक् सत्ताका कुछ बोध नहीं होता—'विद्वज्जनबोधक' में दिल्लीके उस बादशाहका नाम तक भी नहीं दिया जिसकी आज्ञासे इन्होंने रक्तवस्त्र धारण किये थे अथवा जिसकी इन्हें खास सहायता प्राप्त थी। हो सकता है कि उक्त १३०५ संवत् किसी किंवदन्तीके आधारपर ही लिखा गया हो और वह ठीक न हो। दूसरे, भ्रष्ट होनेके बाद भी वे अपनी पूर्व कृतिमें, अपने तात्कालिक विचारोंके अनुसार, कितना ही उलट फेर कर सकते थे और वह इस टीकाकी अधिकांश प्रतियोंमें पाया जाता। परंतु ऐसा नहीं है, इस लिये यह टीका उन भ्रष्ट हुए रक्ताम्बर प्रभाचंद्रकी बनाई हुई मालूम नहीं होती। बाकीके चार प्रभाचंद्रोंमेंसे ११ वें और १३ नम्बरके प्रभाचंद्र तो दक्षिण भारतके—कर्णाटक देशके—विद्वान् जान पड़ते हैं और वे दोनों एक भी हो सकते हैं; क्योंकि १३ वें नम्बरवाले प्रभाचंद्रके गुरुका नाम मालूम नहीं हो सका—संभव है कि वे 'नयकीर्ति'के शिष्य ही हों। रहे १२ वें और १५ वें नम्बरवाले प्रभाचंद्र, वे उत्तर भारतके विद्वान् थे और वे भी दोनों एक व्यक्ति हो सकते हैं; क्योंकि १२ वें नम्बरवाले धारानिवासी प्रभाचंद्रके गुरुका भी नाम मालूम नहीं हो सका—संभव है कि वे अजमेरके * पट्टाधीश 'रत्नकीर्ति' के पट्टशिष्य ही हों, और यह भी संभव है कि धारामें वे किसी दूसरे आचार्यके शिष्य अथवा पट्टशिष्य रहे हों, वहाँ अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की हो और बादको अजमेरकी गद्दीके भी किसी तरह पर अधीश्वर बन गये हों। और इसीसे आप अपना पूर्वप्रसिद्धि-मय परिचय देनेके लिये उस वक्तसे अपने नामके साथ 'धारानिवासी' विशेषण लिखने लगे हों।

---

* रत्नकीर्ति अजमेरके पट्टाधीश थे, इसके लिये देखो इण्डियन ऐंटिक्वेरीमें प्रकाशित नन्दिसंघकी पट्टावलीके आचार्योंकी वह नामावली जो जैनसिद्धान्तभास्करकी ४ थी किरणमें प्रकाशित हुई है।

इस पिछली बातकी संभावना अधिक पाई जाती है। धारामें बराबर उस समय विद्वान् आचार्योंका सद्भाव रहा है। पं० आशाधरजीने धारामें रहते हुए, धरसेनाचार्यके शिष्य महावीराचार्यसे जैनेन्द्रव्याकरणादि ग्रंथोंको पढ़ा था। आश्चर्य नहीं जो ये महावीराचार्य ही इन धारानिवासी प्रभाचंद्रके गुरु हों अथवा वह गुरुत्व उनके किसी शिष्यको प्राप्त हो। अस्तु। हमारी रायमें यह टीका १५ वें नम्बरके उन प्रभाचंद्राचार्यकी बनाई हुई मालूम होती है जिन्हें 'गुर्वावली'में पूज्यपादीय शास्त्रकी व्याख्या करनेवाले लिखा है। श्रीपूज्यपाद आचार्यके 'समाधितंत्र' ग्रंथपर, जिसे 'समाधिशतक' भी कहते हैं, प्रभाचंद्राचार्यकी एक टीका मिलती है और वह मराठी अनुवाद सहित सन् १९१२ में प्रकाशित भी हो चुकी है। उस टीकाके साथ जब इस टीकाका मीलान किया जाता है तब दोनोंमें बहुत बड़ा सादृश्य पाया जाता है। दोनोंकी प्रतिपादनशैली, कथन करनेका ढंग और साहित्यकी दशा एक जैसी मालूम होती है। वह भी इस टीकाकी तरह प्रायः शब्दानुवादको ही लिये हुए है। दोनोंके आदि अन्तमें एक एक ही पद्य है और उनकी लेखनपद्धति भी अपने अपने प्रतिपाद्य विषयकी दृष्टिसे समान पाई जाती है। नीचे इस सादृश्यका अनुभव करनेके लिये कुछ उदाहरण नमूनेके तौर पर दिये जाते हैं—

(१) दोनों टीकाओंके आदि मंगलाचरणके पद्य इस प्रकार हैं—

सिद्धं जिनेन्द्रमलमप्रतिमप्रबोधं निर्वाणमार्गममलं विबुधेन्द्रवंद्यम्।
संसारसागरसमुत्तरणप्रपोतं वक्ष्ये समाधिशतकं प्रणिपत्य वीरं ॥ १ ॥

—समाधिशतकटीका।

समन्तभद्रं निखिलात्मबोधनं जिनं प्रणम्याखिलकर्मशोधनम्।
निबन्धनं रत्नकरण्डकं परं करोमि भव्यप्रतिबोधनाकरम् ॥ १ ॥

—रत्नकरण्डकटीका।

ये दोनों पद्य इष्ट देवको नमस्कारपूर्वक टीका करनेकी प्रतिज्ञाको लिये हुए हैं, दोनोंमें प्रकारान्तरसे ग्रंथकर्ता * और मूल ग्रंथको भी स्तुतिका विषय बनाया गया है और उनके अप्रतिमप्रबोधं—निखिलात्मबोधनं तथा निर्वाणमार्गं—

* पहले पद्यमें 'जिनेन्द्र' पदके द्वारा ग्रंथकर्ताका नामोल्लेख किया गया है; क्योंकि पूज्यपादका 'जिनेन्द्र' अथवा 'जिनेन्द्रबुद्धि' भी नामान्तर है। और 'विबुधेन्द्रवंद्यं' पद पूज्यपादनामका भी द्योतक है।

अखिलकर्मशोधनं, इत्यादि कुछ विशेषण भी, अर्थकी दृष्टिसे परस्पर मिलते जुलते हैं।

(२) मंगलाचरणके बाद दोनों टीकाओंके प्रस्तावनावाक्य इस प्रकार हैं—

श्रीपूज्यपादस्वामी मुमुक्षूणां मोक्षोपायं मोक्षस्वरूपं चोपदर्शयितुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वाणो येनात्मेत्याह। —समाधिशतकटीका।

श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकप्रख्यं सम्यग्दर्शनादि-रत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरि-समाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह।

—रत्नकरण्डकटीका।

इन दोनों प्रस्तावनावाक्योंमें कितनी अधिक समानता है उसे बतलानेकी भी जरूरत नहीं है। वह स्वतः स्पष्ट है।

(३) समाधिशतककी टीकामें उसके प्रथम पद्यका सारांश इस प्रकार दिया है—

अत्र पूर्वार्द्धेन मोक्षोपायः उत्तरार्द्धेन च मोक्षस्वरूपमुपदर्शितम्।

और रत्नकरण्डककी टीकामें प्रथम पद्यका सारांश इस प्रकार दिया हुआ है—

अत्र पूर्वार्द्धेन भगवतः सर्वज्ञतोपायः उत्तरार्द्धेन च सर्वज्ञतोक्ता।

इससे स्पष्ट है कि दोनों टीकाओंके कथनका ढंग और शब्दविन्यास एक जैसा है।

(४) दोनों टीकाओंमें 'परमेष्ठी' पदकी जो व्याख्या की गई है वह एक ही है। यथा—

परमे इन्द्रादिवंद्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी स्थानशीलः।

—समाधिशतकटीका।

परमे इन्द्रादीनां वंद्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी।

—रत्नकरण्डकटीका।

(५) दोनों टीकाओंके अन्तिम पद्य इस प्रकार हैं—

येनात्मा बहिरन्तरुत्तमभिदा त्रेधा विवृत्योदितो
मोक्षोऽनन्तचतुष्टयामलवपुः सद्ध्यानतः कीर्तितः।
जीयात्सोऽत्र जिनः समस्तविषयः श्रीपादपूज्योऽमलो
भव्यानन्दकरः समाधिशतकः श्रीमत्प्रभेन्दुः प्रभुः॥

—समाधिशतकटीका।

येनाज्ञानतमो विनाश्य निखिलं भव्यात्मचेतोगतं
सम्यग्ज्ञानमहांशुभिः प्रकटितः सागारमार्गोऽखिलः ।
स श्रीरत्नकरण्डकामलरविः संसृत्सरिच्छोषको
जीयादेष समन्तभद्रमुनिपः श्रीमत्प्रभेन्दुर्जिनः ॥

—रत्नकरण्डकटीका ।

इन दोनों पद्योंमें, अपने अपने ग्रंथके प्रतिपाद्य विषयका सारांश देते हुए, जिस युक्तिसे जिनदेव, ग्रंथकार (श्रीपादपूज्य, समन्तभद्रमुनि), ग्रंथ (समाधिशतक, रत्नकरण्डक) और टीकाकार (प्रभेन्दु=प्रभाचंद्र) को आशीर्वाद दिया गया है वह दोनोंमें बिलकुल एक ही है, दोनोंकी प्रतिपादनशैली अथवा लेखनपद्धतिमें जरा भी भेद नहीं है, छंद भी दोनोंका एक ही है और दोनोंमें येन, जिनः, श्रीमान्, प्रभेन्दुः, सः, जीयात्, पदोंकी जो एकता और कीर्तितः प्रकटितः आदि पदोंके प्रयोगकी जो समानता पाई जाती है वह मूल पद्योंपरसे प्रकट ही है, उसे और स्पष्ट करके बतलानेकी कोई जरूरत नहीं है ।

सादृश्यविषयक इस सब कथन परसे पाठक सहजहीमें अनुमान कर सकते हैं कि ये दोनों टीकाएँ एक ही विद्वानकी बनाई हुई हैं और वे विद्वान् वही प्रतीत होते हैं जिन्हें, उक्त गुर्वावलीमें 'पूज्यपादीयशास्त्रव्याख्याविख्यातकीर्तिः विशेषणके साथ स्मरण किया है—अर्थात्, रत्नकीर्तिके पट्टशिष्य प्रभाचंद्र । इन प्रभाचंद्रके पट्टारोहणका जो समय (वि० सं० १३१०) पट्टावलीमें दिया है यदि वह ठीक हो तो, ऐसी हालतमें, यह कहना होगा कि यह टीका उन्होंने इस पट्टारोहणसे पहले धारामें किसी दूसरे आचार्यके पद पर रहते हुए बनाई है, और इसकी रचना या तो वि० सं० १२९२ के बाद और १३०० से पहले, जयसिंह द्वितीयके राज्यमें, हुई है और या उससे भी कुछ पहले जयसिंहके पिता देवपालदेवके राज्यमें हुई जान पड़ती है, जिसके राज्यका * पता वि० सं० १२७५ से १२९२ तक चलता है । पं० आशाधरजीने अपने सागारधर्मामृतकी टीका वि० सं० १२९६ में बनाकर समाप्त की है, उसमें इस टीकाका कहीं पर भी कोई उल्लेख नहीं है परंतु वि० सं० १३०० में बनी हुई आपकी अनगारधर्मामृतकी टीकाके पिछले भागमें इसका उल्लेख जरूर पाया जाता है। इस परसे यह कहा जा सकता है कि सं० १२९६ से पहले या तो यह टीका

---

* देखो, 'भारतके प्राचीन राजवंश,' प्रथम भाग, पृ० १६०,१६१ ।

बनी ही नहीं और या वह पं० आशाधरजीको देखनेको नहीं मिली। अन्यथा, वे इसका उल्लेख अपने सागारधर्मामृतकी टीकामें जरूर करते—कमसे कम इस टीकाकी शासनदेवताओंकी पूजावाली युक्तिको तो अवश्य ही स्थान देते, जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है,—परन्तु उक्त पूजाके समर्थनमें उसे स्थान देना तो दूर रहा, उन्होंने उलटा पहली प्रतिमावाले श्रावकके लिये भी शासन देवताओंकी पूजाका निषेध किया है और साफ लिख दिया है कि वह आपदाओंसे आकुलित (बेचैन) होने पर भी कभी उनकी पूजा नहीं करता, किन्तु पंचपरमेष्ठिके चरणोंमें ही एक मात्र दृष्टि रखता है, यथा—

"परमेष्ठिपदैकधीः परमेष्ठिपदेषु अर्हदादिपंचगुरुचरणेषु एका धीरन्तर्दृष्टिर्यस्य। आपदाकुलितोपि दर्शनिकस्तन्निवृत्यर्थं शासनदेवतादीन् कदाचिदपि न भजते।"

इसके सम्बंधमें हम सिर्फ इतना ही कहना चाहते हैं कि शासन देवताओंकी पूजावाली युक्तिका उल्लेख न करना इस बातका कोई नियामक अथवा लाजिमी नतीजा नहीं है कि यह टीका आशाधरजीको उस वक्त देखनेको नहीं मिली थी; क्योंकि बादमें देखनेको मिल जाने पर भी उन्होंने अनगारधर्मामृतकी टीकामें उस युक्तिका कोई उल्लेख नहीं किया; बल्कि नीचे लिखे पद्यकी व्याख्या करते हुए शासन देवताओंको कुदेवोंमें परिगणित करके उन्हें श्रावकोंके द्वार अवन्दनीय (वन्दना किये जानेके अयोग्य) ठहराया है—

श्रावकेनापि पितरौ गुरू राजाप्यसंयताः।
कुलिंगिनः कुदेवाश्च न वंद्याः सोपि संयतैः॥

टीका—........कुलिंगिनस्तापसादयः पार्श्वस्थादयश्च। कुदेवा रुद्रादयः शासनदेवतादयश्च। ......

ऐसी हालतमें यही खयाल होता है कि आशाधरजीने उक्त युक्तिको बिलकुल ही निःसार तथा पोच और अपने मंतव्यके विरुद्ध समझा है और इसी लिये अपनी किसी भी टीकामें उसे उद्धृत नहीं किया। परंतु फिर भी सागारधर्मामृतकी टीकामें इस टीकाका कुछ भी उल्लेख न होना—कमसे कम मतान्तरको प्रदर्शित करनेके तौर पर ही यह भी न दिखलाया जाना कि प्रभाचन्द्रने, दूसरे आचार्योंके मतसे एक दम भिन्न, इस टीकामें, ११ प्रतिमाओंको सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकके ११ भेद बतलाया है—कुछ संदेह जरूर पैदा करता है। और इस लिये आश्चर्य नहीं जो यह टीका वि० सं० १२९६ से पहले बन ही न पाई हो। अथवा बन जाने और देखनेको मिल जाने पर यह भी हो सकता है कि

धाराके इलाकेमें रहते हुए धाराके भट्टारकोंसे उपकृत और प्रभावित होनेके कारण उनकी इस तात्कालिक कृतिकी किसी गलत बातको लेकर उसका प्रत्यक्ष रूपसे विरोध करना आशाधरजीने अपने शिष्टाचार तथा नीतिके विरुद्ध समझा हो। परंतु कुछ भी सही, १२९६ से पहले ही या पीछे दोनों ही हालतोंमें यह टीका पं० आशाधरजीके समयकी बनी हुई प्रतीत होती है।

हाँ यदि 'समाधिशतक' की उक्त टीका रत्नकीर्तिके पट्टशिष्य या धारा-निवासी प्रभाचंद्रकी बनाई हुई न हो, अथवा रत्नकीर्तिके पट्टशिष्य प्रभाचंद्रके सम्बंधमें गुर्वावली और पट्टावलीका यह उल्लेख ही गलत हो कि उन्होंने पूज्य-पादीय शास्त्रकी व्याख्या करके प्रसिद्धि प्राप्त की थी, तो फिर यह टीका 'नय-कीर्ति'के शिष्य ११ वें नम्बरके प्रभाचंद्र, अथवा 'श्रुतमुनि'के विद्यागुरु १३ वें नम्बरके प्रभाचंद्र की बनाई हुई होनी चाहिये। दोनोंका समय भी प्रायःएक ही है। अस्तु, यह टीका इन चारों प्रभाचंद्रमेंसे चाहे जिसकी बनाई हुई हो परन्तु जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है, इसमें तो कोई संदेह ही नहीं कि यह विक्रमकी १३ वीं शताब्दीसे पहलेकी बनी हुई नहीं है।

यहाँपर इतना और भी प्रकट कर देना उचित मालूम होता है कि डाक्टर भाण्डारकर तथा पिटर्सन साहबकी बाबत यह कहा जाता है कि उन्होंने इस टीकाको वि० सं० १३१६ में होनेवाले प्रभाचंद्रकी बनाई हुई लिखा है। यद्यपि, इन विद्वानोंकी वे रिपोर्टें हमारे सामने नहीं हैं और न यही मालूम हो सका कि इन्होंने उक्त प्रभाचंद्रको कौनसे आचार्यका शिष्य लिखा है जिससे विशेष विचारको अवसर मिलता; फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि उनके इस लिखनेका यह आशय कदापि नहीं हो सकता कि उन्होंने इस टीकाको वि० सं० १३१६ की बनी हुई लिखा है अथवा इसके द्वारा यह सूचित किया है कि वि० सं० १३१६ से पहलके वर्षोंमें इन प्रभाचंद्रका अस्तित्व था ही नहीं। हो सकता है कि इन प्रभाचंद्रके बनाये हुए किसी ग्रंथकी प्रशस्तिमें उसके रचे जानेका स्पष्ट समय सं० १३१६ दिया हो और उसीपरसे उन्हें १३१६ में होनेवाले प्रभाचंद, ऐसा नाम दिया गया हो। १५ वें नम्बरके प्रभाचंद्र, जिनकी बाबत इस टीकाके कर्ता होनेका विशेष अनुमान किया गया है, वि० सं० १३१६ में मौजूद थे ही। १२ वें और १३ वें नम्बरके प्रभाचंद्रकी भी उस समय मौजूद होनेकी संभावना पाई जाती है। ऐसी हालतमें यहाँ जो कुछ निर्णय किया गया है उसमें उनके उस लिखनेसे कोई भेद नहीं पड़ता। अस्तु।

आभार और निवेदन ।

अब इस प्रस्तावनाको यहीं पर समाप्त करते हुए, हम उन सभी विद्वानोंका हृदयसे आभार मानते हैं जिनके ग्रंथों, लेखों अथवा पत्रोंसे हमें इस 'प्रस्तावना' तथा 'स्वामीसमन्तभद्र' नामक ऐतिहासिक निबन्ध (इतिहास) के लिखनेमें कुछ भी सहायता मिली है। साथ ही, यह भी प्रकट कर देना उचित समझते हैं कि इस प्रस्तावनादिके लिखे जानेका खास श्रेय ग्रंथमालाके सुयोग्य मंत्री सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीको ही प्राप्त है जिनकी सातिशय प्रेरणासे हम इस कार्यमें प्रवृत्त हुए और उसीके फलस्वरूप यह प्रस्तावना तथा इतिहास लेकर पाठकोंके सामने उपस्थित हो सके हैं। प्रस्तावनाको प्रारंभ किये हुए वर्ष भरसे भी ऊपर हो चुका, इस बीचमें बीमारी, और तज्जन्य निर्बलताके अतिरिक्त साधनसामग्रीकी विरलता तथा ऐतिहासिक प्रश्नोंकी जटिलता आदिके कारण कई बार इसे उठाकर रखना पड़ा और साधन सामग्रीको जुटाने आदिके कार्यमें लगना पड़ा। बीस बाईस दिनतक देहली ठहरकर एपिग्रेफिया कर्णाटिका (Epigraphia Carnatika) की भी बहुतसी जिल्दें देखी गईं, और अनेक विद्वानोंसे खास तौर पर पत्रव्यवहार भी किया गया। प्रस्तावनाको हाथमें लेते हुए यह नहीं समझा गया था कि यह सब कार्य इतना अधिक परिश्रम और समय लेगा अथवा इसे इतना विशाल रूप देना पड़ेगा। उस समय साधारण तौर पर यही खयाल कर लिया गया था कि दो तीन महीनेमें ही हम इसे पूरा कर सकेंगे। और शायद इसी आशा पर प्रेमीजीने ग्रंथके छप जानेका उस समय नोटिस भी निकाल दिया था, जिसकी वजहसे उनके पास ग्रंथकी कितनी ही मांगें आईं और लोगोंने उसके भेजनेके लिये उनपर बार बार तकाजा किया। परंतु यह सब कुछ होते हुए भी प्रेमीजी इधरके आशातीत और अनिवार्य विलम्बके कारण हताश नहीं हुए और न लोगोंके बार बार लिखने तथा तकाजा करनेसे तंग आकर, उन्होंने बिना प्रस्तावनादिके ही इस ग्रंथको प्रकाशित कर देना उचित समझा; बल्कि उसके फार्मोंको अबतक वैसे ही छपा हुआ रक्खा रहने दिया और हमें वे बरोबर प्रेमभरे शब्दोंमें प्रस्तावनादिको यथासंभव शीघ्र पूरा करनेकी प्रेरणा करते रहे; नतीजा जिसका यह हुआ कि आज वे अपनी उस प्रेरणामें सफल हो सके हैं। यदि प्रेमीजी इतने अधिक धैर्यसे काम न लेते तो आज यह प्रस्ता-

वना और इतिहास अपने वर्तमान रूपमें पाठकोंके सामने उपस्थित हो सकते, इसमें संदेह ही है। और इसी लिये हम इनके लिखे जानेका खास श्रेय प्रेमीजीको ही देते हैं। आपकी प्रेरणाको पाकर हम स्वामी समन्तभद्र जैसे महान् पुरुषोंका पवित्र इतिहास लिखने और उनके ग्रंथादिकोंके विषयमें अपने कुछ विचारोंको प्रकट करनेमें समर्थ हो सके हैं, यही हमारे लिये आनंदका खास विषय है और इसके वास्ते हम प्रेमीजीके विशेष रूपसे आभारी हैं। इस अवसर पर देहलीके सुप्रसिद्ध अनुभवी राजवैद्य पं० शीतलप्रसादजीका धन्यवाद किये विना भी हम नहीं रह सकते, जिन्होंने बड़े प्रेमके साथ हमें अपने पास रखकर निःस्वार्थ भावसे हमारी चिकित्सा की और जिनकी सच्चिकित्साके प्रतापसे हम अपनी खोई हुई शक्तिको पुनः प्राप्त करनेमें वहुत कुछ समर्थ हो सके हैं, और उसीका प्रथम फल यह कार्य है। इसमें संदेह नहीं कि हमारी वजहसे ग्रंथके शीघ्र प्रकाशित न हो सकनेके कारण कुछ विद्वानोंको प्रतीक्षाजन्य कष्ट जरूर उठाना पड़ा है, जिसका हमें स्वयं खेद है और इसलिये हम उनसे उसके लिये क्षमा चाहते हैं। इसके सिवाय अनुसंधान-प्रिय विद्वानोंसे हमारा यह भी निवेदन है कि इस प्रस्तावनादिके लिखनेमें यदि हमसे कहीं कुछ भूल हुई हो तो उसे वे प्रमाणसहित हमें लिख भेजनेका कष्ट जरूर उठाएँ। इत्यलम्।

सरसावा, जि० सहारनपुर
ता० १७–२–१९२५

जुगलकिशोर, मुख्तार।

श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिने नमः ।

स्वामी समन्तभद्र ।

प्राक्कथन ।



जैनसमाजके प्रतिभाशाली आचार्यों, समर्थ विद्वानों और सुपूज्य महात्माओंमें **भगवान्समन्तभद्र** स्वामीका आसन बहुत ऊँचा है । ऐसा शायद कोई ही अभागा जैनी होगा जिसने आपका पवित्र नाम न सुना हो; परंतु समाजका अधिकांश भाग ऐसा जरूर है जो आपके निर्मल गुणों और पवित्र जीवनवृत्तान्तोंसे बहुत ही कम परिचित है— बल्कि यों कहिये कि, अपरिचित है । अपने एक महान् नेता और ऐसे नेताके विषयमें जिसे '**जिनशासनका प्रणेता**'[1] तक लिखा है समाजका इतना भारी अज्ञान बहुत ही खटकता है । हमारी बहुत दिनोंसे इस बातकी बराबर इच्छा रही है कि आचार्यमहोदयका एक सच्चा इतिहास—उनके जीवनका पूरा वृत्तान्त—लिखकर लोगोंका यह अज्ञान भाव दूर किया जाय । परंतु बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी हम अभी तक अपनी उस इच्छाको पूरा करनेके लिये समर्थ नहीं हो सके ।

---

१ देखो श्रवणबेलगोलका शिलालेख नं० १०८ (नया नं० २५८) ।

इसका प्रधान कारण यथेष्ट साधनसामग्रीकी अप्राप्ति है। समाज अपने प्रमादसे, यद्यपि, अपनी बहुतसी ऐतिहासिक सामग्रीको खो चुका है फिर भी जो अवशिष्ट है वह भी कुछ कम नहीं है। परंतु वह इतनी अस्तव्यस्त तथा इधर उधर बिखरी हुई है और उसको मालूम करने तथा प्राप्त करनेमें इतनी अधिक विघ्नबाधाएँ उपस्थित होती हैं कि उसका होना न होना बराबर हो रहा है। वह न तो अधिकारियों-के स्वयं उपयोगमें आती है, न दूसरोंको उपयोगके लिये दी जाती है और इसलिये उसकी दिनपर दिन तृतीया गति (नष्टि) होती रहती है, यह बड़े ही दुःखका विषय है!

साधनसामग्रीकी इस विरलताके कारण ऐतिहासिक तत्त्वोंके अनुसंधान और उनकी जाँचमें कभी कभी बड़ी ही दिक्कतें पेश आती हैं और कठिनाइयाँ मार्ग रोककर खड़ी हो जाती हैं। एक[1] नामके कई कई और विद्वान् हो गये हैं; एक विद्वान् आचार्यके जन्म, दीक्षा, गुणप्रत्यय और देशप्रत्ययादिके भेदसे कई[2] कई नाम अथवा उपनाम भी हुए हैं;

---

१ जैसे, ' पद्मनन्दि ' और ' प्रभाचन्द्र ' आदि नामोंके धारक बहुत से आचार्य हुए हैं। ' समन्तभद्र ' नामके धारक भी कितने ही विद्वान् हो गये हैं, जिनमें कोई ' लघु ' या ' चिक्क,' कोई 'अभिनव', कोई ' गेरुसोप्पे, ' कोई ' भट्टारक ' और कोई ' गृहस्थ ' समन्तभद्र कहलाते थे। इन सबके समयादिका कुछ परिचय लेखककी लिखी हुई रत्नकरण्डकश्रावकाचारकी प्रस्तावनामें, ' ग्रंथपर संदेह ' शीर्षकके नीचे, दिया गया है। स्वामी समन्तभद्र इन सबसे भिन्न थे और वे बहुत पहले हो गये हैं।

२ जैसे, ' पद्मनन्दि ' यह कुन्दकुन्दाचार्यका पहला दीक्षानाम और बादको ' कोण्डकुन्दाचार्य ' यह उनका देशप्रत्यय नाम हुआ है; क्योंकि वे ' कोण्डकुन्दपुर ' के निवासी थे। गुर्वालियोंमें आपके एलाचार्य, वक्रग्रीव और गृध्रपिच्छाचार्य नाम भी दिये हैं, जो गुणादि प्रत्ययको लिये हुए समझने चाहिये और इन नामोंके दूसरे आचार्य भी हुए हैं।

और दूसरे विद्वानोंने उसका यथारुचि—चाहे जिस नामसे—अपने ग्रंथोंमें उल्लेख किया है; एक नामके कई कई पर्यायनाम भी होते हैं और उन पर्यायनामों अथवा आंशिक पर्यायनामोंसे भी विद्वानों तथा आचार्योंका उल्लेख मिलता है; कितने ही विभिन्न भाषाओंके अनुवादोंमें, कभी कभी मूलग्रंथ और ग्रंथकारके नामोंका भी अनुवाद कर दिया जाता है अथवा वे नाम अनुवादित रूपसे ही उन भाषाओं-के ग्रंथोंमें उल्लेखित हैं; एक व्यक्तिके जो दूसरे नाम, उपनाम, पर्यायनाम अथवा अनुवादित नाम हों वे ही दूसरे व्यक्तियोंके मूल नाम भी हो सकते हैं और अक्सर होते रहे हैं; समसामयिक व्यक्तियोंके नामोंका भी प्रायः ऐसा ही हाल है; कोई कोई विद्वान् कई कई आचा-र्योंके भी शिष्य हुए हैं और उन्होंने अपनेको चाहे जहाँ चाहे जिस आचा-र्यका शिष्य सूचित किया है; एक संघ अथवा गच्छके किसी अच्छे आचार्यको दूसरे संघ अथवा गच्छने भी अपनाया है और उसे अपने ही संघ तथा गच्छका आचार्य सूचित किया है; इसी तरहपर कोई कोई आचार्य अनेक मठोंके अधिपति अथवा अनेक स्थानोंकी गद्दियोंके स्वामी भी हुए हैं और इससे उनके कई कई पट्टशिष्य हो गये हैं, जिनमेंसे प्रत्येकने उन्हें अपना ही पट्टगुरु सूचित किया है । इस प्रका-रकी हालतोंमें किसीके असली नाम और असली कामका पता चलाना कितनी टेढ़ी खीर है, और एक ऐतिहासिक विद्वानके लिये यथार्थ वस्तुस्थितिका निर्णय करने अथवा किसी खास घटना या उल्लेखको किसी खास व्यक्तिके साथ संयोजित करनेमें कितनी अधिक उलझनों

---

१ जैसे नागचन्द्रका कहीं 'नागचन्द्र' और कहीं 'भुजंगसुधाकर' इस पर्याय नामसे उल्लेख पाया जाता है । और प्रभाचन्द्रका प्रभेन्दु यह आंशिक पर्यायनाम है जिसका बहुत कुछ व्यवहार देखनेमें आता है ।

तथा कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, इसका अच्छा अनुभव वे ही विद्वान् कर सकते हैं जिन्हें ऐतिहासिक क्षेत्रमें कुछ असेंतक काम करनेका अवसर मिला हो। अस्तु। यथेष्ट साधनसामग्रीके विना ही, इन सब अथवा इसी प्रकारकी और भी बहुतसी दिक्कतों, उलझनों और कठिनाइयोंमेंसे गुजरते हुए, हमने आजतक स्वामी समन्तभद्रके विषयमें जो कुछ अनुसंधान किया है—जो कुछ उनकी कृतियों, दूसरे विद्वानोंके ग्रंथोंमें उनके विषयके उल्लेखवाक्यों और शिलालेखों आदि परसे हम माळूम कर सके हैं—अथवा जिसका हमें अनुभव हुआ है उस सब इतिवृत्तको अब संकलित करके, और अधिक साधनसामग्रीके मिलनेकी प्रतीक्षामें न रहकर, प्रकाशित कर देना ही उचित माळूम होता है, और इस लिये नीचे उसीका प्रयत्न किया जाता है:—

पितृकुल और गुरुकुल।

स्वामी समन्तभद्रके बाल्यकालका अथवा उनके गृहस्थ-जीवनका प्रायः कुछ भी पता नहीं चलता, और न यह माळूम होता है कि उनके मातापिताका क्या नाम था। हाँ, आपके 'आप्तमीमांसा' ग्रंथकी एक प्राचीन प्रति ताड़पत्रों पर लिखी हुई श्रवणबेल्गोलके दौर्बलि जिनदास शास्त्रीके भंडारमें पाई जाती है। उसके अन्तमें लिखा है—[1]

"इति फणिमंडलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्रीस्वामिसमन्तभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्।"

इससे माळूम होता है कि समन्तभद्र क्षत्रियवंशमें उत्पन्न हुए थे और एक राजपुत्र थे। आपके पिता फणिमंडलान्तर्गत 'उरगपुर'के

---

१ देखो जैनहितैषी भाग ११, अंक ७—८, पृष्ठ ४८०। आराके जैनसिद्धान्तभवनमें भी, ताड़पत्रोंपर, प्रायः ऐसे ही लेखवाली प्रति मौजूद है।

राजा थे, और इस लिये उरगपुरको आपकी जन्मभूमि अथवा बाल्य-लीलाभूमि समझना चाहिये। 'राजावलीकथे' में आपका जन्म 'उत्वलिका' ग्राममें होना लिखा है जो प्रायः उरगपुरके ही अंतर्गत होगा। यह उरगपुर 'उरैयूर' का ही संस्कृत अथवा श्रुतिमधुर नाम जान पड़ता है जो चोल राजाओंकी सबसे प्राचीन ऐतिहासिक राजधानी थी। पुरानी त्रिचिनापोली भी इसीको कहते हैं। यह नगर कावेरीके तटपर बसा हुआ था, बन्दरगाह था और किसी समय बड़ा ही समृद्धिशाली जनपद था।

समंतभद्रका बनाया हुआ 'स्तुतिविद्या' अथवा 'जिनस्तुतिशतं' नामका एक अलंकारप्रधान ग्रंथ है, जिसे 'जिनशतक' अथवा 'जिनशतकालंकार' भी कहते हैं। इस ग्रंथका **'गत्वैकस्तुतमेव'** नामका जो अन्तिम पद्य है वह कवि और काव्यके नामको लिये हुए एक चित्रबद्ध काव्य है। इस काव्यकी छह आरे और नव वलयवाली चित्ररचनापरसे ये दो पद निकलते हैं—

'शांतिवर्मकृतं,' 'जिनस्तुतिशतं'।

इनसे स्पष्ट है कि यह ग्रंथ 'शान्तिवर्मा' का बनाया हुआ है और इस लिये 'शान्तिवर्मा' समंतभद्रका ही नामान्तर है। परंतु यह नाम उनके मुनिजीवनका नहीं हो सकता; क्योंकि मुनियोंके 'वर्मान्त' नाम नहीं होते। जान पड़ता है यह आचार्य महोदयके मातापितादिद्वारा

१महाकवि कालिदासने अपने 'रघुवंश' में भी 'उरगपुर' नामसे इस नगरका उल्लेख किया है।

२ यह नाम ग्रंथके आदिम मंगलाचरणमें दिये हुए 'स्तुतिविद्यां प्रसाधये' इस प्रतिज्ञावाक्यसे पाया जाता है।

३ देखो महाकवि नरसिंहकृत 'जिनशतक-टीका'।

रक्खा हुआ उनका जन्मका शुभ नाम था । इस नामसे भी आपके क्षत्रियवंशोद्भव होनेका पता चलता है । यह नाम राजघरानोंका है । कदम्ब, गंग और पल्लव आदि वंशोंमें कितने ही राजा वर्मान्त नामको लिये हुए हो गये हैं । कदम्बोंमें 'शांतिवर्मा' नामका भी एक राजा हुआ है ।

यहाँ पर किसीको यह आशंका करनेकी जरूरत नहीं कि 'जिनस्तुतिशतं' नामका ग्रंथ समंतभद्रका बनाया हुआ न होकर शांतिवर्मा नामके किसी दूसरे ही विद्वान्का बनाया हुआ होगा; क्योंकि यह ग्रंथ निर्विवाद रूपसे स्वामी समंतभद्रका बनाया हुआ माना जाता है । ग्रंथकी प्रतियोंमें कर्तृत्वरूपसे समंतभद्रका नाम लगा हुआ है, टीकाकार महाकवि नरसिंहने भी उसे '**तार्किकचूडामणि-श्रीमत्समंतभद्राचार्यविरचित**' सूचित कि है और दूसरे आचार्यों तथा विद्वानोंने भी उसके वाक्योंका, समंतभद्रके नामसे, अपने ग्रंथोंमें उल्लेख किया है । उदाहरणके लिये 'अलंकारचिन्तामणि' को लीजिये, जिसमें **अजितसेना**चार्यने निम्नप्रतिज्ञावाक्यके साथ इस ग्रंथके कितने ही पद्योंको प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है—

श्रीमत्समंतभद्रार्यजिनसेनादिभाषितम् ।
लक्ष्यमात्रं लिखामि स्वनामसूचितलक्षणम् ॥

इसके सिवाय पं० जिनदास पार्श्वनाथजी फडकुलेने 'स्वयंभूस्तोत्र' का जो संस्करण संस्कृतटीका और मराठी अनुवाद सहित प्रकाशित कराया है उसमें समंतभद्रका परिचय देते हुए उन्होंने यह सूचित किया है कि कर्णाटकदेशस्थित 'अष्टसहस्री' की एक प्रतिमें आचार्यके नामका इस प्रकारसे उल्लेख किया है—" **इति फणिमंडलालंकारस्योरगपुराधिपसूनुना शांतिवर्मनामा श्रीसमं-**

तभद्रेण।" यदि पंडितजीकी यह सूचना सत्य × हो तो इससे यह विषय और भी स्पष्ट हो जाता है कि शांतिवर्मा समन्तभद्रका ही नाम था।

वास्तवमें ऐसे ही महत्त्वपूर्ण काव्यग्रंथोंके द्वारा समन्तभद्रकी काव्यकीर्ति जगतमें विस्तारको प्राप्त हुई है। इस ग्रंथमें आपने जो अपूर्व शब्दचातुर्यको लिये हुए निर्मल भक्तिगंगा बहाई है उसके उपयुक्त पात्र भी आप ही हैं। आपसे भिन्न 'शांतिवर्मा' नामका

× पं० जिनदासकी इस सूचनाको देखकर हमने पत्रद्वारा उनसे यह मालूम करना चाहा कि कर्णाटक देशसे मिली हुई अष्टसहस्रीकी वह कौनसी प्रति है और कहाँके भंडारमें पाई जाती है जिसमें उक्त उल्लेख मिलता है। क्योंकि दौर्बलि जिनदास शास्त्रीके भंडारसे मिली हुई 'आप्तमीमांसा'के उल्लेखसे यह उल्लेख कुछ भिन्न है। उत्तरमें आपने यही सूचित किया कि यह उल्लेख पं० वंशीधरजीकी लिखी हुई अष्टसहस्रीकी प्रस्तावना परसे लिया गया है, इस लिये इस विषयका प्रश्न उन्हींसे करना चाहिये। अष्टसहस्रीकी प्रस्तावना (परिचय) को देखने पर मालूम हुआ कि उसमें 'इति' से 'समन्तभद्रेण' तकका उक्त उल्लेख ज्योंका त्यों पाया जाता है, उसके शुरूमें 'कर्णाटदेशतो लब्धपुस्तके' और अन्तमें 'इत्याद्युल्लेखो दृश्यते' ये शब्द लगे हुए हैं। इसपर गत ता० ११ जुलाईको एक रजिष्टर्ड पत्र पं० वंशीधरजीको शोलापुर भेजा गया और उनसे अपने उक्त उल्लेखका खुलासा करनेके लिये प्रार्थना की गई। साथ ही यह भी लिखा गया कि 'यदि आपने स्वयं उस कर्णाट देशसे मिली हुई पुस्तकको न देखा हो तो जिस आधार पर आपने उक्त उल्लेख किया है उसे ही कृपया सूचित कीजिये'। ३ री अगस्त सन् १९२४ को दूसरा रिमाइण्डर पत्र भी दिया गया परंतु पंडितजीने दोनोंमेंसे किसीका भी कोई उत्तर देने की कृपा नहीं की। और भी कहींसे इस उल्लेखका समर्थन नहीं मिला। ऐसी हालतमें यह उल्लेख कुछ संदिग्ध मालूम होता है। आश्चर्य नहीं जो जैनहितैषीमें प्रकाशित उक्त 'आप्तमीमांसा'के उल्लेखकी गलत स्मृति परसे ही यह उल्लेख कर दिया गया हो; क्योंकि उक्त प्रस्तावनामें ऐसे और भी कुछ गलत उल्लेख पाये जाते हैं— जैसे 'कांच्यां नग्नाटकोऽहं' नामक पद्यको मल्लिषेणप्रशस्तिका बतलाना, जिसका वह पद्य नहीं है।

कोई दूसरा प्रसिद्ध विद्वान् हुआ भी नहीं। इस लिये उक्त शंका निर्मूल जान पड़ती है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि समंतभद्रने अपने मुनिजीवनसे पहले इस ग्रंथकी रचना की होगी। परंतु ग्रंथके साहित्य परसे इसका कुछ भी समर्थन नहीं होता। आचार्य महोदयने, इस ग्रन्थमें, अपनी जिस परिणति और जिस भावमयी मूर्तिको प्रदर्शित किया है उससे आपकी यह कृति मुनिअवस्थाकी ही माऌम होती है। गृहस्थाश्रममें रहते हुए और राज-काज करते हुए इस प्रकारकी महापांडित्यपूर्ण और महदुच्चभावसपन्न मौलिक रचनाएँ नहीं बन सकतीं। इस विषयका निर्णय करनेके लिये, संपूर्ण ग्रंथको गौरके साथ पढ़ते हुए, पद्य नं० १९,७९ और ११४ * को खास तौरसे ध्यानमें लाना चाहिये। १९ वें पद्यसे ही यह माऌम हो जाता है कि स्वामी संसारसे भय-भीत होने पर शरीरको लेकर (अन्य समस्त परिग्रह छोड़कर) वीतराग भगवान्की शरणमें प्राप्त हो चुके थे, और आपका आचार उस समय (ग्रंथरचनाके समय) पवित्र, श्रेष्ठ, तथा गणधरादि अनुष्ठित आचार जैसा उत्कृष्ट अथवा निर्दोष था। वह पद्य इस प्रकार है—

पूतस्वनवमाचारं तन्वायातं भयाद्रुचा।
स्वया वामेश पाया मा नतमेकार्च्यशंभव ॥

इस पद्यमें समन्तभद्रने जिस प्रकार 'पूतस्वनवमाचारं'+ और 'भयात् × तन्वायातं' ये अपने (मा='मां' पदके) दो खास विशेषण पद दिये

---

* यह पद्य आगे 'भावी तीर्थंकरत्व' शीर्षकके नीचे उद्धृत किया गया है।

+ 'पूतः पवित्रः सु सुष्ठु अनवमः गणधराद्यनुष्ठितः आचारः पापक्रियानिवृत्तिर्यस्यासौ पूतस्वनवमाचारः अतस्तं पूतस्वनवमाचारम्'—इति टीका।

× भवात् संसारभीतेः। तन्वा शरीरेण (सह) आयातं आगतं।

हैं उसी प्रकार ७९ वें † पद्यमें उन्होंने ' ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसं ' विशेषणके द्वारा अपनेको उल्लेखित किया है। इस विशेषणसे मालूम होता है कि समन्तभद्रके मनसे यद्यपि त्रास उद्वेग–बिलकुल नष्ट (अस्त) नहीं हुआ था–सत्तामें कुछ मौजूद जरूर था–फिर भी वह ध्वंसमानके समान हो गया था, और इस लिये उनके चित्तको, उद्वेजित अथवा संत्रस्त करनेके लिये समर्थ नहीं था। चित्तकी ऐसी स्थिति बहुत ऊँचे दर्जे पर जाकर होती है और इस लिये यह विशेषण भी समन्तभद्रके मुनिजीवनकी उत्कृष्ट स्थितिको सूचित करता है और यह बतलाता है कि इस ग्रंथकी रचना उनके मुनिजीवनमें ही हुई है। टीकाकार नरसिंहभट्टने भी, प्रथम पद्यकी प्रस्तावनामें 'श्रीसमन्तभद्राचार्यविरचित' लिखनेके अतिरिक्त, ८४ वें पद्यमें आए हुए ' ऋद्धं ' विशेषणका अर्थ ' वृद्धं ' करके, और ११५ वें पद्यके ' वन्दीभूतवतः ' पदका अर्थ ' मंगलपाठकी भूतवतोपि नग्नाचार्यरूपेण भवतोपि मम ' ऐसा देकर, यही सूचित किया है कि यह ग्रंथ समन्तभद्रके मुनिजीवनका बना हुआ है। अस्तु।

स्वामी समन्तभद्रने गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया और विवाह कराया था कि नहीं, इस बातके जाननेका प्रायः कोई साधन नहीं है। हाँ, यदि यह सिद्ध किया जा सके कि कदम्बवंशी राजा शान्तिवर्मा और शान्तिवर्मा समंतभद्र दोनों एक ही व्यक्ति थे तो यह सहजहीमें बतलाया जा सकता है कि आपने गृहस्थाश्रमको धारण किया था और विवाह भी कराया था। साथ ही, यह भी कहा जा सकता है कि आपके पुत्रका नाम

† यह पूरा पद्य इस प्रकार है—

स्वसमान समानन्द्या भासमान स माऽनघ।
ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसमानतम् ॥

मृगेशवर्मा, पौत्रका रविवर्मा, प्रपौत्रका हरिवर्मा और पिताका नाम काकुत्स्थवर्मा था; क्योंकि काकुत्स्थवर्मा, मृगेशवर्मा और हरिवर्माके जो दानपत्र जैनियों अथवा जैन संस्थाओंको दिये हुए हलसी और वैजयन्तीके मुकामोंपर पाये जाते हैं उनसे इस वंशपरम्पराका पता चलता है* । इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन कदम्बवंशी राजा प्रायः सब जैनी हुए हैं और दक्षिण (वनवास) देशके राजा हुए हैं; परंतु इतने परसे ही, नामसाम्यके कारण, यह नहीं कहा जा सकता कि शांतिवर्मा कदम्ब और शांतिवर्मा समंतभद्र दोनों एक व्यक्ति थे । दोनोंको एक व्यक्ति सिद्ध करनेके लिये कुछ विशेष साधनों तथा प्रमाणोंकी जरूरत है जिनका इस समय अभाव है । हमारी रायमें, यदि समंतभद्रने विवाह कराया भी हो तो वे बहुत समय तक गृहस्थाश्रममें नहीं रहे हैं, उन्होंने जल्दी ही, थोड़ी अवस्थामें, मुनि दीक्षा धारण की है और तभी वे उस असाधारण योग्यता और महत्ताको प्राप्त कर सके हैं जो उनकी कृतियों तथा दूसरे विद्वानोंकी कृतियोंमें उनके विषयके उल्लेखवाक्योंसे पाई जाती है और जिसका दिग्दर्शन आगे चल कर कराया जायगा । ऐसा मालूम होता है कि समन्तभद्रने बाल्यावस्थासे ही अपने आपको जैनधर्म और जिनेन्द्र देवकी सेवाके लिये अर्पण कर दिया था, उनके प्रति आपको नैसर्गिक प्रेम था और आपका रोम रोम उन्हींके ध्यान और उन्हींकी वार्ताको लिये हुए था । ऐसी हालतमें यह आशा नहीं की जा सकती कि आपने घर छोड़नेमें विलम्ब किया होगा ।

भारतमें ऐसा भी एक दस्तूर रहा है कि, पिताकी मृत्युपर राज्यासन सबसे बड़े बेटेको मिलता था, छोटे बेटे तब कुटुम्बको छोड़ देते

* देखो ' स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म ' नामकी पुस्तक, भाग दूसरा, पृष्ठ ८७ ।

थे और धार्मिकजीवन व्यतीत करते थे; उन्हें अधिक समयतक अपनी देशीय रियासतमें रहनेकी भी इजाजत नहीं होती थी *। और यह एक चर्या थी जिसे भारतकी, खासकर बुद्धकालीन भारतकी, धार्मिक संस्थाने छोटे पुत्रोंके लिये प्रस्तुत किया था। इस चर्यामें पड़ कर योग्य आचार्य कभी कभी अपने राजवन्धुसे भी अधिक प्रसिद्धि प्राप्त करते थे। संभव है कि समंतभद्रको भी ऐसी ही किसी परिस्थितिमेंसे गुजरना पड़ा हो; उनका कोई वड़ा भाई राज्याधिकारी हो, उसे ही पिताकी मृत्यु पर राज्यासन मिला हो, और इस लिये समंतभद्रने न तो राज्य किया हो और न विवाह ही कराया हो; बल्कि अपनी स्थितिको समझ कर उन्होंने अपने जीवनको शुरूसे ही धार्मिक साँचेमें ढाल लिया हो; और पिताकी मृत्यु पर अथवा उससे पहले ही अवसर पाकर आप दीक्षित हो गये हों; और शायद यही वजह हो कि आपका फिर उरगपुर जाना और वहाँ रहना प्रायः नहीं पाया जाता। परंतु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि, आपकी धार्मिक परिणतिमें कृत्रिमताकी जरा भी गंध नहीं थी। आप स्वभावसे

---

* इस दस्तूरका पता एक प्राचीन चीनी लेखकके लेखसे मिलता है (Ma-twan-lin,cited in Ind. Ant. IX, 22. देखो, विन्सेण्ट स्मिथकी अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया ' पृ० १८५, जिसका एक अंश इस प्रकार है—

An ancient Chinese writer assures us that 'according to the laws of India, when a king dies, he is succeeded by his eldest son (Kumăraräjă); the other sons leave the family and enter a religious life, and they are no longer allowed to reside in their native kingdom.'

ही धर्मात्मा थे और आपने अपने अन्तःकरणकी आवाजसे प्रेरित होकर ही जिनदीक्षा * धारण की थी ।

दीक्षासे पहले आपकी शिक्षा या तो उरैयूरमें ही हुई है और या वह कांची अथवा मदुरामें हुई जान पड़ती है। ये तीनों ही स्थान उस वक्त दक्षिण भारतमें विद्याके खास केन्द्र थे और इन सबोंमें जैनियोंके अच्छे अच्छे मठ भी मौजूद थे जो उस समय बड़े बड़े विद्यालयों तथा शिक्षालयोंका काम देते थे ।

आपका दीक्षास्थान प्रायः कांची या उसके आसपासका कोई ग्राम जान पड़ता है और कांची * ही—जिसे 'कांजीवरम्' भी कहते हैं—आपके धार्मिक उद्योगोंकी केन्द्र रही माळूम होती है। आप वहींके दिगम्बर साधु थे। '**कांच्यां नग्नाटकोऽहं** × ' आपके इस वाक्यसे भी यही ध्वनित होता है । कांचीमें आप कितनी ही वार गये हैं, ऐसा उल्लेख + ' राजावलीकथे ' में भी मिलता है ।

---

* सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक जिनानुष्ठित सम्यक् चारित्रके ग्रहणको ' जिनदीक्षा ' कहते हैं। समन्तभद्रने जिनेन्द्रदेवके चारित्र गुणको अपनी जाँच-द्वारा न्यायविहित और अद्भुत उदयसहित पाया था, और इसी लिये वे सुप्रसन्न-चित्तसे उसे धारण करके जिनेन्द्रदेवकी सच्ची सेवा और भक्तिमें लीन हुए थे। नीचेके एक पद्यसे भी उनके इसी भावकी ध्वनि निकलती है—

अत एव ते बुधनुतस्य चरितगुणमद्भुतोदयम् ।
न्यायविहितमवधार्य जिने त्वयि सुप्रसन्नमनसः स्थिता वयम् ॥१३०॥
—युक्त्यनुशासन ।

* द्रविड देशकी राजधानी जो अर्सेतक पल्लवराजाओंके अधिकारमें रही है। यह मद्राससे दक्षिण-पश्चिमकी ओर ४२ मीलके फासलेपर, वेगवती नदी पर स्थित है।

× यह पूरा पद्य आगे दिया जायगा ।

+ स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म, पृ० ३० ।

पितृकुलकी तरह उनके गुरुकुलका भी प्रायः कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता और न यह मालूम होता है कि आपके दीक्षागुरुका क्या नाम था। स्वयं उनके ग्रंथोंमें उनकी कोई प्रशस्तियाँ उपलब्ध नहीं होतीं और न दूसरे विद्वानोंने ही उनके गुरुकुलके सम्बंधमें कोई खास प्रकाश डाला है। हाँ, इतना जरूर मालूम होता है कि आप 'मूलसंघ' के प्रधान आचार्योंमें थे। विक्रमकी १४ वीं शताब्दीके विद्वान् कवि 'हस्तिमल्ल' और 'अय्यप्पार्य' ने '**श्रीमूलसंघव्योम्नेन्दुः**' विशेषणके द्वारा आपको मूलसंघरूपी आकाशका चंद्रमा लिखा है *। इसके सिवाय श्रवणवेलगोलके कुछ शिलालेखोंसे इतना पता और चलता है कि आप श्रीभद्रबाहु श्रुतकेवली, उनके शिष्य चंद्रगुप्त, चंद्रगुप्त मुनिके वंशज पद्मनंदि अपर नाम श्रीकोंडकुंदमुनिराज, उनके वंशज उमास्वाति अपर नाम गृध्रपिच्छाचार्य, और गृध्रपिच्छके शिष्य बलाकपिच्छ इस प्रकार महान् आचार्योंकी वंशपरम्परामें, हुए हैं। यथा—

श्रीभद्रस्सर्वतो यो हि भद्रबाहुरितिश्रुतः।
श्रुतकेवलिनाथेषु चरमः परमो मुनिः॥
चंद्रप्रकाशोज्ज्वलसान्द्रकीर्तिः श्रीचन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्यः।
यस्य प्रभावाद्वनदेवताभिराराधितः स्वस्य गणो मुनीनां॥
तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः।
श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः॥
अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृध्रपिच्छः।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी॥
श्रीगृध्रपिच्छमुनिपस्य बलाकपिच्छः,
शिष्योऽजनिष्ट भुवनत्रयवर्तिकीर्तिः।

* देखो, 'विक्रान्तकौरव' और 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' नामके ग्रन्थ।

चारित्रचञ्चुरखिलावनिपालमौलि—,
मालाशिलीमुखविराजितपादपद्मः ॥
एवं महाचार्यपरंपरायां स्यात्कारमुद्रांकिततत्त्वदीपः ।
भद्रस्समन्ताद्गुणतो गणीशस्समन्तभद्रोऽजनि वादिसिंहः ॥
शिलालेख नं० ४० (६४) ।

इस शिलालेखमें जिस प्रकार चंद्रगुप्तको भद्रबाहुका और बलाकपिच्छको उमास्वातिका शिष्य सूचित किया है उसी प्रकार समंतभद्र, अथवा कुन्दकुन्द और उमास्वति आचार्योंके विषयमें यह सूचित नहीं किया कि वे किसके शिष्य थे । दूसरे * शिलालेखोंका भी प्रायः ऐसा ही हाल है । और इससे यह मालूम होता है कि या तो लेखकोंको इन आचार्योंके गुरुओंके नाम मालूम ही न थे और या वे गुरु अपने उक्त शिष्योंकी कीर्तिकौमुदीके सामने, उस वक्त इतने अप्रसिद्ध हो गये थे कि उनके नामोंके उल्लेखकी ओर लेखकोंकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकी अथवा उन्होंने उसकी कुछ जरूरत ही नहीं समझी । संभव है कि उन गुरुदेवोंके द्वारा उनकी विशेष उदासीन परिणतिके कारण साहित्यसेवाका काम बहुत कम हो और यही बात बादको समय बीतने पर उनकी अप्रसिद्धिका कारण बन गई हो । परंतु कुछ भी हो इसमें संदेह नहीं कि इस शिलालेखमें, और इसी प्रकारके दूसरे शिलालेखोंमें भी, जिस ढंगसे कुछ चुने हुए आचार्योंके बाद समंतभद्रका नाम दिया है उससे यह बिल्कुल स्पष्ट है कि स्वामी

* देखो 'इन्स्क्रिप्शन्स ऐट् श्रवणबेलगोल' नामकी पुस्तक जिसे मिस्टर बी. लेविस राइसने सन् १८८९ में मुद्रित कराया था, अथवा उसका संशोधितसंस्करण १९२३ का छपा हुआ । शिलालेखोंके जो नये नंबर कोष्टक आदिमें दिये हैं वे इसी शोधित संस्करणके नम्बर हैं ।

समंतभद्र बहुत ही खास आचार्योंमेंसे थे। उनकी कीर्ति उनके गुरुकुल अथवा गण गच्छसे ऊपर है; पितृकुलको भी वह उलंघ गई है। और इस लिये, साधनाभावके कारण, यदि हमें उनके गुरुकुलादिका पूरा पता नहीं चलता*तो न सही; हमें यहाँ पर उसकी चिन्ताको छोड़ कर अब आचार्यमहोदयके गुणोंकी ओर ही विशेष ध्यान देना चाहिये—यह मालूम करना चाहिये कि वे कैसे कैसे गुणोंसे विशिष्ट थे और उनके द्वारा धर्म, देश तथा समाजकी क्या कुछ सेवा हुई है।

---

* श्रवणबेल्गोलके दूसरे शिलालेखोंमें, और दूसरे स्थानोंके शिलालेखोंमें भी, कुन्दकुन्दको नन्दिगण तथा देशीय गणका आचार्य लिखा है। कुंदकुंदकी वंशपरम्परामें होनेसे समंतभद्र नन्दिगण अथवा देशीयगणके आचार्य ठहरते हैं। परंतु जैनसिद्धान्त भास्करमें प्रकाशित सेनगणकी पट्टावलीमें आपको सेनगणका आचार्य सूचित किया है। यद्यपि यह पट्टावली पूरी तौर पर पट्टावलीके ढंगसे नहीं लिखी गई और न इसमें सभी आचार्योंका पट्टक्रमसे उल्लेख है। फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि उसमें समन्तभद्रको सेनगणके आचार्योंमें परिगणित किया है। इन दोनोंके विरुद्ध १०८ नंबरका शिलालेख यह बतलाता है कि नंदि और सेनादि भेदोंको लिये हुए यह चार प्रकारका संघभेद भट्टाकलंकदेवके स्वर्गारोहणके बाद उत्पन्न हुआ है और इससे समंतभद्र न तो नन्दिगणके रहते हैं और न सेनगणके; क्योंकि वे अकलंकदेवसे बहुत पहले हो चुके हैं। अकलंकदेवसे पहलेके साहित्यमें इन चार प्रकारके गणोंका कोई उल्लेख भी देखनेमें नहीं आता। इन्द्रनन्दिके 'नीतिसार' और १०५ नंबरके शिलालेखमें इन चारों संघोंका प्रवर्तक 'अर्हद्बलि' आचार्यको लिखा है; परंतु यह सब साहित्य अकलंकदेवसे बहुत ही पीछेका है। इसके सिवाय, तिरुमकूडलु-नरसीपुर ताल्लुकेके शिलालेख नं० १०५ में (E. C. III) समंतभद्रको द्रामिल संघके अन्तर्गत नन्दि संघकी अरुंगल शाखा (अन्वय) का विद्वान् सूचित किया है। ऐसी हालतमें समंतभद्रके गणगच्छादिका विषय कितनी गड़बड़में है इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

गुणादिपरिचय ।

ऊपरके शिलालेखमें 'गुणतो गणीशः' विशेषणके द्वारा समन्तभद्रको गुणोंकी अपेक्षा गणियोंका—संघाधिपति आचार्योंका— ईश्वर (स्वामी) सूचित किया है। साथ ही, यह भी बतलाया है कि, 'आप समन्तात् भद्र' थे—बाहर भीतर सब ओरसे भद्ररूप* थे—अथवा यों कहिये कि आप भद्रपरिणामी थे, भद्रवाक् थे, भद्राकृति थे, भद्रदर्शन थे, भद्रार्थ थे, भद्रावलोकी थे, भद्रव्यवहारी थे, और इस लिये जो लोग आपके पास आते थे वे भी भद्रतामें परिणत हो जाते थे। शायद इन्हीं गुणोंकी वजहसे दीक्षासमय ही, आपका नाम 'समन्तभद्र' रक्खा गया हो, अथवा आप बादको इस नामसे प्रसिद्ध हुए हों और यह आपका गुणप्रत्यय नाम हो। इसमें संदेह नहीं कि, समंतभद्र एक बहुत ही बड़े योगी, त्यागी, तपस्वी और तत्त्वज्ञानी हो गये हैं। आपकी भद्रमूर्ति, तेजःपूर्ण दृष्टि और सारगर्भित उक्ति अच्छे अच्छे मदोन्मत्तोंको नतमस्तक बनानेमें समर्थ थी। आप सदैव ध्यानाध्ययनमें मग्न और दूसरोंके अज्ञान भावको दूर करके उन्हें सन्मार्गकी ओर लगाने तथा आत्मोन्नतिके पथ पर अग्रसर करनेके लिये सावधान रहते थे। जैनधर्म और जैन सिद्धान्तोंके मर्मज्ञ होनेके सिवाय आप तर्क, व्याकरण, छंद, अलंकार और काव्यकोषादि ग्रंथोंमें पूरी तौरसे निष्णात थे। आपकी अलौकिक प्रतिभाने तात्कालिक ज्ञान और विज्ञानके प्रायः सभी विषयों पर अपना अधिकार जमा लिया था। यद्यपि, आप संस्कृत, प्राकृत, कनड़ी और तामिल आदि कई भाषाओंके पारंगत विद्वान् थे, फिर भी संस्कृत भाषा पर

---

* 'भद्र' शब्द कल्याण, मंगल, शुभ, श्रेष्ठ, साधु, मनोज्ञ, क्षेम, प्रसन्न और सानुकम्प आदि अर्थोंमें व्यवहृत होता है।

आपका विशेष अनुराग तथा प्रेम था और उसमें आपने जो असाधारण योग्यता प्राप्त की थी वह विद्वानोंसे छिपी नहीं है। अकेली 'स्तुतिविद्या' ही आपके अद्वितीय शब्दाधिपत्यको अथवा शब्दोंपर आपके एकाधिपत्यको सूचित करती है। आपकी जितनी कृतियाँ अब तक उपलब्ध हुई हैं वे सब संस्कृतमें ही हैं। परंतु इससे किसीको यह न समझ लेना चाहिऐ कि दूसरी भाषाओंमें आपने ग्रंथरचना न की होगी, की जरूर है; क्योंकि कनड़ी भाषाके प्राचीन कवियोंमें सभीने, अपने कनड़ी काव्योंमें उत्कृष्ट कविके रूपमें आपकी भूरि भूरि प्रशंसा की है *। और तामिल देशमें तो आप उत्पन्न ही हुए थे, इससे तामिल भाषा आपकी मातृभाषा थी। उसमें ग्रंथरचनाका होना स्वाभाविक ही है। फिर भी संस्कृत भाषाके साहित्यपर आपकी अटल छाप थी। दक्षिण भारतमें उच्च कोटिके संस्कृत ज्ञानको प्रोत्तेजन, प्रोत्साहन और प्रसारण देनेवालोंमें आपका नाम खास तौरसे लिया जाता है। आपके समयसे संस्कृत साहित्यके इतिहासमें एक खासयुगका प्रारंभ होता है ×; और इसीसे संस्कृत साहित्यके इतिहासमें आपका नाम अमर है। सचमुच ही आपकी विद्याके आलोकसे एक बार सारा भारतवर्ष आलोकित हो चुका है। देशमें जिस समय बौद्धादिकोंका

* मिस्टर एस० एस० रामस्वामी आय्यंगर, एम० ए० भी अपनी 'स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म' नामकी पुस्तकमें, बम्बई गजेटियर, जिल्द पहली, भाग दूसरा, पृष्ठ ४०६ के आधारपर लिखते हैं कि 'दक्षिण भारतमें समंतभद्रका उदय, न सिर्फ दिगम्बर सम्प्रदायके इतिहासमें ही बल्कि, संस्कृत साहित्यके इतिहासमें भी एक खास युगको अंकित करता है।' यथा—

Samantbhadra's appearence in South India marks an epoch not only in the annals of Digambar Tradition, but also in the history of Sanskrit literature.

× देखो 'हिस्टरी आफ कनडीज लिटरेचर' तथा 'कर्णाटककविचरित।'

प्रवल आतंक छाया हुआ था और लोग उनके नैरात्म्यवाद, शून्यवाद क्षणिकवादादि सिद्धान्तोंसे संत्रस्त थे—घबरा रहे थे—अथवा उन एकान्त गर्तोंमें पड़कर अपना आत्मपतन करनेके लिये विवश हो रहे थे उस समय दक्षिण भारतमें उदय होकर आपने जो लोकसेवा की है वह बड़े ही महत्त्वकी तथा चिरस्मरणीय है। और इस लिये शुभचंद्राचार्यने जो आपको 'भारतभूषण'[1] लिखा है वह बहुत ही युक्तियुक्त जान पड़ता है।

स्वामी समंतभद्र, यद्यपि, बहुत से उत्तमोत्तम गुणोंके स्वामी थे, फिर भी कवित्व, गमकत्व, वादित्व और वाग्मित्व नामके चार गुण आपमें असाधारण कोटिकी योग्यता वाले थे–ये चारों ही शक्तियाँ आपमें खास तौरसे विकाशको प्राप्त हुई थीं—और इनके कारण आपका निर्मल यश दूर दूर तक चारों ओर फैल गया था। उस वक्त जितने वादी[2], वाग्मी[3], कवि[4] और गमक[5] थे उन सब पर आपके यशकी

१ समन्तभद्रो भद्रार्थो भातु भारतभूषणः।—पांडवपुराण।

२ 'वादी विजयवाग्वृत्तिः'—जिसकी वचनप्रवृत्ति विजयकी ओर हो उसे 'वादी' कहते हैं।

३ 'वाग्मी तु जनरंजनः'—जो अपनी वाक्पटुता तथा शब्दचातुरीसे दूसरोंको रंजायमान करने अथवा अपना प्रेमी बना लेनेमें निपुण हो उसे 'वाग्मी' कहते हैं।

४ 'कविनूतनसंदर्भः—जो नये नये संदर्भ–नई नई मौलिक रचनाएँ तयार करनेमें समर्थ हो वह कवि है, अथवा प्रतिभा ही जिसका उज्जीवन है, जो नानावर्णनाओंमें निपुण है, कृती है, नाना अभ्यासोंमें कुशलबुद्धि है और व्युत्पत्तिमान (लौकिक व्यवहारोंमें कुशल) है उसे भी कवि कहते हैं; यथा—

प्रतिभोज्जीवनो नानावर्णना निपुणःकृती।
नानाभ्यासकुशाग्रीयमति व्युत्पत्तिमान्कविः।

—अलंकारचिन्तामणि।

५ 'गमकः कृतिभेदकः'—जो दूसरे विद्वानोंकी कृतियोंके मर्मको समझनेवाला उनकी तहतक पहुँचनेवाला हो और दूसरोंको उनका मर्म तथा रहस्य

छाया पड़ी हुई थी—आपका यश चूडामणिके तुल्य सर्वोपरि था—और वह वादको भी बड़े बड़े विद्वानों तथा महान् आचार्योंके द्वारा शिरोधार्य किया गया है। जैसा कि, आजसे ग्यारह सौ वर्ष पहलेके विद्वान्, भगवज्जिनसेनाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि ।
यशःसामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥ ४४ ॥

—आदिपुराण ।

भगवान् समंतभद्रके इन वादित्व और कवित्वादि गुणोंकी लोकमें कितनी धाक थी, विद्वानोंके हृदय पर इनका कितना सिक्का जमा हुआ था और वे वास्तवमें कितने अधिक महत्त्वको लिये हुए थे, इन सब बातोंका कुछ अनुभव करानेके लिये नीचे कुछ प्रमाणवाक्योंका उल्लेख किया जाता है—

(१) यशोधरचरितके कर्ता और विक्रमकी ११ वीं शताब्दीके विद्वान् महाकवि वादिराजसूरि, समंतभद्रको ' उत्कृष्टकाव्य माणिक्यों-का रोहण (पर्वत)' सूचित करते हैं और साथ ही यह भावना करते हैं कि वे हमें सूक्तिरूपी रत्नोंके समूहको प्रदान करनेवाले हों—

श्रीमत्समंतभद्राद्याः काव्यमाणिक्यरोहणाः ।
सन्तु नः संततोत्कृष्टाः सूक्तिरत्नोत्करप्रदाः ॥

(२) ' ज्ञानार्णव ' ग्रंथके रचयिता योगी श्रीशुभचंद्राचार्य, समंतभद्रको ' कवीन्द्रभास्वान् ' विशेषणके साथ स्मरण करते हुए, लिखते हैं कि जहाँ आप जैसे कवीन्द्र सूर्योंकी निर्मल सूक्तिरूपी

समझानेमें प्रवीण हो उसे 'गमक' कहते हैं। निश्चयात्मक प्रत्ययजनक और संशय-च्छेदी भी उसीके नामान्तर हैं।

किरणें स्फुरायमान हो रही हैं वहाँ वे लोग खद्योत या जुगनूकी तरह हँसीको ही प्राप्त होते हैं जो थोड़ेसे ज्ञानको पाकर उद्धत हैं—कविता करने लगते हैं—और इस तरहपर उन्होंने समंतभद्रके मुकाबलेमें अपनी कविताकी बहुत ही लघुता प्रकट की है—

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां
स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मयः ।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां,
न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः ॥ १४ ॥

(३) अलंकारचिन्तामणिमें, अजितसेनाचार्यने समंतभद्रको नमस्कार करते हुए, उन्हें ' कविकुंजर ' ' मुनिवंद्य ' और ' जनानन्द ' (लोगोंको आनंदित करनेवाले) लिखा है और साथ ही यह प्रकट किया है कि मैं उन्हें अपनी ' वचनश्री ' के लिये—वचनोंकी शोभा बढ़ाने अथवा उनमें शक्ति उत्पन्न करनेके लिये—नमस्कार करता हूँ—

श्रीमत्समन्तभद्रादिकविकुंजरसंचयम् ।
मुनिवंद्यं जनानन्दं नमामि वचनश्रियै ॥ ३ ॥

(४) वरांगचरित्रमें, परवादि-दन्ति-पंचानन श्रीवर्धमानसूरि समंतभद्रको ' महाकवीश्वर ' और ' सुतर्कशास्त्रामृतसारसागर ' प्रकट करते हुए, यह सूचित करते हैं कि समंतभद्र कुवादियों (प्रतिवादियों) की विद्यापर जयलाभ करके यशस्वी हुए थे । साथ ही, यह भावना करते हैं कि वे महाकवीश्वर मुझ कविताकांक्षीपर प्रसन्न होवें—अर्थात्, उनकी विद्या मेरे अन्तःकरणमें स्फुरायमान होकर मुझे सफल मनोरथ करें—

समन्तभद्रादिमहाकवीश्वराः कुवादिविद्याजयलब्धकीर्तयः ।
सुतर्कशास्त्रामृतसारसागरा मयि प्रसीदन्तु कवित्वकांक्षिणि ॥७॥

(५) भगवज्जिनसेनाचार्यने, आदिपुराणमें, समंतभद्रको नमस्कार करते हुए, उन्हें 'महान् कविवेधा' कवियोंको उत्पन्न करनेवाला महान् विधाता अर्थात्, महाकवि-ब्रह्मा लिखा है और यह प्रकट किया है कि उनके वचनरूपी वज्रपातसे कुमतरूपी पर्वत खंड खंड हो गये थे ।—

नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे ।
यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्रयः ॥

(६) ब्रह्म अजितने, अपने 'हनुमच्चरित्र'में, समन्तभद्रका जयघोष करते हुए, उन्हें 'भव्यरूपी कुमुदोंको प्रफुल्लित करनेवाला चंद्रमा' लिखा है और साथ ही यह प्रकट किया है कि वे 'दुर्वादियोंकी वादरूपी खाज (खुजली) को मिटानेके लिये अद्वितीय महौषधि' थे—उन्होंने कुवादियोंकी बढ़ती हुई वादाभिलाषाको ही नष्ट कर दिया था—

जीयात्समन्तभद्रोऽसौ भव्यकैरवचंद्रमाः ।
दुर्वादिवादकंडूनां शमनैकमहौषधिः ॥ १९ ॥

(७) श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० १०५ (२५४) में, जो शक संवत् १३२० का लिखा हुआ है, समंतभद्रको 'वादीभवज्रांकुशसूक्तिजाल' विशेषणके साथ स्मरण किया है—अर्थात्, यह सूचित किया है कि समंतभद्रकी सुन्दर उक्तियोंका समूह वादीरूपी हस्तियोंको वशमें करनेके लिये वज्रांकुशका काम देता है । साथ ही, यह भी प्रकट किया है कि समन्तभद्रके प्रभावसे यह संपूर्ण पृथ्वी दुर्वादकोंकी वार्तासे भी विहीन हो गई—उनकी कोई बात भी नहीं करता—

समन्तभद्रस्स चिराय जीया—
द्वादीभवज्रांकुशसूक्तिजालः ।
यस्य प्रभावात्सकलावनीयं
वंध्यास दुर्वादुकवार्त्तयापि ॥

इस पद्यके बाद, इसी शिलालेखमें, नीचे लिखा पद्य भी दिया हुआ है और उसमें समन्तभद्रके वचनोंको 'स्फुटरत्नदीप' की उपमा दी है और यह बतलाया है कि वह देदीप्यपान रत्नदीपक उस त्रैलोक्यरूपी संपूर्ण महलको निश्चित रूपसे प्रकाशित करता है जो स्यात्कारमुद्राको लिये हुए समस्तपदार्थोंसे पूर्ण है और जिसके अन्तराल दुर्वादकोंकी उक्तिरूपी अन्धकारसे आच्छादित हैं—

स्यात्कारमुद्रितसमस्तपदार्थपूर्णं
त्रैलोक्यहर्म्यमखिलं स खलु व्यनक्ति ।
दुर्वादुकोक्तितमसा पिहितान्तरालं
सामन्तभद्रवचनस्फुटरत्नदीपः ॥

४० वें शिलालेखमें भी, जिसके पद्य ऊपर उद्धृत किये गये हैं, समन्तभद्रको 'स्यात्कारमुद्रांकिततत्त्वदीप' और 'वादिसिंह' लिखा है। इसी तरह पर श्वेताम्बरसम्प्रदायके प्रधान आचार्य **श्रीहरिभद्र-सूरिने**, अपनी 'अनेकान्तजयपताका' में समंतभद्रका 'वादिमुख्य' विशेषण दिया है और उसकी स्वोपज्ञ टीकामें लिखा है—"**आह च वादिमुख्यः समंतभद्रः**।"

(८) गद्यचिन्तामणिमें, महाकवि **वादीभसिंह** समंतभद्र मुनीश्वरको 'सरस्वतीकी स्वच्छंदविहारभूमि' लिखते हैं, जिससे यह सूचित होता है कि समंतभद्रके हृदय-मंदिरमें सरस्वती देवी विना

किसी रोक टोकके पूरी आजादीके साथ विचरती थी और इस लिये समंतभद्र असाधारण विद्याके धनी थे और उनमें कवित्व वाग्मित्वादि शक्तियाँ उच्च कोटिके विकाशको प्राप्त हुई थीं यह स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है। साथ ही यह भी प्रकट करते हैं कि उनके वचनरूपी वज्रके निपातसे प्रतिपक्षी सिद्धान्तरूपी पर्वतोंकी चोटियाँ खंड खंड हो गई थीं—अर्थात् समन्तभद्रके आगे, वड़े वड़े प्रतिपक्षी सिद्धान्तोंका प्रायः कुछ भी गौरव नहीं रहा था और न उनके प्रतिपादक प्रतिवादीजन ऊँचा मुँह करके ही सामने खड़े हो सकते थे—

सरस्वतिस्वैरविहारभूमयः समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वराः ।
जयन्ति वाग्वज्रनिपातपाटितप्रतीपराद्धान्तमहीध्रकोटयः ॥

(९) श्रवणवेल्गोलके शिलालेख नं० १०८ में, जो शक सं० १३५५ का लिखा हुआ है और जिसका नया नंवर २५८ है, मंगराजकवि सूचित करते हैं कि समतभद्र वलाकपिच्छके वाद '**जिनशासनके प्रणेता**' हुए हैं, वे '**भद्रमूर्ति**' थे और उनके वचनरूपी वज्रके कठोर पातसे प्रतिवादीरूपी पर्वत चूर चूर हो गये थे—कोई प्रतिवादी उनके सामने नहीं ठहरता था—

समन्तभद्रोऽजनि भद्रमूर्तिस्ततः प्रणेता जिनशासनस्य ।
यदीयवाग्वज्रकठोरपातश्चूर्णीचकार प्रतिवादिशैलान् ॥

(१०) समंतभद्रके सामने प्रतिवादियोंकी—कुवादियोंकी क्या हालत होती थी, और वे कैसे नम्र अथवा विषण्ण और किंकर्तव्यविमूढ वन जाते थे, इसका कुछ आभास अलंकार-चिन्तामणिमें उद्धृत किये हुए निम्न दो पद्योंसे मिलता है—

कुवादिनः स्वकान्तानां निकटे परुषोक्तयः ।
समन्तभद्रयत्यग्रे पाहि पाहीति सूक्तयः ॥ ४–३१५

श्रीमत्समन्तभद्राख्ये महावादिनि चागते ।
कुवादिनोऽलिखन्भूमिमंगुष्ठैरानताननाः ॥ ५-१५६

पहले पद्यसे यह सूचित होता है कि कुवादीजन अपनी स्त्रियोंके निकट तो कठोर भाषण किया करते थे—उन्हें अपनी गर्वोक्तियाँ सुनाते थे—परंतु जब समंतभद्र यतिके सामने आते थे तो मधुर भाषी बन जाते थे और उन्हें 'पाहि पाहि'—रक्षा करो, रक्षा करो, अथवा आप ही हमारे रक्षक हैं; ऐसे सुन्दर मृदुवचन ही कहते बनता था। और दूसरा पद्य यह बतलाता है कि जब महावादी समंतभद्र (सभास्थान आदिमें) आते थे तो कुवादि जन नीचा मुख करके अँगूठोंसे पृथ्वी कुरेदने लगते थे—अर्थात् उन लोगों पर—प्रतिवादियों पर समंतभद्रका इतना प्रभाव पड़ता था कि वे उन्हें देखते ही विषण्ण वदन हो जाते और किं कर्तव्यविमूढ बन जाते थे।

(११) अजितसेनाचार्यके 'अलंकार-चिन्तामणि' ग्रंथमें और कवि हस्तिमल्लके 'विक्रान्तकौरव' नाटककी प्रशस्तिमें एक पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

अवटुतटमटति झटिति स्फुटपटुवाचाटधूर्जटेर्जिह्वा[1] ।
वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति सति का कथान्येषाम् ॥

इसमें यह बतलाया है कि वादी समन्तभद्रकी उपस्थितिमें, चतुराईके साथ स्पष्ट, शीघ्र और बहुत बोलनेवाले धूर्जटिकी जिह्वा ही जब शीघ्र अपने बिलमें घुस जाती है—उसे कुछ बोल नहीं आता— तो फिर

१ 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' ग्रंथकी प्रशस्तिमें भी, जो शक सं० १२४१ में बनकर समाप्त हुआ है, यह पद्य पाया जाता है, सिर्फ 'धूर्जटेर्जिह्वा' के स्थानमें 'धूर्जटेरपि जिह्वा' यह पाठान्तर कुछ प्रतियोंमें देखा जाता है।

दूसरे विद्वानोंकी तो कथा ही क्या है? उनका अस्तित्व तो समंतभद्रके सामने कुछ भी महत्त्व नहीं रखता ।

इस पद्यसे भी समंतभद्रके सामने प्रतिवादियोंकी क्या हालत होती थी उसका कुछ बोध होता है ।

कितने ही विद्वानोंने इस पद्यमें 'धूर्जटि'को 'महादेव' अथवा 'शिव'का पर्याय नाम समझा है और इस लिये अपने अनुवादोंमें उन्होंने 'धूर्जटि'की जगह महादेव तथा शिव नामोंका ही प्रयोग किया है। परंतु ऐसा नहीं है। भले ही यह नाम, यहाँपर, किसी व्यक्ति विशेषका पर्याय नाम हो, परंतु वह महादेव नामके रुद्र अथवा शिव नामके देवताका पर्याय नाम नहीं है। महादेव न तो समंतभद्रके सम-सामयिक व्यक्ति थे और न समंतभद्रका उनके साथ कभी कोई साक्षात्कार या वाद ही हुआ। ऐसी हालतमें यहाँ 'धूर्जटि'से महादेवका अर्थ निकालना भूलसे खाली नहीं है। वास्तवमें इस पद्यकी रचना केवल समन्तभद्रका महत्त्व ख्यापित करनेके लिये नहीं हुई बल्कि उसमें समंतभद्रके वादविषयकी एक खास घटनाका उल्लेख किया गया है और उससे दो ऐतिहासिक तत्त्वोंका पता चलता है—एक तो यह कि समंतभद्रके समयमें 'धूर्जटि' नामका कोई बहुत बड़ा विद्वान् हुआ है, जो चतुराईके साथ स्पष्ट शीघ्र और बहुत बोलनेमें प्रसिद्ध था; उसका यह विशेषण भी उसके तात्कालिक व्यक्तिविशेष होनेको और अधिकताके साथ सूचित करता है; दूसरे यह कि, समंतभद्रका उसके साथ वाद हुआ, जिसमें वह शीघ्र ही निरुत्तर हो गया और उसे फिर कुछ बोल नहीं आया।

पद्यका यह आशय उसके उस प्राचीन रूपसे और भी ज्यादा स्पष्ट हो जाता है जो, शक सं० १०५० में उत्कीर्ण हुए, मल्लिषेण-

प्रशस्ति नामके ५४ वें (६७ वें) शिलालेखमें पाया जाता है और वह रूप इस प्रकार है—

अवटुतटमटति झटिति स्फुटपटुवाचाटधूर्जटेरपि जिह्वा ।
वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति तव सदसि भूप कास्थान्येषां ॥

इस पद्यमें 'धूर्जटि'के वाद 'अपि' शब्द ज्यादा है और चौथे चरणमें **'सति का कथान्येषां'**की जगह **'तव सदसि भूप कास्थान्येषां'** ये शब्द दिये हुए हैं । साथ ही इसका छंद भी दूसरा है । पहला पद्य 'आर्या' और यह 'आर्यागीति' नामके छंदमें है, जिसके समचरणोंमें बीस बीस मात्राएँ होती हैं । अस्तु; इस पद्यमें पहले पद्यसे जो शब्दभेद है उस परसे यह माळूम होता है कि यह पद्य समंतभद्रकी ओरसे अथवा, उनकी मौजूदगीमें, उनके किसी शिष्यकी तरफसे, किसी राजसभामें, राजाको सम्बोधन करके कहा गया है । वह राजसभा चाहे वही हो जिसमें 'धूर्जटि' को पराजित किया गया है और या वह कोई दूसरी ही राजसभा हो । पहली हालतमें यह पद्य धूर्जटिके निरुत्तर होनेके बाद सभास्थित दूसरे विद्वानोंको लक्ष्य करके कहा गया है और उसमें राजासे यह पूछा गया है कि धूर्जटि जैसे विद्वानकी ऐसी हालत होनेपर अब आपकी सभाके दूसरे विद्वानोंकी क्या आस्था है ? क्या उनमेंसे कोई बाद करनेकी हिम्मत रखता है ? दूसरी हालतमें, यह पद्य समंतभद्रके वादारंभ समयका वचन माळूम होता है और उसमें धूर्जटिकी स्पष्ट तथा गुरुतर पराजयका उल्लेख करके दूसरे विद्वानोंको यह चेतावनी दी गई है कि

---

१ दावणगेरे ताल्लुकके शिलालेख नं० ९० में भी, जो चालुक्य विक्रमके ५३ वें वर्ष, कीलक संवत्सर (ई० सन् ११२८) का लिखा हुआ है, यह पद्य इसी प्रकार दिया है । देखो एपिग्रेफिया कर्णाटिका, जिल्द ११ वीं ।

वे बहुत सोच समझकर वादमें प्रवृत्त हों । शिलालेखमें इस पद्यको समन्तभद्रके वादारंभ-समारंभ समयकी उक्तियोंमें ही शामिल किया है * । परंतु यह पद्य चाहे जिस राजसभामें कहा गया हो, इसमें संदेह नहीं कि इसमें जिस घटनाका उल्लेख किया गया है वह बहुत ही महत्त्वकी जान पड़ती है। ऐसा माल्म होता है कि धूर्जटि† उस वक्त एक बहुत ही बढाचढ़ा प्रसिद्ध प्रतिवादी था, जनतामें उसकी बड़ी धाक थी और वह समंतभद्रके सामने बुरी तरहसे पराजित हुआ था। ऐसे महावादीको लीलामात्रमें परास्त कर देनेसे समन्तभद्रका सिक्का दूसरे विद्वानों पर और भी ज्यादा अंकित हो गया और तबसे यह एक कहावतसी प्रसिद्ध हो गई कि 'धूर्जटि जैसे विद्वान् ही जब समंतभद्रके सामने वादमें नहीं ठहर सकते तब दूसरे विद्वानोंकी क्या सामर्थ्य है जो उनसे वाद करें।'

समन्तभद्रकी वादशक्ति कितनी अप्रतिहत थी और दूसरे विद्वानोंपर उसका कितना अधिक सिक्का तथा प्रभाव था, यह बात ऊपरके अवतरणोंसे बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है, फिर भी हम यहाँ पर इतना और बतला देना चाहते हैं कि समन्तभद्रका वाद-क्षेत्र संकुचित नहीं था। उन्होंने उसी देशमें अपने वादकी विजयदुंदुभि नहीं बजाई जिसमें वे उत्पन्न हुए थे, बल्कि उनकी वादप्रीति, लोगोंके अज्ञान भावको दूर करके उन्हें सन्मार्गकी ओर लगानेकी शुभ भावना और जैन सिद्धा-

* जैसा कि उन उक्तियोंके पहले दिये हुए निम्न वाक्यसे प्रकट है—

"यस्यैवंविधा विद्यावादारंभसंरंभविजृंभिताभिव्यक्तयः सूक्तयः ।"

† आफरेडके 'केटेलॉग' में धूर्जटिको एक 'कवि' Poet लिखा है और कवि अच्छे विद्वानको कहते हैं, जैसा कि इससे पहले फुटनोटमें दिये हुए उसके लक्षणोंसे माल्म होगा।

न्तोंके महत्त्वको विद्वानोंके हृदयपटलपर अंकित कर देनेकी सुरुचि इतनी बढ़ी हुई थी कि उन्होंने सारे भारतवर्षको अपने वादका लीलास्थल बनाया था। वे कभी इस बातकी प्रतीक्षा नहीं करते थे कि कोई दूसरा उन्हें वादके लिये निमंत्रण दे और न उनकी मनःपरिणति उन्हें इस बातमें संतोष करनेकी ही इजाजत देती थी कि जो लोग अज्ञान भावसे मिथ्यात्वरूपी गर्तों (खड्डों) में गिरकर अपना आत्मपतन कर रहे हैं उन्हें वैसा करने दिया जाय। और इस लिये, उन्हें जहाँ कहीं किसी महावादी अथवा किसी बड़ी वादशालाका पता लगता था वे वहीं पहुँच जाते थे और अपने वादका डंका* बजाकर विद्वानोंको स्वतः वादके लिये आह्वान करते थे। डंकेको सुनकर वादीजन, यथानियम, जनताके साथ वादस्थानपर एकत्र हो जाते थे और तब समंतभद्र उनके सामने अपने सिद्धान्तोंका बड़ी ही खूबीके साथ विवेचन करते थे और साथ ही इस बातकी घोषणा कर देते थे कि उन सिद्धान्तोंमेंसे जिस किसी सिद्धान्तपर भी किसीको आपत्ति हो वह वादके लिये सामने आजाय। कहते हैं कि समन्तभद्रके स्याद्वाद न्यायकी तुलामें तुले हुए तत्त्वभाषणको सुनकर लोग मुग्ध हो जाते थे और उन्हें उसका कुछ भी विरोध करते नहीं बनता था—यदि कभी

---

* उन दिनों समन्तभद्रके समयमें–फाहियान (ई० स० ४००) और ह्वेनत्संग (ई० स० ६३०) के कथनानुसार, यह दस्तूर था कि नगरमें किसी सार्वजनिक स्थानपर एक डंका (भेरी या नक्कारा) रक्खा जाता था और जो कोई विद्वान् किसी मतका प्रचार करना चाहता था अथवा वादमें, अपने पाण्डित्य और नैपुण्यको सिद्ध करनेकी इच्छा रखता था वह, वादघोषणाके तौरपर, उस डंकेको बजाता था।

—हिस्टरी आफ क़नडीज़ लिटरेचर ।

कोई मनुष्य अहंकारके वश होकर अथवा नासमझीके कारण कुछ विरोध खड़ा करता था तो उसे शीघ्र ही निरुत्तर हो जाना पड़ता था। इस तरह पर, समंतभद्र भारतके पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, प्रायः सभी देशोंमें, एक अप्रतिद्वंद्वी सिंहकी तरह क्रीडा करते हुए, निर्भयताके साथ वादके लिये घूमे हैं। एक बार आप घूमते हुए 'करहाटक' नगरमें भी पहुँचे थे, जिसे कुछ विद्वानोंने सतारा जिलेका आधुनिक 'कन्हाड[1] या कराड' और कुछने दक्षिणमहाराष्ट्रदेशका 'कोल्हापुर'[2] नगर बतलाया है, और जो उस समय बहुतसे भटों (वीर योद्धाओं) से युक्त था, विद्याका उत्कट स्थान था और साथ ही अल्प विस्तारवाला अथवा जनाकीर्ण था। उस वक्त आपने वहाँके राजा पर अपने वादप्रयोजनको प्रकट करते हुए, उन्हें अपना तद्विषयक जो परिचय, एक पद्यमें, दिया था वह श्रवणबेलगोलके उक्त ५४ वें शिलालेखमें निम्न प्रकारसे संग्रहीत है—

[3]पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितं ॥

---

१ देखो, मिस्टर एडवर्ड पी० राइस बी० ए० रचित 'हिस्टरी आफ कनडीज लिटरेचर' पृ० २३।

२ देखो, मिस्टर बी० लेविस राइसकी 'इंस्क्रिप्शन्स ऐट् श्रवणबेलगोल' नामकी पुस्तक, पृ० ४२; परंतु इस पुस्तकके द्वितीय संशोधित संस्करणमें, जिसे आर० नरसिंहाचारने तैय्यार किया है, शुद्धिपत्रद्वारा 'कोल्हापुर' के स्थानमें 'कन्हाड' बनानेकी सूचना की गई है।

३ यह पद्य ब्रह्म नेमिदत्तके 'आराधनाकथाकोष' में भी पाया जाता है परंतु यह ग्रंथ शिलालेखसे कई सौ वर्ष पीछेका बना हुआ है।

इस पद्यमें दिये हुए आत्म-परिचयसे यह माळूम होता है कि 'कर-हाटक' पहुँचनेसे पहले समन्तभद्रने जिन देशों तथा नगरोंमें वादके लिये विहार किया था उनमें पाटलीपुत्र (पटना) नगर, मालव, (मालवा) सिन्धु तथा ठक्क (पंजाब) देश, कांचीपुर (कांजीवरम्), और वैदिशे (भिलसा) ये प्रधान देश तथा जनपद थे जहाँ उन्होंने वादकी भेरी बजाई थी और जहाँ पर किसीने भी उनका विरोध नहीं

१ कनिंघम साहबने अपनी Ancient Geography (प्राचीन भूगोल) नामकी पुस्तक में 'ठक्क' देशका पंजाब देशके साथ समीकरण किया है (S. I. J. 30); मिस्टर लेविस राइस साहबने भी अपनी श्रवणबेल्गोल-के शिलालेखोंकी पुस्तकमें उसे पंजाब देश लिखा है । और 'हिस्टरी आफ कनडीज लिटरेचर' के लेखक मिस्टर ऐडवर्ड पी० राईस साहबने उसे In the Punjab लिखकर पंजाबका एक देश बतलाया है। परंतु हमारे कितने ही जैन विद्वानोंने 'ठक्क' का 'ढक्क' पाठ बनाकर उसे बंगाल प्रदेशका 'ढाका' सूचित किया है, जो ठीक नहीं है । पंजाबमें, 'अटक' एक प्रदेश है । संभव है उसीकी वजहसे प्राचीन कालमें सारा पंजाब 'ठक्क' कहलाता हो, अथवा उस खास प्रदेशका ही नाम ठक्क हो जो सिंधुके पास है। पद्यमें भी 'सिंधु' के बाद एक ही समस्त पदमें ठक्कको दिया है इससे वह पंजाब देश या उसका अटकवाळा प्रदेश ही माळूम होता है—बंगाल या ढाका नहीं। पंजाब-के उस प्रदेशमें 'ठट्ठा' आदि और भी कितने ही नाम इसी किसम के पाये जाते हैं। प्राक्तनविमर्षविचक्षण राव बहादुर आर० नरसिंहाचार एम० ए० ने भी ठक्कको पंजाब देश ही लिखा है ।

२ विदिशाके प्रदेशको वैदिश कहते हैं जो दशार्ण देशकी राजधानी थी और जिसका वर्तमान नाम भिलसा है । राइस साहबने 'कांचीपुरे वैदिशे' का अर्थ to the out of the way Kanchi किया था जो गलत था और जिसका सुधार श्रवणबेल्गोल शिलालेखोंके संशोधित संस्करणमें कर दिया गया है । इसी तरह पर आय्यंगर महाशयने जो उसका अर्थ in the far off city of Kanchi किया है वह भी ठीक नहीं है ।

किया था । साथ ही, यह भी माळूम होता है कि सबसे पहले जिस प्रधान नगरके मध्यमें आपने वादकी भेरी बजाई थी वह ‘ पाटलीपुत्र ’ नामका शहर था, जिसे आजकल ‘ पटना ’ कहते हैं और जो सम्राट् चंद्रगुप्त (मौर्य) की राजधानी रह चुका है ।

‘ राजावलीकथे ’ नामकी कनडी ऐतिहासिक पुस्तकमें भी समंतभद्रका यह सब आत्मपरिचय दिया हुआ है—विशेषता सिर्फ इतनी ही है कि उसमें करहाटकसे पहले ‘ कर्णाट ’ नामके देशका भी उल्लेख है, ऐसा मिस्टर लेविस राइस साहब अपनी ‘ इन्स्क्रिप्शन्स ऐट् श्रवणबेलगोल ’ नामक पुस्तककी प्रस्तावनामें सूचित करते हैं । परंतु इससे यह माळूम न हो सका कि राजावली कथेका वह सब परिचय केवल कनडीमें ही दिया हुआ है या उसके लिये उक्त संस्कृत पद्यका भी, प्रमाण रूपसे उल्लेख किया गया है । यदि वह परिचय केवल कनडीमें ही है तब तो दूसरी बात है, और यदि उसके साथमें संस्कृत पद्य भी लगा हुआ है, जिसकी बहुत कुछ संभावना है, तो उसमें करहाटकसे पहले ‘ कर्णाट’का समावेश नहीं बन सकता; वैसा किये जाने पर छंदोभंग हो जाता है और गलती साफ तौरसे माळूम होने लगती है । हाँ, यह हो सकता है कि पद्यका तीसरा चरण ही उसमें ‘ कर्णाटे करहाटके बहुभटे विद्योत्कटे संकटे ’ इस प्रकारसे दिया हुआ हो । यदि ऐसा है तो यह

१ हमारी इस कल्पनाके बाद, बाबू छोटेलालजी जैन, एम० आर० ए० एस० कलकत्ताने, ‘कर्णाटक शब्दानुशासन’की लेविस राइस लिखित भूमिकाके आधार पर, एक अधूरासा नोट लिखकर हमारे पास भेजा है । उसमें समन्तभद्रके परिचयका डेढ पद्य दिया है, और उसे ‘ राजावलिकथे’का बतलाया है, जिसमेंसे एक पद्य तो ‘ कांच्यां नग्नाटकोहं ’ वाला है और बाकीका आधा पद्य इस प्रकार है—

कर्णाटे करहाटके बहुभटे विद्योत्कटे संकटे
वादार्थं विजहार संप्रतिदिनं शार्दूलविक्रीडितम् ।

कहा जा सकता है कि वह उक्त पद्यका दूसरा रूप है जो करहाटकके बाद किसी दूसरी राजसभामें कहा गया होगा । परंतु वह दूसरी राजसभा कौनसी थी अथवा करहाटकके बाद समंतभद्रने और कहाँ कहाँ पर अपनी वादभेरी बजाई है, इन सब बातोंके जाननेका इस समय साधन नहीं है । हाँ, राजावलीकथे आदिसे इतना जरूर मालूम होता है कि समंतभद्र कौशाम्बी[1], मणुवकहल्ली, लाम्बुश (?), पुण्ड्रोड्र[2], दशपुर[3] और वाराणसी (बनारस) में भी कुछ कुछ समय तक रहे हैं । परंतु करहाटक पहुँचनेसे पहले रहे हैं या पीछे, यह कुछ ठीक मालूम नहीं हो सका ।

बनारसमें आपने वहाँके राजाको सम्बोधन करके यह वाक्य भी कहा था कि—

' राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी ।[4] '

अर्थात्—हे राजन् मैं जैननिर्ग्रन्थवादी हूँ, जिस किसीकी भी शक्ति मुझसे वाद करनेकी हो वह सन्मुख आकर वाद करे ।

और इससे आपकी वहाँपर भी स्पष्ट रूपसे वादघोषणा पाई जाती है । परन्तु बनारसमें आपकी वादघोषणा ही होकर नहीं रह गई, बल्कि वाद भी हुआ जान पड़ता है जिसका उल्लेख तिरुमकूडलु-

---

१ अलाहाबादके निकट यमुना तट पर स्थित नगर; यहाँ एक समय बौद्ध धर्मका बड़ा प्रचार रहा है । यह वत्सदेशकी राजधानी थी ।

२ उत्तर बंगालका पुण्ड्र नगर ।

३ कुछ विद्वानोंने ' दशपुर'को आधुनिक ' मंदसौर ' (मालवा) और कुछने ' धौलपुर ' लिखा है; परंतु पम्परामायण (७-३५) में उसे 'उज्जयिनी' के पासका नगर बतलाया है और इसलिये वह ' मन्दसौर ' ही मालूम होता है ।

४ यह ' कांच्यां नमाटकोहं' पद्यका चौथा चरण है ।

नरसीपुर ताल्लुकेके शिलालेख नं० १०५ के निम्नपद्यसे, जो शक सं० ११०५ का लिखा हुआ है, पाया जाता है—

समन्तभद्रस्संस्तुत्यः कस्य न स्यान्मुनीश्वरः ।
वाराणसीश्वरस्याग्रे निर्जिता येन विद्विषः ॥

इस पद्यमें लिखा है कि 'वे समन्तभद्र मुनीश्वर जिन्होंने वाराणसी (वनारस) के राजाके सामने शत्रुओंको—मिथ्यैकान्तवादियोंको—परास्त किया है किसके स्तुतिपात्र नहीं हैं? अर्थात्, सभीके द्वारा स्तुति किये जानेके योग्य हैं।

समन्तभद्रने अपनी एक ही यात्रामें इन सब देशों तथा नगरोंमें परिभ्रमण किया है अथवा उन्हें उसके लिये अनेक यात्राएँ करनी पड़ी हैं, इस बातका यद्यपि, कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता फिर भी अनुभवसे और आपके जीवनकी कुछ घटनाओंसे यह जरूर मालूम होता है कि आपको अपनी उद्देशसिद्धिके लिये एकसे अधिक बार यात्राके लिये उठना पड़ा है—'ठक' से कांची पहुँच जाना और फिर वापिस वैदिश तथा करहाटकको आना भी इसी बातको सूचित करता है। वनारस आप कांचीसे चलकर ही, दशपुर होते हुए, पहुँचे थे।

समन्तभद्रके सम्बंधमें यह भी एक उल्लेख मिलता है कि वे 'पद्र्धिक' थे—चारण ऋद्धिसे युक्त थे—अर्थात् उन्हें तपके प्रभावसे चलनेकी

१ 'तत्त्वार्थ-राजवार्तिक'में भट्टाकलंकदेवने चारणर्द्धियुक्तोंका जो कुछ स्वरूप दिया है वह इस प्रकार है—'क्रियाविषया ऋद्धिर्द्विविधा चारणत्वमाकाशगामित्वं चेति। तत्र चारणा अनेकविधाः जलजंघातंतुपुष्पपत्रश्रेण्यग्निशिखाद्यालंबनगमनाः। जलमुपादाय वाप्यादिष्वप्कायान् जीवानविराधयंतः भूमाविव पादोद्धारनिक्षेपकुशला जलचारणाः। भुव उपर्याकाशे चतुरंगुलप्रमाणे जंघोत्क्षेपनिक्षेपशीघ्रकरणपटवो बहुयोजनशताशु गमनप्रवणा जंघचारणाः। एवमितरे च वेदितव्याः।' —अध्याय ३, सूत्र ३६।

ऐसी शक्ति प्राप्त हो गई थी जिससे वे, दूसरे जीवोंको बाधा न पहुँचाते हुए, शीघ्रताके साथ सैकड़ों कोस चले जाते थे। उस उल्लेखके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं—

....समन्तभद्राख्यो मुनिर्जीयात्पदर्द्धिकः ॥

—विक्रान्तकौरव प्र० ।

....समंतभद्रार्यो जीयात्प्राप्तपदर्द्धिकः ।

—जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय ।

....समंतभद्रस्वामिगलु पुनर्दीक्षेगोण्डु तपस्सामर्थ्यदिं
चतुरङ्गुलचारणत्वमं पडेदु........ ।

—राजावलीकथे ।

ऐसी हालतमें समन्तभद्रके लिये सुदूरदेशोंकी लम्बी यात्राएँ करना भी कुछ कठिन नहीं था । जान पड़ता है इसीसे वे भारतके प्रायः सभी प्रान्तोंमें आसानीके साथ घूम सके हैं ।

समंतभद्रके इस देशाटनके सम्बन्धमें मिस्टर एम. एस. रामस्वामी आय्यंगर, अपनी 'स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म' नामकी पुस्तकमें लिखते हैं—

"...It is evident that he (Samantbhadra) was a great Jain missionary who tried to spread far and wide Jain doctrines and morals and that he met with no opposition from other sects wherever he went."

अर्थात्—यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र एक बहुत बड़े जैनधर्मप्रचारक थे, जिन्होंने जैनसिद्धान्तों और जैन आचारोंको दूर दूर तक विस्तारके साथ फैलानेका उद्योग किया है, और यह कि जहाँ कहीं वे गये हैं

उन्हें दूसरे सम्प्रदायोंकी तरफसे किसी भी विरोधका सामना करना नहीं पड़ा।

'हिस्टरी आफ़ कनडीज लिटरेचर' के लेखक—कनड़ी साहित्यका इतिहास लिखनेवाले—मिस्टर एडवर्ड पी० राइस साहब समंतभद्रको एक तेजःपूर्ण प्रभावशाली वादी लिखते हैं और यह प्रकट करते हैं कि वे सारे भारतवर्षमें जैनधर्मका प्रचार करनेवाले एक महान् प्रचारक थे। साथ ही, यह भी सूचित करते हैं कि उन्होंने वादभेरी बजानेके उस दस्तूरसे पूरा लाभ उठाया है, जिसका उल्लेख पीछे एक फुटनोटमें किया गया है, और वे बड़ी शक्तिके साथ जैनधर्मके 'स्याद्वाद-सिद्धान्त' को पुष्ट करनेमें समर्थ हुए हैं *।

यहाँ तकके इस सब कथनसे स्वामी समंतभद्रके असाधारण गुणों, उनके प्रभाव और धर्मप्रचारके लिये उनके देशाटनका कितना ही हाल तो माऌम हो गया, परंतु अभी तक यह माऌम नहीं हो सका कि समंतभद्रकें पास वह कौनसा मोहन-मंत्र था जिसकी वजहसे वे

---

* He (Samantbhadra) was a brilliant disputant, and a great preacher of the Jain religion throughout India.........It was the custom in those days, alluded to by Fâ Hian (400) and Hiven Tsang (630) for a drum to be fixed in a public place in the city, and any learned man, wishing to propagate a doctrine or prove his erudition and skill in debate, would strike it by way of challenge of disputation,...Samantbhadra made full use of this custom, and powerfully maintained the Jain doctrine of Syâdvâda.

हमेशा इस बातके लिये खुशकिस्मत × रहे हैं कि विद्वान् लोग उनकी वाद्घोषणाओं और उनके तात्त्विक भाषणोंको चुपकेसे सुन लेते थे और उन्हें उनका प्रायः कोई विरोध करते नहीं बनता था ।—वादका तो नाम ही ऐसा है जिससे ख्वाहमख्वाह विरोधकी आग भड़कती है; लोग अपनी मानरक्षाके लिये, अपने पक्षको निर्बल समझते हुए भी, उसका समर्थन करनेके लिये खड़े हो जाते हैं और दूसरेकी युक्ति-युक्त बातको भी मान नहीं देते; फिर भी समंतभद्रके साथमें ऐसा प्रायः कुछ भी न होता था, यह क्यों ?—अवश्य ही इसमें कोई खास रहस्य है जिसके प्रकट होनेकी जरूरत है और जिसको जाननेके लिये पाठक भी उत्सुक होंगे ।

जहाँ तक हमने इस विषयकी जाँच की है—इस मामले पर गहरा विचार किया है और हमें समंतभद्रके साहित्यादिपरसे उसका अनुभव हुआ है उसके आधारपर हमें इस बातके कहनेमें जरा भी संकोच नहीं होता कि, समंतभद्रकी इस सफलताका सारा रहस्य उनके अन्तःकरणकी शुद्धता, चारित्रकी निर्मलता और उनकी वाणीके महत्त्वमें संनिहित है; अथवा यों कहिये कि यह सब अंतःकरण तथा चारित्रकी शुद्धिको लिये हुए, उनके वचनोंका ही माहात्म्य है जो वे दूसरों पर अपना इस प्रकार सिक्का जमा सके हैं । समंतभद्रकी जो कुछ भी वचनप्रवृत्ति होती थी वह सब प्रायः दूसरोंकी हितकामनाको ही लिये हुए होती थी । उसमें उनके लौकिक स्वार्थकी अथवा अपने अहंकारको पुष्ट करने और दूसरोंको नीचा दिखानेरूप कुत्सित

× मिस्टर आय्यंगरने भी आपको 'ever fortunate' 'सदा भाग्यशाली' लिखा है । S. in S. I. Jainism, 29.

भावनाकी गंध तक भी नहीं रहती थी। वे स्वयं सन्मार्ग पर आरूढ थे और यह चाहते थे कि दूसरे लोग भी सन्मार्गको पहचानें और उस पर चलना आरंभ करें। साथ ही, उन्हें दूसरोंको कुमार्गमें फँसा हुआ देखकर बड़ा ही खेद* तथा कष्ट होता था और इस लिये उनका वाक्प्रयत्न सदा उनकी इच्छाके अनुकूल ही रहता था और वे उसके द्वारा ऐसे लोगोंके उद्धारका अपनी शक्तिपर उद्योग किया करते थे। ऐसा मालूम होता है कि स्वात्महितसाधनके बाद दूसरोंका हितसाधन करना ही उनके लिये एक प्रधान कार्य था और वे बड़ी ही योग्यताके साथ उसका संपादन करते थे। उनकी वाक्परिणति सदा क्रोधसे शून्य रहती थी, वे कभी किसीको अपशब्द नहीं कहते थे, न दूसरोंके अपशब्दोंसे उनकी शांति भंग होती थी; उनकी आँखोंमें कभी सुर्खी नहीं आती थी; हमेशा हँसमुख तथा प्रसन्नवदन रहते थे; बुरी भावनासे प्रेरित होकर दूसरोंके व्यक्तित्व पर कटाक्ष करना उन्हें नहीं आता था और मधुरभाषण तो उनकी प्रकृतिमें ही दाखिल था। यही वजह थी कि कठोर भाषण करनेवाले भी उनके सामने आकर मृदुभाषी बन जाते थे, अपशब्दमदान्धोंको भी उनके आगे बोल तक नहीं आता था और उनके 'वज्रपात'

---

* आपके इस खेदादिको प्रकट करनेवाले तीन पद्य, नमूनेके तौर पर, इस प्रकार हैं—

मद्यांगवद्भूतसमागमेज्ञः शक्त्यन्तरव्यक्तिरदैवसृष्टिः ।
इत्यात्मशिश्नोदरपुष्टितुष्टैर्निर्ह्रीभयैर्हा ! मृदवः प्रलब्धाः ॥ ३५ ॥
दृष्टेऽविशिष्टे जननादिहेतौ विशिष्टता का प्रतिसत्त्वमेषां ।
स्वभावतः किं न परस्य सिद्धिरतावकानामपि हा ! प्रपातः ॥ ३६ ॥
स्वच्छन्दवृत्तेर्जगतः स्वभावादुच्चैरनाचारपथेष्वदोषं ।
निर्घुष्य दीक्षासममुक्तिमानास्त्वद्दृष्टिबाह्या बत ! विभ्रमन्ति ॥ ३७ ॥
—युक्त्यनुशासन ।

तथा 'वज्रांकुश' की उपमाको लिये हुए वचन भी लोगोंको अप्रिय मालूम नहीं होते थे ।

समंतभद्रके वचनोंमें एक खास विशेषता यह भी होती थी कि वे स्याद्वाद न्यायकी तुलामें तुले हुए होते थे और इस लिये उनपर पक्षपातका भूत कभी सवार होने नहीं पाता था । समंतभद्र स्वयं परीक्षाप्रधानी थे, वे कदाग्रहको विलकुल पसंद नहीं करते थे, उन्होंने भगवान् महावीर तककी परीक्षा की है और तभी उन्हें 'आप्त' रूपसे स्वीकार किया है । वे दूसरोंको भी परीक्षाप्रधानी होनेका उपदेश देते थे—उनकी सदैव यही शिक्षा रहती थी कि किसी भी तत्त्व अथवा सिद्धान्तको, विना परीक्षा किये, केवल दूसरोंके कहनेपर ही न मान लेना चाहिये बल्कि समर्थ युक्तियोंद्वारा उसकी अच्छी तरहसे जाँच करनी चाहिये—उसके गुणदोषोंका पता लगाना चाहिये—और तब उसे स्वीकार अथवा अस्वीकार करना चाहिये । ऐसी हालतमें वे अपने किसी भी सिद्धान्तको जबरदस्ती दूसरोंके गले उतारने अथवा उनके सिर मँढ़नेका कभी यत्न नहीं करते थे । वे विद्वानोंको, निष्पक्ष दृष्टिसे, स्व-पर सिद्धान्तों पर खुला विचार करनेका पूरा अवसर देते थे । उनकी सदैव यह घोषणा रहती थी कि किसी भी वस्तुको एक ही पहलूसे—एक ही ओरसे मत देखो, उसे सब ओरसे और सब पहलुओंसे देखना चाहिये, तभी उसका यथार्थ ज्ञान हो सकेगा । प्रत्येक वस्तुमें अनेक धर्म अथवा अंग होते हैं—इसीसे वस्तु अनेकान्तात्मक है—उसके किसी एक धर्म या अंगको लेकर सर्वथा उसी रूपसे वस्तुका प्रतिपादन करना एकान्त है; और यह एकान्तवाद मिथ्या है, कदाग्रह है, तत्त्वज्ञानका विरोधी है, अधर्म है और अन्याय है । स्याद्वादन्याय इसी एकान्तवादका निषेध

करता है; सर्वथा सत्-असत्-एक-अनेक-नित्य-अनित्यादि संपूर्ण एकान्तोंसे विपक्षीभूत अनेकान्ततत्त्व ही उसका विषय[1] है । वह सप्तभंग[2] तथा नय[3]विवक्षाको लिये रहता है और हेयादेयका विशेषक है; उसका 'स्यात्' शब्द ही वाक्योंमें अनेकान्तताका द्योतक तथा गम्यका विशेषण है और वह 'कथंचित्' आदि शब्दोंके द्वारा भी अभिहित होता है । यथा—

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणं ।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ॥ १०३ ॥
स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किं वृत्तचिद्विधिः ।
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥ १०४ ॥

—देवागम ।

अपनी घोषणाके अनुसार, समंतभद्र प्रत्येक विषयके गुणदोषोंको स्याद्वाद न्यायकी कसौटी पर कसकर विद्वानोंके सामने रखते थे; वे उन्हें बतलाते थे कि एक ही वस्तुतत्त्वमें अमुक अमुक एकान्त पक्षोंके माननेसे

---

१ 'सर्वथासदसदेकानेकनित्यानित्यादिसकलैकान्तप्रत्यनीकानेकान्ततत्त्वविषयः स्याद्वादः' ।—देवागमवृत्तिः ।

२ स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्त्यवक्तव्य, स्यान्नास्त्यवक्तव्य और स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य, ये सात भंग हैं जिनका विशेष स्वरूप तथा रहस्य भगवान् समंतभद्रके 'आप्तमीमांसा' नामक 'देवागम' ग्रंथमें दिया हुआ है ।

३ द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकके विभागको लिये हुए; नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ऐसे सात नय हैं । इनमेंसे पहली तीन 'द्रव्यार्थिक' और शेष 'पर्यायार्थिक' कही जाती हैं । इसी तरह पहली चार 'अर्थनय' और शेष तीन 'शब्दनय' कही जाती हैं । द्रव्यार्थिकको शुद्ध, निश्चय तथा भूतार्थ और पर्यायार्थिकको अशुद्ध व्यवहार तथा अभूतार्थ नय भी कहते हैं । इन नयोंका विस्तृत स्वरूप 'नयचक्र' तथा 'श्लोकवार्तिकादि' ग्रंथोंसे जानना चाहिये ।

क्या क्या अनिवार्य दोष आते हैं और वे दोष स्याद्वादन्यायको स्वीकार करनेपर अथवा अनेकान्तवादके प्रभावसे किस प्रकार दूर हो जाते हैं और किस तरहपर वस्तुतत्त्वका सामंजस्य बैठ जाता है * । उनके समझानेमें दूसरोंके प्रति तिरस्कारका कोई भाव नहीं होता था; वे एक मार्ग भूले हुएको मार्ग दिखानेकी तरह, प्रेमके साथ उन्हें उनकी त्रुटियोंका बोध कराते थे, और इससे उनके भाषणादिकका दूसरोंपर अच्छा ही प्रभाव पड़ता था—उनके पास उसके विरोधका कुछ भी कारण नहीं रहता था । यही वजह थी और यही सब मोहन मंत्र था, जिससे समंतभद्रको दूसरे संप्रदायोंकी ओरसे किसी खास विरोधका सामना प्रायः नहीं करना पड़ा और उन्हें अपने उद्देश्यमें अच्छी सफलताकी प्राप्ति हुई ।

यहाँपर हम इतना और भी प्रकट कर देना उचित समझते हैं कि समंतभद्र स्याद्वादविद्याके अद्वितीय अधिपति थे; वे दूसरोंको स्याद्वाद

---

* इस विषयका अच्छा अनुभव प्राप्त करनेके लिये समंतभद्रका 'आप्तमीमांसा' नामक ग्रंथ देखना चाहिये, जिसे 'देवागम' भी कहते हैं । यहाँपर अद्वैत एकांतपक्षमें दोषोद्भावन करनेवाले आपके कुछ पद्य, नमूनेके तौरपर, नीचे दिये जाते हैं—

अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते ।
कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात्प्रजायते ॥ २४ ॥
कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत् ।
विद्याविद्याद्वयं न स्याद्बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥ २५ ॥
हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद्द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः ।
हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किं ॥ २६ ॥
अद्वैतं न विना द्वैतादहेतुरिव हेतुना ।
संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् ॥ २७ ॥

मार्गपर चलनेका उपदेश ही न देते थे बल्कि उन्होंने स्वयं अपने जीवनको स्याद्वादके रंगमें पूरी तौरसे रंग लिया था और वे उस मार्गके सच्चे तथा पूरे अनुयायी थे *। उनकी प्रत्येक बात अथवा क्रियासे अनेकान्तकी ही ध्वनि निकलती थी और उनके चारों ओर अनेकान्तका ही साम्राज्य रहता था। उन्होंने स्याद्वादका जो विस्तृत वितान या शामियाना ताना था उसकी छत्रछायाके नीचे सभी लोग अपने अज्ञान तापको मिटाते हुए, सुखसे विश्राम कर सकते थे। वास्तवमें समन्तभद्रके द्वारा स्याद्वाद विद्याका बहुत ही ज्यादा विकास हुआ है। उन्होंने स्याद्वादन्यायको जो विशद और व्यवस्थित रूप दिया है वह उनसे पहलेके किसी भी ग्रंथमें नहीं पाया जाता। इस विषयमें, आपका 'आप्तमीमांसा' नामका ग्रंथ, जिसे 'देवागम' स्तोत्र भी कहते हैं, एक खास तथा अपूर्व ग्रंथ है। जैनसाहित्यमें उसकी जोड़का दूसरा कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता। ऐसा मालूम होता है कि समंतभद्रसे पहले जैनधर्मकी स्याद्वाद-विद्या बहुत कुछ लुप्त हो चुकी थी, जनता उससे प्रायः अनभिज्ञ थी और इससे उसका जनता पर कोई प्रभाव नहीं था। समंतभद्रने अपनी असाधारण प्रतिभासे उस विद्याको पुनरुज्जीवित किया और उसके प्रभावको सर्वत्र व्याप्त किया है। इसीसे विद्वान् लोग

* भट्टाकलंकदेवने भी समंतभद्रको स्याद्वाद मार्गके परिपालन करनेवाले लिखा है। साथ ही 'भव्यैकलोकनयन' (भव्यजीवोंके लिये अद्वितीय नेत्र) यह उनका अथवा स्याद्वादमार्गका विशेषण दिया है—

श्रीवर्द्धमानमकलंकमनिंद्यवंद्यपादारविन्दयुगलं प्रणिपत्य मूर्ध्ना।
भव्यैकलोकनयनं परिपालयन्तं स्याद्वादवर्त्म परिणौमि समन्तभद्रम्॥
—अष्टशती।

श्रीविद्यानंदाचार्यने भी, युक्त्यनुशासनकी टीकाके अन्तमें 'स्याद्वादमार्गानुगैः' विशेषणके द्वारा आपको स्याद्वाद मार्गका अनुगामी लिखा है।

आपको 'स्याद्वादविद्याग्रगुरु,'[1] 'स्याद्वादविद्याधिपति'[2] 'स्याद्वादशरीर' और 'स्याद्वादमार्गाग्रणी'[3] जैसे विशेषणोंके साथ स्मरण करते आए हैं। परन्तु इसे भी रहने दीजिये, आठवीं शताब्दीके तार्किक विद्वान्, भट्टाकलंकदेव जैसे महान्[4] आचार्य लिखते हैं कि 'आचार्य समन्तभद्रने संपूर्ण-पदार्थतत्त्वोंको अपना विषय करनेवाले स्याद्वादरूपी पुण्योदधि-तीर्थको, इस कलिकालमें, भव्य जीवोंके आन्तरिक मलको दूर करनेके लिये प्राभावित किया है—अर्थात्, उसके प्रभावको सर्वत्र व्याप्त किया है। यथा—

तीर्थं सर्वपदार्थतत्त्वविषयस्याद्वादपुण्योदधे-
र्भव्यानामकलंकभावकृतये प्राभावि काले कलौ ।
येनाचार्यसमन्तभद्रयतिना तस्मै नमः संततं
कृत्वा विविधयते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः ॥

यह पद्य भट्टाकलंककी 'अष्टशती' नामक वृत्तिके मंगलाचरणका द्वितीय पद्य है, जिसे भट्टाकलंकने, समन्तभद्राचार्यके 'देवागम' नामक भगवत्स्तोत्रकी वृत्ति (भाष्य) लिखनेका प्रारंभ करते हुए, उनकी स्तुति और वृत्ति लिखनेकी प्रतिज्ञा रूपसे दिया है। इसमें समंतभद्र और उनके वाङ्मयका जो संक्षिप्त परिचय दिया गया है वह बड़े ही महत्त्वका है। समंतभद्रने स्याद्वादतीर्थको कलिकालमें प्रभावित

---

१ लघुसमंतभद्रकृत 'अष्टसहस्रीविषमपदतात्पर्यटीका'।

२ वसुनंद्याचार्यकृत देवागमवृत्ति। ३ श्रीविद्यानंदाचार्यकृत अष्टसहस्री।

४ नगर ताल्लुका (जि० शिमोगा) के ४६ वें शिलालेखमें, समन्तभद्रके 'देवागम' स्तोत्रका भाष्य लिखनेवाले अकलंक-देवको 'महर्द्धिक' लिखा है। यथा—

जीयात्समन्तभद्रस्य देवागमनसंज्ञिनः ।
स्तोत्रस्य भाष्यं कृतवानकलंको महर्द्धिकः ॥

किया, इस परिचयके 'कलिकालमें' (काले कलौ) शब्द खास-तौरसे ध्यान देने योग्य हैं और उनसे दो अर्थोंकी ध्वनि निकलती है— एक तो यह कि, कलिकालमें स्याद्वादतीर्थको प्रभावित करना बहुत कठिन कार्य था, समंतभद्रने उसे पूरा करके निःसन्देह एक ऐसा कठिन कार्य किया है जो दूसरोंसे प्रायः नहीं हो सकता था अथवा नहीं हो सका था; और दूसरा यह कि, कलिकालमें समंतभद्रसे पहले उक्त तीर्थकी प्रभावना—महिमा या तो हुई नहीं थी, या वह होकर लुप्तप्राय हो चुकी थी और या वह कभी उतनी और उतने महत्त्वकी नहीं हुई थी जितनी और जितने महत्त्वकी समंतभद्रके द्वारा उनके समयमें, हो सकी है। पहले अर्थमें किसीको प्रायः कुछ भी विवाद नहीं हो सकता—कलिकालमें जब कलुषाशयकी वृद्धि हो जाती है तब उसके कारण अच्छे कामोंका प्रचलित होना कठिन हो ही जाता है—स्वयं समंतभद्राचार्यने, यह सूचित करते हुए कि महावीर भगवानके अनेकान्तात्मक शासनमें एकाधिपतित्वरूपी लक्ष्मी-का स्वामी होनेकी शक्ति है, कलिकालको भी उस शक्तिके अपवादका —एकाधिपत्य प्राप्त न कर सकनेका—एक कारण माना है। यद्यपि, कलिकाल उसमें एक साधारण बाह्य कारण है, असाधारण कारणमें उन्होंने श्रोताओंका कलुषित आशय (दर्शनमोहाक्रान्त चित्त) और प्रवक्ता (आचार्य) का वचनानय (वचनका अप्रशस्त निरपेक्ष नयके

१ 'एकाधिपतित्वं सर्वैरवश्याश्रयणीयत्वम्'—इति विद्यानंदः।
सभी जिसका अवश्य आश्रय ग्रहण करें, ऐसे एक स्वामीपनेको एकाधिपतित्व या एकाधिपत्य कहते हैं।

२ अपवादहेतुर्बाह्यः साधारणः कलिरेव कालः,—इति विद्यानंदः।

३ जो नय परस्पर अपेक्षारहित हैं वे मिथ्या हैं और जो अपेक्षासहित हैं वे सम्यक् अथवा वस्तुतत्व कहलाती हैं। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने कहा है—
'निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्' —देवागम।

साथ व्यवहार) ही स्वीकार किया है, फिर भी यह स्पष्ट है कि कलिकालमें उस शासनप्रचारके कार्यमें कुछ बाधा डालनेवाला—उसकी सिद्धिको कठिन और जटिल बना देनेवाला—जरूर है । यथा—

काल: कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतु: प्रवक्तुर्वचनानयो वा ।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मीप्रभुत्वशक्तेरपवादहेतु: ॥ ५ ॥

—युक्त्यनुशासन ।

स्वामी समंतभद्र एक महान् वक्ता थे, वे वचनानयके दोषसे बिलकुल रहित थे, उनके वचन—जैसा कि पहले जाहिर किया गया है—स्याद्वादन्यायकी तुलामें तुले हुए होते थे; विकार हेतुओंके समुपस्थित होने पर भी उनका चित्त कभी विकृत नहीं होता था—उन्हें क्षोभ या क्रोध नहीं आता था—और इस लिये उनके वचन कभी मार्गका उल्लंघन नहीं करते थे । उन्होंने अपनी आत्मिक शुद्धि, अपने चारित्रबल और अपने स्तुत्य वचनोंके प्रभावसे श्रोताओंके कलुषित आशय पर भी बहुत कुछ विजय प्राप्त कर लिया था—उसे कितने ही अंशोंमें बदल दिया था । यही वजह है कि आप स्याद्वादशासनको प्रतिष्ठित करनेमें बहुत कुछ सफल हो सके और कलिकाल उसमें कोई विशेष बाधा नहीं डाल सका । वसुनन्दि सैद्धान्तिकने तो, आपके मतकी—शासनकी—वंदना और स्तुति करते हुए, यहाँ तक लिखा है कि उस शासनने कालदोषको ही नष्ट कर दिया था—अर्थात् समंतभद्र मुनिके शासनकालमें यह मालूम नहीं होता था कि आज कल कलिकाल बीत रहा है । यथा—

लक्ष्मीभृत्परमं निरुक्तिनिरतं निर्वाणसौख्यप्रदं
कुज्ञानातपवारणाय विधृतं छत्रं यथा भासुरं ।

सज्ज्ञानैर्नययुक्तिमौक्तिकफलैः संशोभमानं परं
वन्दे तद्धतकालदोपममलं सामन्तभद्रं मतम् ॥२॥

—देवागमवृत्ति ।

इस पद्यमें समन्तभद्रके 'मत'को, लक्ष्मीभृत्, परम, निर्वाणसौख्य-प्रद, हतकालदोष और अमल आदि विशेषणोंके साथ स्मरण करते हुए, जो देदीप्यमान छत्रकी उपमा दी गई है वह बड़ी ही हृदय-ग्राहिणी है, और उससे माल्रम होता है कि समंतभद्रका शासनछत्र सम्यग्ज्ञानों, सुनयों तथा सुयुक्तियों रूपी मुक्ताफलोंसे संशोभित है और वह उसे धारण करनेवालेके कुज्ञानरूपी आतापको मिटा देनेवाला है। इस सब कथनसे स्पष्ट है कि समंतभद्रका स्याद्वादशासन बड़ा ही प्रभाव-शाली था। उसके तेजके सामने अवश्य ही कलिकालका तेज मंद पड़ गया था, और इसलिये कलिकालमें स्याद्वाद तीर्थको प्रभावित करना, यह समंतभद्रका ही एक खास काम था।

दूसरे अर्थके सम्बन्धमें सिर्फ इतना ही मान लेना ज्यादा अच्छा माल्रम होता है कि समंतभद्रसे पहले स्याद्वादतीर्थकी महिमा लुप्तप्राय हो गई थी, समंतभद्रने उसे पुनः संजीवित किया है, और उसमें असाधारण बल तथा शक्तिका संचार किया है। श्रवणबेल्गोलके निम्न शिलावाक्यसे भी ऐसा ही ध्वनित होता है, जिसमें यह सूचित किया गया है कि मुनिसंघके नायक आचार्य संमतभद्रके द्वारा सर्वहितकारी जैनमार्ग (स्याद्वादमार्ग) इस कलिकालमें सब ओरसे भद्ररूप हुआ है—अर्थात् उसका प्रभाव सर्वत्र व्याप्त होनेसे वह सबका हितकरनेवाला और सबका प्रेमपात्र बना है—

"आचार्यस्य समंतभद्रगणभृद्येनेहकाले कलौ
जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तादुमुहुः"॥

—५४ वाँ शिलालेख ।

इसके सिवाय चन्नरायपट्टण ताल्लुकेके कनड़ी शिलालेख नं० १४९ में, जो शक सं० १०४७ का लिखा हुआ है, समन्तभद्रकी बाबत यह उल्लेख मिलता है कि वे 'श्रुतकेवलि-संतानको उन्नत करनेवाले और समस्त विद्याओंके निधि थे।' यथा—

श्रुतकेवलिगलु पलवरुम्
अतीतर् आद् इम्बलिके तत्सन्तानो— ।
न्नतियं समन्तभद्र—
व्रतिपर् ब्लेन्दरु समस्तविद्यानिधिगल् ॥

और बेलूर ताल्लुकेके शिलालेख नं० १७ में भी, जो रामानुजाचार्य-मंदिरके अहातेके अन्दर सौम्य नायकी-मंदिरकी छतके एक पत्थर पर उत्कीर्ण है और जिसमें उसके उत्तीर्ण होनेका समय शक सं० १०५९ दिया है, ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि श्रुतकेवलियों तथा और भी कुछ आचार्योंके बाद समन्तभद्रस्वामी श्रीवर्द्धमानस्वामीके तीर्थकी—जैनमार्गकी—सहस्रगुणी वृद्धि करते हुए उदयको प्राप्त हुए। यथा—

श्रीवर्द्धमानस्वामिगलु तीर्त्थदोलु केवलिगलु ऋद्धिप्राप्तरुं श्रुतिकेवलिगलुं पलरुं सिद्धसाध्यर् आगे तत्......र्त्थमं सहस्रगुणं माडि समन्तभद्र-स्वामिगलु सन्दर्........ ।

इन दोनों उल्लेखोंसे भी यही पाया जाता है कि स्वामी समन्तभद्र इस कलिकालमें जैनमार्गकी—स्याद्वादशासनकी—असाधारण उन्नति

१, २ देखो 'एपिग्रेफिया कर्णाटिका' जिल्द पाँचवीं (E. C., V.)

३ इस अंशका लेविस राइसकृत अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—Increasing that doctrine a thousand fold Samantabhadra swami arose.

करनेवाले हुए हैं। नगर ताल्लुकेके ३५ वें शिलालेखमें, भद्रबाहुके बाद कलिकालके प्रवेशको सूचित करते हुए, आपको 'कलिकालगणधर' और 'शास्त्रकर्त्ता' लिखा है । अस्तु ।

समंतभद्रने जिस स्याद्वादशासनको कलिकालमें प्रभावित किया है उसे भट्टाकलंकदेवने, अपने उक्त पद्यमें, ' पुण्योदधि ' की उपमा दी है । साथ ही, उसे ' तीर्थ ' लिखा है और यह प्रकट किया है कि वह भव्यजीवोंके आन्तरिक मलको दूर करनेवाला है और इसी उद्देश्यसे प्रभावित किया गया है । भट्टाकलंकका यह सब लेख समंतभद्रके उस वचनतीर्थको लक्ष्य करके ही लिखा गया है जिसका भाष्य लिखनेके लिये आप उस वक्त दत्तावधान थे और जिसके प्रभावसे ' पात्रकेसरी ' जैसे प्रखर तार्किक विद्वान् भी जैनधर्मको धारण करनेमें समर्थ हो सके हैं ।

भट्टाकलंकके इस सब कथनसे समंतभद्रके वचनोंका अद्वितीय माहात्म्य प्रकट होता है। वे प्रौढत्व, उदारता और अर्थगौरवको लिये हुए होनेके अतिरिक्त कुछ दूसरी ही महिमासे सम्पन्न थे । इसीसे बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने आपके वचनोंकी महिमाका खुला गान किया है। नीचे उसीके कुछ नमूने और दिये जाते हैं, जिनसे पाठकोंको समंतभद्रके वचनमाहात्म्यको समझने और अनेक गुणोंका विशेप अनुभव प्राप्त करनेमें और भी ज्यादह सहायता मिल सकेगी । साथ ही, यह भी माल्रम हो सकेगा कि समं-

---

१ यह शिलालेख शक सं० ९९९ का लिखा हुआ है (E. C., VIII.) इसका अंश समयनिर्णयके अवसर पर उद्धृत किया जायगा ।

२ यह विद्यानन्द स्वामीका नामान्तर है । आप पहले अजैन थे, 'देवागम' को सुनकर आपकी श्रद्धा बदल गई और आपने जैनदीक्षा धारण की ।

तभद्रकी वचनप्रवृत्ति, परिणति और स्याद्वादविद्याको पुनरुज्जीवित करने आदिके विषयमें ऊपर जो कुछ कहा गया है अथवा अनुमान किया गया है वह सब प्रायः ठीक ही है।

नित्याद्येकान्तगर्तप्रपतनविवशान्प्राणिनोऽनर्थसार्थो—
दुद्धर्तुं नेतुमुच्चैः पदममलमलं मंगलानामलंघ्यं ।
स्याद्वादन्यायवर्त्म प्रथयदवितथार्थं वचःस्वामिनोदः,
प्रेक्षावत्त्वात्प्रवृत्तं जयतु विघटिताशेषमिथ्याप्रवादं ॥

—अष्टसहस्री ।

इस पद्यमें, विक्रमकी प्रायः ९ वीं शताब्दीके दिग्गज तार्किक विद्वान्, **श्रीविद्यानंद** आचार्य, स्वामी समंतभद्रके वचनसमूहका जय-घोष करते हुए, लिखते हैं कि स्वामीजीके वचन नित्यादि एकान्त गर्तोंमें पड़े हुए प्राणियोंको अनर्थसमूहसे निकालकर उस उच्च पदको प्राप्त करानेके लिये समर्थ हैं जो उत्कृष्ट मंगलात्मक तथा निर्दोष है, स्याद्वादन्यायके मार्गको प्रथित करनेवाले हैं, सत्यार्थ हैं, परीक्षापूर्वक प्रवृत्त हुए हैं अथवा प्रेक्षावान्—समीक्ष्यकारी—आचार्य महोदयके द्वारा

१ वस्तु सर्वथा नित्य ही है, कूटस्थवत् एक रूपतासे रहती है—इस प्रकारकी मान्यताको 'नित्यैकान्त' कहते हैं और उसे सर्वथा क्षणिक मानना—क्षणक्षणमें उसका निरन्वयविनाश स्वीकार करना—'क्षणिकैकान्त' वाद कहलाता है। 'देवागम' में इन दोनों एकान्तवादोंकी स्थिति और उससे होनेवाले अनर्थोंको बहुत कुछ स्पष्ट करके बतलाया गया है।

२ यह स्वामी समन्तभद्रका विशेषण है। युक्त्यनुशासनकी टीकाके निम्न पद्यमें भी श्रीविद्यानंदाचार्यने आपको 'परीक्षेक्षण' (परीक्षादृष्टि) विशेषणके साथ स्मरण किया है और इस तरह पर आपकी परीक्षाप्रधानताको सूचित किया है—

श्रीमद्वीरजिनेश्वरामलगुणस्तोत्रं परीक्षेक्षणैः
साक्षात्स्वामिसमन्तभद्रगुरुभिस्तत्त्वं समीक्ष्याखिलं ।
प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गानुगै—
र्विद्यानन्दबुधैरलंकृतमिदं श्रीसत्यवाक्याधिपैः ॥

उनकी प्रवृत्ति हुई है, और उन्होंने संपूर्ण मिथ्या प्रवादको विघटित—तितर वितर—कर दिया है।

प्रज्ञाधीशप्रपूज्योज्ज्वलगुणनिकरोद्भूतसत्कीर्तिसम्प-
द्विद्यानंदोदयायानवरतमखिलक्लेशनिर्णाशनाय।
स्ताद्गौः सामन्तभद्री दिनकररुचिजित्सप्तभंगीविधीद्धा
भावाद्येकान्तचेतस्तिमिरनिरसनी वोऽकलंकप्रकाशा॥

—अष्टसहस्री।

इस पद्यमें वे ही **विद्यानंद** आचार्य यह सूचित करते हैं कि समन्तभद्रकी वाणी उन उज्ज्वल गुणोंके समूहसे उत्पन्न हुई सत्कीर्तिरूपी सम्पत्तिसे युक्त है जो बड़े बड़े बुद्धिमानों द्वारा प्रपूज्य* है; वह अपने तेजसे सूर्यकी किरणको जीतनेवाली सप्तभंगी विधिके द्वारा प्रदीप्त है, निर्मल प्रकाशको लिये हुए है और भाव—अभाव आदिके एकान्त पक्षरूपी हृदयांधकारको दूर करनेवाली है। साथ ही, अपने पाठकोंको यह आशीर्वाद देते हैं कि वह वाणी तुम्हारी विद्या (केवलज्ञान) और आनन्द (अनंतसुख) के उदयके लिये निरंतर कारणीभूत होवे और उसके प्रसादसे तुम्हारे संपूर्ण क्लेश नाशको प्राप्त हो जायँ। यहाँ '**विद्यानन्दोदयाय**' पदसे एक दूसरा अर्थ भी निकलता है और उससे यह सूचित होता है कि समंतभद्रकी वाणी विद्यानंदाचार्यके उदयका कारण हुई है+ और इसलिये उसके द्वारा उन्होंने अपने और उदयकी भी भावना की है।

---

* अथवा समन्तभद्रकी भारती बड़े बड़े बुद्धिमानों (प्रज्ञाधीशों) के द्वारा प्रपूजित है और उज्ज्वल गुणोंके समूहसे उत्पन्न हुई सत्कीर्तिरूपी सम्पत्तिसे युक्त है।

+ नागराज कविने, समन्तभद्रकी भारतीका स्तवन करते हुए जो 'पात्रके-

अद्वैताद्याग्रहोग्रग्रहगहनविपन्निग्रहेऽलंघ्यवीर्याः
स्यात्कारामोघमंत्रप्रणयनविधयः शुद्धसध्यानधीराः।
धन्यानामादधाना धृतिमधिवसतां मंडलं जैनमग्र्यं
वाचः सामन्तभद्र्यो विदधतु विविधां सिद्धिमुद्भूतमुद्राः॥
अपेक्षैकान्तादिप्रबलगरलोद्रेकदलिनी
प्रवृद्धानेकान्तामृतरसनिषेकानवरतम्।
प्रवृत्ता वागेषा सकलविकलादेशवशतः
समन्ताद्भद्रं वो दिशतु मुनिपस्यामलमतेः॥

अष्टसहस्रीके इन पद्योंमें भी श्रीविद्यानंद जैसे महान् आचार्योंने, जिन्होंने अष्टसहस्रीके अतिरिक्त आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, श्लोकवार्तिक, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र और जिनैकगुणसंस्तुति आदि कितने ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथोंकी रचना की है, निर्मलमति श्रीसमंतभद्र मुनिराजकी वाणीका अनेक प्रकारसे गुणगान किया है और उसे अलंघ्यवीर्य, स्यात्काररूपी अमोघमंत्रका प्रणयन करनेवाली, शुद्ध सद्ध्यानधीरा[1], उद्भूतमुद्रा[2], (ऊँचे आनंदको देनेवाली) एकान्तरूपी प्रवल गरल विषके उद्रेकको दलनेवाली और निरन्तर अनेकान्तरूपी अमृत रसके सिंचनसे प्रवृद्ध तथा प्रमाण नयोंके अधीन प्रवृत्त हुई लिखा है। साथ ही वह वाणी नाना प्रकारकी सिद्धिका विधान करे और सव

सरित्प्रभावसिद्धिकारिणीं स्तुवे,' यह वाक्य कहा है उससे भी इसका समर्थन होता है; क्योंकि पात्रकेसरी विद्यानन्दका नामान्तर है। समन्तभद्रके देवागम स्तोत्रसे पात्रकेसरीकी जीवनधारा ही पलट गई थी और वे बड़े प्रभावशाली विद्वान् हुए हैं।

१ 'ध्यानं परीक्षा तेन धीराः स्थिराः' इति टिप्पणकारः।

२ 'उद्भूतां मुदं रान्ति ददातीति (उद्भूतमुद्राः)' इति टिप्पणकारः।

ओरसे मंगल तथा कल्याणको प्रदान करनेवाली होवे, इस प्रकारके आशीर्वाद भी दिये हैं।

कार्यादेर्भेद एव स्फुटमिहनियतः सर्वथाकारणादे-
रित्याद्येकान्तवादोद्धततरमतयः शांततामाश्रयन्ति ।
प्रायो यस्योपदेशादविघटितनयान्मानमूलादलंघ्यात्
स्वामी जीयात्स शश्वत्प्रथिततरयतीशोऽकलंकोरुकीर्तिः॥

अष्टसहस्रीके इस पद्यमें लिखा है कि 'वे स्वामी (समंतभद्र) सदा जयवंत रहें जो वहुत प्रसिद्ध मुनिराज हैं, जिनकी कीर्ति निर्दोष तथा विशाल है और जिनके नयप्रमाणमूलक अलंघ्य उपदेशसे वे महा-उद्धतमति एकान्तवादी भी प्रायः शान्तताको प्राप्त हो जाते हैं जो कारणसे कार्यादिकका सर्वथा भेद ही नियत मानते हैं अथवा यह स्वीकार करते हैं कि वे कारण कार्यादिक सर्वथा अभिन्न ही हैं—एक ही हैं।

येनाशेपकुनीतिवृत्तिसरितः प्रेक्षावतां शोपिताः
यद्वाचोऽप्यकलंकनीतिरुचिरास्तत्त्वार्थसार्थद्युतः ।
स श्रीस्वामिसमन्तभद्रयतिभृद्भूयाद्विभुर्भानुमान्
विद्यानंदघनप्रदोऽनघधियां स्याद्वादमार्गाग्रणीः ॥

अष्टसहस्रीके इस अन्तिम मंगल पद्यमें श्रीविद्यानंद आचार्यने, संक्षेपमें, समंतभद्रविपयक अपने जो उद्गार प्रकट किये हैं

---

१ अष्टसहस्रीके प्रारंभमें जो मंगल पद्य दिया है उसमें समंतभद्रको 'श्रीवर्द्धमान,' 'उद्भूतवोधमहिमान्' और 'अनिंद्यवाक्' विशेपणोंके साथ अभिवंदन किया है। यथा—

श्रीवर्द्धमानमभिवंद्यसमंतभद्रमुद्भूतवोधमहिमानमनिंद्यवाचम् ।
शास्त्रावतारचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं कृतिरलंक्रियते मयास्य ॥

वे बड़े ही महत्त्वके हैं। आप लिखते हैं कि ' जिन्होंने परीक्षावानोंके लिये संपूर्ण कुनीति-वृत्तिरूपी नदियोंको सुखा दिया है और जिनके वचन निर्दोष नीति (स्याद्वादन्याय) को लिये हुए होनेकी वजहसे मनोहर हैं तथा तत्त्वार्थसमूहके द्योतक हैं वे यतियोंके नायक, स्याद्वादमार्गके अग्रणी, विभु और भानुमान् (सूर्य) श्रीसमन्तभद्र स्वामी कलुषाशयरहित प्राणियोंको विद्या और आनंदघनके प्रदान करनेवाले होवें । ' इससे स्वामी समंतभद्र और उनके वचनोंका बहुत ही अच्छा महत्त्व ख्यापित होता है ।

गुणान्विता निर्मलवृत्तमौक्तिका नरोत्तमैः कंठविभूषणीकृता ।
न हारयष्टिः परमेव दुर्लभा समन्तभद्रादिभवा च भारती ॥६॥

—चन्द्रप्रभचरित ।

इस पद्यमें महाकवि श्रीवीरनंदी आचार्य, समंतभद्रकी भारती (वाणी) को उस हारयष्टि (मोतियोंकी माला) के समकक्ष रखते हुए जो गुणों (सूतके धागों) से गूँथी हुई है, निर्मल गोल मोतियोंसे युक्त है और उत्तम पुरुषोंके कंठका विभूषण बनी हुई है, यह सूचित करते हैं कि समंतभद्रकी वाणी अनेक सद्गुणोंको लिये हुए है, निर्मल वृत्तरूपी[1] मुक्ताफलोंसे युक्त है और बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने उसे अपने कंठका भूषण बनाया है । साथ ही, यह भी बतलाते हैं कि उस हारयष्टिको प्राप्त कर लेना उतना कठिन नहीं है जितना कठिन कि समंतभद्रकी भारतीको पा लेना—उसे समझकर हृदयंगम कर लेना—है । और इससे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि समंतभद्रके बचनोंका लाभ बड़े ही भाग्य तथा परिश्रमसे होता है ।

---

१ वृत्तान्त, चरित, आचार, विधान अथवा छंद ।

श्रीनरेन्द्रसेनाचार्य भी, अपने 'सिद्धान्तसारसंग्रह' में ऐसा ही भाव प्रकट करते हैं। आप समंतभद्रके वचनको 'अनघ' (निष्पाप) सूचित करते हुए उसे मनुष्यत्वकी प्राप्तिकी तरह दुर्लभ बतलाते हैं। यथा—

श्रीमत्समंतभद्रस्य देवस्यापि वचोऽनघं।
प्राणिनां दुर्लभं यद्वन्मानुषत्वं तथा पुनः ॥ ११ ॥

शक संवत् ७०५ में 'हरिवंशपुराण' को बनाकर समाप्त करनेवाले श्रीजिनसेनाचार्यने समंतभद्रके वचनोंको किस कोटिमें रक्खा है और उन्हें किस महापुरुषके वचनोंकी उपमा दी है, यह सब उनके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनं।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृंभते ॥ ३० ॥

इस पद्यमें जीवसिद्धिका विधान करनेवाले और युक्तियोंद्वारा अथवा युक्तियोंका अनुशासन करनेवाले समंतभद्रके वचनोंकी बाबत यह कहा गया है कि वे **वीर** भगवानके वचनोंकी तरह प्रकाशमान हैं, अर्थात् अन्तिम तीर्थंकर **श्रीमहावीर** भगवानके वचनोंके समकक्ष हैं और प्रभावादिकमें भी उन्हींके तुल्य हैं। जिनसेनाचार्यका यह कथन समंतभद्रके 'जीवसिद्धि' और 'युक्त्यनुशासन' नामक दो ग्रंथोंके उल्लेखको लिये हुए है, और इससे उन ग्रंथों (प्रवचनों) का महत्त्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

प्रमाणनयनिर्णीतवस्तुतत्त्वमबाधितं।
जीयात्समंतभद्रस्य स्तोत्रं युक्त्यनुशासनं ॥

—युक्त्यनुशासनटीका।

इस पद्यमें भी विद्यानंदाचार्य, समंतभद्रके 'युक्त्यनुशासन' स्तोत्रका जयघोष करते हुए, उसे 'अबाधित' विशेषण देते हैं और साथ ही यह सूचित करते हैं कि उसमें प्रमाण-नयके द्वारा वस्तुतत्त्वका निर्णय किया गया है।

स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहं।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते॥
त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाक्षय्यसुखावहः।
अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरंडकः॥

—पार्श्वनाथचरित।

इन पद्योंमें, 'पार्श्वनाथचरित'को शक सं० ९४७ में बनाकर समाप्त करनेवाले श्रीवादिराजसूरि, समंतभद्रके 'देवागम' और 'रत्नकरंडक' नामके दो प्रवचनों (ग्रंथों) का उल्लेख करते हुए, लिखते हैं कि 'उन स्वामी (समंतभद्र) का चरित्र किसके लिये विस्मयावह (आश्चर्यजनक) नहीं है जिन्होंने

१ माणिकचंद्रग्रंथमालामें प्रकाशित 'पार्श्वनाथचरित' में इन दोनों पद्योंके मध्यमें नीचे लिखा एक पद्य और भी दिया है; परंतु हमारी रायमें वह पद्य इन दोनों पद्योंके बादका मालूम होता है—उसका 'देवः' पद 'देवनन्दी' (पूज्यपाद) का वाचक है। ग्रंथमें देवनन्दिके सम्बन्धका कोई दूसरा पद्य वहाँ है भी नहीं, जिसके होनेकी; अन्यथा, बहुत संभावना थी। यदि यह तीसरा पद्य सचमुच ही ग्रंथकी प्राचीन प्रतियोंमें इन दोनों पद्योंके मध्यमें ही पाया जाता है और मध्यका ही पद्य है तो यह कहना पड़ेगा कि वादिराजने समंतभद्रको अपना हित चाहनेवालोंके द्वारा वंदनीय और अचिन्त्य महिमावाला देव प्रतिपादन किया है। साथ ही, यह लिखकर कि उनके द्वारा शब्द भले प्रकार सिद्ध होते हैं, उनके किसी व्याकरण ग्रंथका उल्लेख किया है—

अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवंद्यो हितैषिणा।
शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलंभिताः॥

'देवागम' के द्वारा आज भी सर्वज्ञको प्रदर्शित कर रक्खा है। निश्चयसे वे ही योगीन्द्र (समंतभद्र) त्यागी (दाता) हुए हैं जिन्होंने भव्यसमूहरूपी याचकको अक्षय सुखका कारण रत्नोंका पिटारा (रत्न-करंडक) दान किया है'।

समन्तभद्रो भद्रार्थो भातु भारतभूषणः ।
देवागमेन येनात्र व्यक्तो देवागमः कृतः ॥

—पाण्डवपुराण ।

इस पद्यमें श्रीशुभचन्द्राचार्य लिखते हैं कि "जिन्होंने 'देवागम' नामक अपने प्रवचनके द्वारा देवागमको—जिनेन्द्रदेवके आगमको—इस लोकमें व्यक्त कर दिया है वे 'भारतभूषण' और 'एक मात्र भद्रप्रयोजनके धारक' श्री समंतभद्र लोकमें प्रकाशमान होवें, अर्थात् अपनी विद्या और गुणोंके द्वारा लोगोंके हृदयांधकारको दूर करनेमें समर्थ होवें।"

समन्तभद्रकी भारतीका एक स्तोत्र, हालमें, हमें दक्षिण देशसे प्राप्त[1] हुआ है। यह स्तोत्र कवि नागराजका[2] बनाया हुआ और अभीतक प्रायः अप्रकाशित ही जान पड़ता है। यहाँपर हम उसे भी अपने पाठकोंकी अनुभववृद्धिके लिये दे देना उचित समझते हैं। वह स्तोत्र इस प्रकार है—

---

१ इसकी प्राप्तिके लिये हम उन पं० शांतिराजजीके आभारी हैं जो कुछ अर्सेतक 'जैनसिद्धान्तभवन आरा'के अध्यक्ष रह चुके हैं।

२ 'नागराज' नामके एक कवि शक संवत् १२५३ में हो गये हैं, ऐसा 'कर्णाटककविचरित' से मालूम होता है। बहुत संभव है कि यह स्तोत्र उन्हींका बनाया हुआ हो; वे 'उभयकविताविलास' उपाधिसे भी युक्त थे। उन्होंने उक्त सं० में अपना 'पुण्यास्रवचम्पू' बना कर समाप्त किया है।

संस्मरीमि तोष्टवीमि नंनमीमि भारतीं,
तंतनीमि पंपटीमि बंभणीमि तेमितां ।
देवराजनागराजमर्त्यराजपूजितां
श्रीसमन्तभद्रवादभासुरात्मगोचरां ॥ १ ॥

मातृ-मान-मेयसिद्धिवस्तुगोचरां स्तुवे,
सप्तभंगसप्तनीतिगम्यतत्त्वगोचरां ।
मोक्षमार्ग-तद्विपक्षभूरिधर्मगोचरा-
माप्ततत्त्वगोचरां समन्तभद्रभारतीं ॥ २ ॥

सूरिसूक्तिवंदितामुपेयतत्त्वभाषिणीं,
चारुकीर्तिभासुरामुपायतत्त्वसाधनीं ।
पूर्वपक्षखंडनप्रचण्डवाग्विलासिनीं
संस्तुवे जगद्धितां समन्तभद्रभारतीं ॥ ३ ॥

पात्रकेसरिप्रभावसिद्धिकारिणीं स्तुवे,
भाष्यकारपोषितामलंकृतां मुनीश्वरैः ।
गृध्रपिच्छभाषितप्रकृष्टमंगलार्थिकां
सिद्धि-सौख्यसाधनीं समन्तभद्रभारतीं ॥ ४ ॥

इन्द्रभूतिभाषितप्रमेयजालगोचरां,
वर्द्धमानदेवबोधबुद्धचिद्विलासिनीं ।
यौगसौगतादिगर्वपर्वताशनिं स्तुवे
क्षीरवार्धिसन्निभां समन्तभद्रभारतीं ॥ ५ ॥

मान-नीति-वाक्यसिद्धवस्तुधर्मगोचरां
मानितप्रभावसिद्धसिद्धिसिद्धसाधनीं ।

घोरभूरिदुःखवार्धितारणाक्षमामिमां
चारुचेतसा स्तुवे समन्तभद्रभारतीम् ॥ ६ ॥

सान्तनाद्यनाद्यनन्तमध्ययुक्तमध्यमां
शून्यभावसर्ववेदि-तत्त्वसिद्धिसाधनीं ।
हेत्वहेतुवादसिद्धवाक्यजालभासुरां
मोक्षसिद्धये स्तुवे समन्तभद्रभारतीम् ॥ ७ ॥

व्यापकद्वयाप्तमार्गतत्त्वयुग्मगोचरां
पापहारि-वाग्विलासिभूषणांशुकां स्तुवे ।
श्रीकरीं च धीकरीं च सर्वसौख्यदायिनीं
नागराजपूजितां समन्तभद्रभारतीम् ॥ ८ ॥

इस 'समन्तभद्रभारतीस्तोत्र' में, स्तुतिके साथ, समन्तभद्रके वादों, भाषणों और ग्रंथोंके विषयका यत्किंचित् दिग्दर्शन कराया गया है। साथ ही, यह सूचित किया गया है कि समन्तभद्रकी भारती आचार्योंकी सूक्तियोंद्वारा वंदित, मनोहर कीर्तिसे देदीप्यमान और क्षीरोदधिकी समान उज्ज्वल तथा गंभीर है; पापोंको हरना, मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान, मिथ्या चारित्रको दूर करना ही उस वाग्देवीका एक आभूषण और वाग्विलास ही उसका एक वस्त्र है; वह घोर दुःखसागरसे पार करनेके लिये समर्थ है, सर्व सुखोंको देनेवाली है और जगतके लिये हितरूप है।

यह हम पहले ही प्रकट कर चुके हैं कि समंतभद्रकी जो कुछ वचनप्रवृत्ति होती थी वह सब प्रायः दूसरोंके हितके लिये ही होती थी; यहाँ भी इस स्तोत्रसे वही बात पाई जाती है, और ऊपर दिये हुए दूसरे कितने ही आचार्योंके वाक्योंसे भी उसका पोषण तथा

स्पष्टीकरण होता है । अस्तु, इस विषयका यदि और भी अच्छा अनुभव प्राप्त करना हो तो उसके लिये स्वयं समंतभद्रके ग्रंथोंको देखना चाहिये । उनके विचारपूर्वक अध्ययनसे वह अनुभव स्वतः हो जायगा। समन्तभद्रके ग्रंथोंका उद्देश्य ही पापोंको दूर करके--कुदृष्टि, कुबुद्धि, कुनीति और कुवृत्तिको हटाकर--जगतका हित साधन करना है । समंतभद्रने अपने इस उद्देश्यको कितने ही ग्रंथोंमें व्यक्त भी किया है, जिसके दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छतां ।
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये ॥ ११४ ॥

यह 'आप्तमीमांसा' ग्रंथका पद्य है । इसमें, ग्रंथनिर्माणका उद्देश्य प्रकट करते हुए, बतलाया गया है कि यह 'आप्तमीमांसा' उन लोगोंको सम्यक् और मिथ्या उपदेशके अर्थविशेषका ज्ञान करानेके लिये निर्दिष्ट की गई है जो अपना हित चाहते हैं । ग्रंथकी कुछ प्रतियोंमें 'हितमिच्छतां' की जगह 'हितमिच्छता' पाठ भी पाया जाता है । यदि यह पाठ ठीक हो तो वह ग्रंथरचयिता समंतभद्रका विशेषण है और उससे यह अर्थ निकलता है कि यह आप्तमीमांसा हित चाहनेवाले समंतभद्रके द्वारा निर्मित हुई है; बाकी निर्माणका उद्देश्य ज्योंका त्यों कायम ही रहता है—दोनों ही हालतोंमें यह स्पष्ट है कि यह ग्रंथ दूसरोंका हित सम्पादन करने—उन्हें हेयादेयका विशेष बोध करानेके लिये ही लिखा गया है ।

न रागान्नः स्तोत्रं भवति भवपाशच्छिदि मुनौ
न चान्येषु द्वेषादपगुणकथाभ्यासखलता ।
किमु न्यायान्यायप्रकृतगुणदोषज्ञमनसां ।
हितान्वेषोपायस्तव गुणकथासंगगदितः ॥

यह 'युक्त्यनुशासन' नामक स्तोत्रका, अन्तिम पद्यसे पहला, पद्य है। इसमें आचार्य महोदयने बड़े ही महत्त्वका भाव प्रदर्शित किया है। आप श्रीवर्द्धमान (महावीर) भगवान्को सम्बोधन करके उनके प्रति अपनी इस स्तोत्र रचनाका जो भाव प्रकट करते हैं उसका स्पष्टाशय[1] इस प्रकार है—

'हे भगवन्, हमारा यह स्तोत्र आपके प्रति रागभावसे नहीं है; न हो सकता है, क्योंकि इधर तो हम परीक्षाप्रधानी हैं और उधर आपने भवपाशको छेद दिया है—संसारसे अपना सम्बन्ध ही अलग कर लिया है—ऐसी हालतमें आपके व्यक्तित्वके प्रति हमारा रागभाव इस स्तोत्रकी उत्पत्तिका कोई कारण नहीं हो सकता। दूसरोंके प्रति द्वेषभावसे भी इस स्तोत्रका कोई सम्बंध नहीं है; क्योंकि एकान्तवादियोंके साथ उनके व्यक्तित्वके प्रति—हमारा कोई द्वेष नहीं है। हम तो दुर्गुणोंकी कथाके अभ्यासको भी खलता समझते हैं और उस प्रकारका अभ्यास न होनेसे वह 'खलता' हममें नहीं है, और इस लिये दूसरोंके प्रति कोई द्वेषभाव भी इस स्तोत्रकी उत्पत्तिका कारण नहीं हो सकता। तब फिर इसका हेतु अथवा उद्देश? उद्देश यही है कि जो लोग न्याय-अन्यायको पहचानना चाहते हैं और प्रकृत पदार्थके गुण-दोषोंको जाननेकी जिनकी इच्छा है उनके लिये यह स्तोत्र 'हितान्वेषणके उपायस्वरूप' आपकी गुणकथाके साथ, कहा गया है। इसके सिवाय, जिस भवपाशको आपने छेद दिया है उसे छेदना—अपने और दूसरोंके संसारबन्धनोंको तोड़ना—हमें भी

---

१ इस स्पष्टाशयके लिखनेमें श्रीविद्यानंदाचार्यकी टीकासे कितनी ही सहायता ली गई है।

इष्ट है और इस लिये वह प्रयोजन भी इस स्तोत्रकी उपपत्तिका एक हेतु है।'

इससे स्पष्ट है कि समंतभद्रके ग्रंथोंका प्रणयन—उनके वचनोंका अवतार—किसी तुच्छ रागद्वेषके वशवर्ती होकर नहीं हुआ है। वह आचार्य महोदयकी उदारता तथा प्रेक्षापूर्वकारिताको लिये हुए है और उसमें उनकी श्रद्धा तथा गुणज्ञता दोनों ही बातें पाई जाती हैं। साथ ही, यह भी प्रकट है कि समंतभद्रके ग्रंथोंका उद्देश्य महान् है, लोकहितको लिये हुए है, और उनका प्रायः कोई भी विशेष कथन गुणदोषोंकी अच्छी जाँचके बिना निर्दिष्ट हुआ नहीं जान पड़ता।

यहाँ तकके इस सब कथनसे ऐसा माल्रम होता है कि समंतभद्र अपने इन सब गुणोंके कारण ही लोकमें अत्यंत महनीय तथा पूजनीय थे और उन्होंने देश-देशान्तरोंमें अपनी अनन्यसाधारण कीर्तिको प्रतिष्ठित किया था। निःसन्देह, वे सद्बोधरूप थे, श्रेष्ठगुणोंके आवास थे, निर्दोष थे और उनकी यशःकान्तिसे तीनों लोक अथवा भारतके उत्तर, दक्षिण और मध्य ये तीनों विभाग कान्तिमान थे;—उनका यशस्तेज सर्वत्र फैला हुआ था; जैसा कि कवि नरसिंह भट्टके निम्न वाक्यसे पाया जाता है—

समन्तभद्रं सद्बोधं स्तुवे वरगुणालयं।
निर्मलं यद्यशष्कान्तं बभूव भुवनत्रयं॥ २॥

—जिनशतकटीका।

अपने इन सब पूज्य गुणोंकी वजहसे ही समंतभद्र लोकमें 'स्वामी' पदसे खास तौर पर विभूषित थे। लोग उन्हें 'स्वामी' 'स्वामीजी' कह कर ही पुकारते थे, और बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने भी

उन्हें प्रायः इसी विशेषणके साथ स्मरण किया है। यद्यपि और भी कितने ही आचार्य ' स्वामी ' कहलाते थे परंतु उनके साथ यह विशेषण उतना रूढ नहीं है जितना कि समंतभद्रके साथ रूढ जान पड़ता है—समंतभद्रके नामका तो यह प्रायः एक अंग ही हो गया है। इसीसे कितने ही महान् आचार्यों तथा विद्वानोंने, अनेक स्थानों पर नाम न देकर, केवल ' स्वामी ' पदके प्रयोग द्वारा ही आपका नामोल्लेख किया है * और इससे यह बात सहजहीमें समझमें आ सकती है कि आचार्य महोदयकी ' स्वामी ' रूपसे कितनी अधिक प्रसिद्धि थी। निःसंदेह, यह पद आपकी महती प्रतिष्ठा और असाधारण महत्ताका द्योतक है। आप सचमुच ही विद्वानोंके स्वामी थे, त्यागियोंके स्वामी थे, तपस्वियोंके स्वामी थे, ऋषिमुनियोंके स्वामी थे, सद्गुणियोंके स्वामी थे, सत्कृतियोंके स्वामी थे और लोकहितैषियोंके स्वामी थे।

---

* देखो—वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथचरितका ' स्वामिनश्चरितं ' नामका पद्य जो ऊपर उद्धृत किया गया है; पं० आशाधरकृत सागारधर्मामृत और अनगारधर्मामृतकी टीकाओंके ' स्वाम्युक्ताष्टमूलगुणपक्षे, इति स्वामिमतेन दर्शनिको भवेत्, स्वामिमतेन त्विमे (अतिचाराः), अत्राह स्वामी यथा, तथा च स्वामिसूक्तानि' इत्यादि पद; न्यायदीपिकाका ' तदुक्तं स्वामिभिरेव ' इस वाक्यके साथ ' देवागम ' की दो कारिकाओंका अवतरण; और श्रीविद्यानंदाचार्यकृत अष्टसहस्री आदि ग्रंथोंके कितने ही पद्य तथा वाक्य जिनमेंसे ' नित्याद्येकान्त ' आदि कुछ पद्य ऊपर उद्धृत किये जा चुके हैं।

भावी तीर्थंकरत्व ।

—:०:—

समंतभद्रके लोकहितकी मात्रा इतनी वढ़ी हुई थी कि उन्हें रात दिन उसीके संपादनकी एक धुन रहती थी; उनका मन, उनका वचन और उनका शरीर सव उसी ओर लगा हुआ था; वे विश्वभरको अपना कुटुम्ब समझते थे—उनके हृदयमें 'विश्वप्रेम' जागृत था—और एक कुटुम्बीके उद्धारकी तरह वे विश्वभरका उद्धार करनेमें सदा सावधान रहते थे। वस्तुतत्त्वकी सम्यक् अनुभूतिके साथ, अपनी इस योग-परिणतिके द्वारा ही उन्होंने उस महत्, निःसीम तथा सर्वातिशायि[1] पुण्यको संचित किया मालूम होता है जिसके कारण वे इसी भारतवर्षमें 'तीर्थंकर' होनेवाले हैं—धर्मतीर्थको चलानेके लिये अवतार लेनेवाले हैं। आपके 'भावी तीर्थंकर' होनेका उल्लेख कितने ही ग्रंथोंमें पाया जाता है, जिनके कुछ अवतरण नीचे दिये जाते हैं—

श्रीमूलसंघव्योमेन्दुर्भारते भावितीर्थकृत् ।
देशे समंतभद्राख्यो मुनिर्जीयात्पदर्द्धिकः ॥

—विक्रान्तकौरव प्र० ।

श्रीमूलसंघव्योम्नेन्दुर्भारते भावितीर्थकृद्-
देशे समन्तभद्रार्यो जीयात्प्राप्तपदर्द्धिकः ॥

—जिनेंद्रकल्याणाभ्युदय ।

उक्तं च समन्तभद्रेणोत्सर्पिणीकाले आगामिनिभविष्यत्तीर्थंकर परमदेवेन—'कालेकल्पशतेऽपिच' (इत्यादि 'रत्नकरंडक'का पूरा पद्य दिया है।)

—श्रुतसागरकृत षट्प्राभृतटीका ।

---

१ सर्वातिशायि तत्पुण्यं त्रैलोक्याधिपतित्वकृत् । —श्लोकवार्तिक ।

कृत्वा श्रीमज्जिनेन्द्राणां शासनस्य प्रभावनां ।
स्वर्मोक्षदायिनीं धीरो भावितीर्थंकरो गुणी ॥

—नेमिदत्तकृत आराधनाकथाकोश ।

आ भावि तीर्थकरन् अप्प समंतभद्रस्वामिगलु........

—राजावलिकथे ।

[1]अट्ठ हरी णव पडिहरि चक्कि चउक्कं च एय बलभद्दो ।
सेणिय समंतभद्दो तित्थयरा हुंति णियमेण * ॥

श्रीवर्द्धमान महावीर स्वामीके निर्वाणके बाद सैकड़ों ही अच्छे अच्छे महात्मा आचार्य तथा मुनिराज यहाँ हो गये हैं परंतु उनमेंसे दूसरे किसी भी आचार्य तथा मुनिराजके विषयमें यह उल्लेख नहीं मिलता कि वे आगेको इस देशमें 'तीर्थंकर' होंगे । भारतमें 'भावी तीर्थंकर' होनेका यह सौभाग्य, शलाका पुरुषों तथा श्रेणिक राजाके साथ, एक समंतभद्रको ही प्राप्त है और इससे समंतभद्रके इतिहासका—उनके चरित्रका—गौरव और भी बढ़ जाता है । साथ ही, यह भी माळूम हो जाता है कि आप १ दर्शनविशुद्धि, २ विनयसम्पन्नता, ३ शीलव्रतेष्वनति-

१ इस गाथामें लिखा है कि—आठ नारायण, नौ प्रतिनारायण, चार चक्रवर्ती, एक बलभद्र, श्रेणिक और समन्तभद्र ये (२४ पुरुष आगेको) नियमसे तीर्थंकर होंगे ।

* यह गाथा कौनसे मूल ग्रंथकी है, इसका अभीतक हमें कोई ठीक पता नहीं चला । पं० जिनदास पार्श्वनाथजी फडकुलेने इसे स्वयंभूस्तोत्रके उस हालके संस्करणमें उद्धृत किया है जिसे उन्होंने संस्कृतटीका तथा मराठीअनुवादसहित प्रकाशित कराया है । हमारे दर्याफ्त करने पर पंडितजीने सूचित किया है कि यह गाथा 'चर्चासमाधान' नामक ग्रंथमें पाई जाती है । ग्रंथके इस नाम परसे ऐसा मालूम होता है कि वहाँ भी यह गाथा उद्धृत ही होगी और किसी दूसरे ही पुरातन ग्रंथकी जान पड़ती है ।

चार, ४ अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, ५ संवेग, ६ शक्तितस्त्याग, ७ शक्तितस्तप, ८ साधुसमाधि, ९ वैयावृत्यकरण, १० अर्हद्भक्ति, ११ आचार्यभक्ति, १२ बहुश्रुतभक्ति, १३ प्रवचनभक्ति, १४ आवश्यकापरिहाणि, १५ मार्गप्रभावना और १६ प्रवचनवत्सलत्व, इन सोलह गुणोंसे प्रायः युक्त थे—इनकी उच्च तथा गहरी भावनाओंसे आपका आत्मा भावित था—क्योंकि, दर्शनविशुद्धिको लिये हुए, ये ही गुण समस्त अथवा व्यस्त रूपसे आगममें तीर्थंकरप्रकृति नामा 'नामकर्म'की महा पुण्यप्रकृतिके आस्रवके कारण कहे गये हैं * । इन गुणोंका स्वरूप तत्त्वार्थसूत्रकी बहुतसी टीकाओं तथा दूसरे भी कितने ही ग्रंथोंमें विशद रूपसे दिया हुआ है, इस लिये उनकी यहाँपर कोई व्याख्या करनेकी जरूरत नहीं है। हाँ, इतना जरूर बतलाना होगा कि दर्शनविशुद्धिके साथ साथ, समंतभद्रकी 'अर्हद्भक्ति' बहुत बढ़ी चढ़ी थी, वह बड़े ही उच्च कोटिके विकासको लिये हुए थी। उसमें अंधश्रद्धा अथवा अंधविश्वासको स्थान नहीं था, गुणज्ञता, गुणप्रीति और हृदयकी सरलता ही उसका एक आधार था, और इस लिये वह एकदम शुद्ध तथा निर्दोष थी। अपनी इस शुद्ध भक्तिके प्रतापसे ही समंतभद्र इतने अधिक प्रतापी, तेजस्वी तथा पुण्याधिकारी हुए माळूम होते हैं। उन्होंने स्वयं भी इस बातका अनुभव किया था, और इसीसे वे अपने 'जिनस्तुतिशतक' के अन्तमें लिखते हैं—

---

* देखो, तत्त्वार्थाधिगम सूत्रके छठे अध्यायका २४ वाँ सूत्र, और उसके 'श्लोकवार्तिक' भाष्यका निम्न पद्य—

> दृग्विशुद्ध्यादयो नाम्नस्तीर्थकृत्त्वस्य हेतवः ।
> समस्ता व्यस्तरूपा वा दृग्विशुद्ध्या समन्विताः ॥

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते
हस्तावंजलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते ।
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरोनतिपरं सेवेदृशी येन ते
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते ॥ ११४ ॥

अर्थात्—हे भगवन्, आपके मतमें अथवा आपके ही विषयमें मेरी सुश्रद्धा है—अन्धश्रद्धा नहीं—,मेरी स्मृति भी आपको ही अपना विषय बनाये हुए है, मैं पूजन भी आपका ही करता हूँ, मेरे हाथ आपको ही प्रणामांजलि करनेके निमित्त हैं, मेरे कान आपकी ही गुणकथाको सुननेमें लीन रहते हैं, मेरी आँखें आपके ही रूपको देखती हैं, मुझे जो व्यसन है वह भी आपकी ही सुन्दर स्तुतियोंके रचनेका है और मेरा मस्तक भी आपको ही प्रणाम करनेमें तत्पर रहता है; इस प्रकारकी चूंकि मेरी सेवा है—मैं निरन्तर ही आपका इस तरह पर सेवन किया करता हूँ—इसी लिये हे तेजः-पते ! (केवलज्ञानस्वामिन्) मैं तेजस्वी हूँ, सुजन हूँ और सुकृती (पुण्यवान) हूँ ।

समंतभद्रके इन सच्चे हार्दिक उद्गारोंसे यह स्पष्ट चित्र खिंच जाता है कि वे कैसे और कितने 'अर्हद्भक्त' थे और उन्होंने कहाँ तक अपनेको अर्हत्सेवाके लिये अर्पण कर दिया था । अर्हद्गुणोंमें इतनी

१ समंतभद्रके इस उल्लेखसे ऐसा पाया जाता है कि यह 'जिनशतक' ग्रंथ उस समय बना है जब कि समन्तभद्र कितनी ही सुन्दर सुन्दर स्तुतियों–स्तुति-ग्रंथों–का निर्माण कर चुके थे और स्तुतिरचना उनका एक व्यसन बन चुका था । आश्चर्य नहीं जो देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयंभू नामके स्तोत्र इस ग्रंथसे पहले ही बन चुके हों और ऐसी सुन्दर स्तुतियोंके कारण ही समन्तभद्र अपने स्तुतिव्यसनको 'सुस्तुतिव्यसन' लिखनेके लिये समर्थ हो सके हों ।

अधिक प्रीति होनेसे ही वे अर्हन्त होनेके योग्य और अर्हन्तोंमें भी तीर्थंकर होनेके योग्य पुण्य संचय कर सके हैं, इसमें जरा भी संदेह नहीं है। अर्हद्गुणोंकी प्रतिपादक सुन्दर सुन्दर स्तुतियाँ रचनेकी ओर उनकी बड़ी रुचि थी, उन्होंने इसीको अपना व्यसन लिखा है और यह विलकुल ठीक है। समंतभद्रके जितने भी ग्रंथ पाये जाते हैं उनमेंसे कुछको छोड़कर शेष सब ग्रंथ स्तोत्रोंके ही रूपको लिये हुए हैं और उनसे समंतभद्रकी अद्वितीय अर्हद्भक्ति प्रकट होती है। 'जिनस्तुतिशतक' के सिवाय, देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयंभू स्तोत्र, ये आपके खास स्तुतिग्रन्थ हैं। इन ग्रंथोंमें जिस स्तोत्रप्रणालीसे तत्त्वज्ञान भरा गया है और कठिनसे कठिन तात्त्विक विवेचनोंको योग्य स्थान दिया गया है वह समंतभद्रसे पहलेके ग्रंथोंमें प्रायः नहीं पाई जाती अथवा बहुत ही कम उपलब्ध होती है। समंतभद्रने, अपने स्तुतिग्रंथोंके द्वारा, स्तुतिविद्याका खास तौरसे उद्धार तथा संस्कार किया है और इसी लिये वे '**स्तुतिकार**' कहलाते थे। उन्हें '**आद्य स्तुतिकार**' होनेका भी गौरव प्राप्त था। श्वेताम्बर सम्प्रदायके प्रधान आचार्य श्रीहेमचंद्रने भी अपने 'सिद्धहैमशब्दानुशासन' व्याकरणके द्वितीय सूत्रकी व्याख्यामें "**स्तुतिकारोऽप्याह**" इस वाक्यके द्वारा आपको 'स्तुतिकार' लिखा है और साथ ही आपके 'स्वयंभूस्तोत्र' का निम्न पद्य उद्धृत किया है—

नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे रसोपविद्धा इव लोहधातवः।
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः॥

१–२ सनातनजैनग्रंथमालामें प्रकाशित 'स्वयंभूस्तोत्र' में और स्वयंभूस्तोत्रकी प्रभाचंद्राचार्यविरचित संस्कृतटीकामें 'लांछना इमे' की जगह 'सत्यलाञ्छिताः' और 'फलाः' की जगह 'गुणाः' पाठ पाया जाता है।

इसी पद्यको श्वेताम्बराग्रणी श्रीमलयगिरिसूरिने भी, अपनी 'आवश्यकसूत्र'की टीकामें, '**आद्यस्तुतिकारोऽप्याह**' इस परिचय-वाक्यके साथ उद्धृत किया है, और इस तरह पर समंतभद्रको '**आद्यस्तुतिकार**'—सबसे प्रथम अथवा सबसे श्रेष्ट स्तुतिकार—सूचित किया है। इन उल्लेखवाक्योंसे यह भी पाया जाता है कि समंतभद्रकी 'स्तुतिकार' रूपसे भी बहुत अधिक प्रसिद्धि थी और इसी लिये 'स्तुतिकार'के साथमें उनका नाम देनेकी शायद कोई जरूरत नहीं समझी गई।

समंतभद्र इस स्तुतिरचनाके इतने प्रेमी क्यों थे और उन्होंने क्यों इस मार्गको अधिक पसंद किया, इसका साधारण कारण यद्यपि, उनका भक्ति-उद्रेक अथवा भक्तिविशेष हो सकता है, परंतु, यहाँपर हम उन्हींके शब्दोंमें इस विषयको कुछ और भी स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं और साथ ही यह प्रकट कर देना चाहते हैं कि समंतभद्रका इन स्तुति-स्तोत्रोंके विषयमें क्या भाव था और वे उन्हें किस महत्त्वकी दृष्टिसे देखते थे। आप अपने 'स्वयंभूस्तोत्र' में लिखते हैं—

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा,
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः ।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे
स्तुयान्नत्वा विद्वान्सततमभिपूज्यं नमिजिनम् ॥११६॥

---

१ इसपर मुनि जिनविजयजी अपने 'साहित्यसंशोधक' के प्रथम अंकमें लिखते हैं—"इस उल्लेखसे स्पष्ट जाना जाता है कि ये (समंतभद्र) प्रसिद्ध स्तुतिकार माने जाते थे, इतना ही नहीं परन्तु आद्य—सबसे पहले होनेवाले—स्तुतिकारका मानप्राप्त थे।"

अर्थात्—स्तुतिके समय और स्थानपर स्तुत्य चाहे मौजूद हो या न हो और फलकी प्राप्ति भी चाहे सीधी उसके द्वारा होती हो या न होती हो, परंतु साधु स्तोताकी स्तुति कुशल परिणामकी—पुण्यप्रसाधक परिणामोंकी—कारण जरूर होती है; और वह कुशल परिणाम अथवा तज्जन्य पुण्यविशेष श्रेय फलका दाता है। जब जगतमें इस तरह स्वाधीनतासे श्रेयोमार्ग सुलभ है—अपनी स्तुतिके द्वारा प्राप्त है—तब, हे सर्वदा अभिपूज्य **नमिजिन**, ऐसा कौन परीक्षापूर्वकारी विद्वान् अथवा विवेकी होगा जो आपकी स्तुति न करेगा ? जरूर करेगा।

इससे स्पष्ट है कि समंतभद्र इन अर्हत्स्तोत्रोंके द्वारा श्रेयो मार्गको सुलभ और स्वाधीन मानते थे, उन्होंने इन्हें '**जन्मारण्यशिखी**'[1] —जन्ममरणरूपी संसार वनको भस्म करनेवाली अग्नि—तक लिखा है और ये उनकी उस निःश्रेयस—मुक्तिप्राप्तिविषयक—भावनाके पोषक थे जिसमें वे सदा सावधान रहते थे। इसी लिये उन्होंने इन 'जिन-स्तुतियों' को अपना व्यसन बनाया था—उनका उपयोग प्रायः ऐसे ही शुभ कामोंमें लगा रहता था। यही वजह थी कि संसारमें उनकी उन्नतिका—उनकी महिमाका—कोई बाधक नहीं था; वह नाशरहित थी। 'जिनस्तुतिशतक'के निम्न वाक्यसे भी ऐसा ही ध्वनित होता है—

'वन्दीभूतवतोऽपिनोन्नतिहतिर्नन्तुश्च येषां मुदा[2] * ।'

---

१ 'जन्मारण्यशिखी स्तवः' ऐसा 'जिनस्तुतिशतक' में लिखा है।

२ येषां नन्तुः (स्तोतुः) मुदा (हर्षेण) वन्दीभूतवतोऽपि (मंगलपाठकी भूतवतोऽपि नग्नाचार्यरूपेण भवतोपि मम) नोन्नतिहतिः (न उन्नतेः माहात्म्यस्य हतिः हननं)।—इति तट्टीकायां नरसिंहः।

* यह पूरा पद्य इस प्रकार है—

इसी ग्रंथमें एक श्लोक निम्न प्रकारसे भी पाया जाता है—

रुचं बिभर्ति ना धीरं नाथातिस्पष्टवेदनः।
वचस्ते भजनात्सारं यथायः स्पर्शवेदिनः॥ ६०॥

इसमें, थोड़े ही शब्दों द्वारा, अर्हद्भक्तिका अच्छा माहात्म्य प्रदर्शित किया है—यह बतलाया है कि 'हे नाथ, जिस प्रकार लोहा स्पर्शमणि (पारस पाषाण) का सेवन (स्पर्शन) करनेसे सोना बन जाता है और उसमें तेज आ जाता है उसी प्रकार यह मनुष्य आपकी सेवा करनेसे अति स्पष्ट (विशद) ज्ञानी होता हुआ तेजको धारण करता है और उसका वचन भी सारभूत तथा गंभीर हो जाता है।'

माॡम होता है समंतभद्र अपनी इस प्रकारकी श्रद्धाके कारण ही अर्हद्भक्तिमें सदा लीन रहते थे और यह उनकी इस भक्तिका ही परिणाम था जो वे इतने अधिक ज्ञानी तथा तेजस्वी हो गये हैं और उनके वचन अद्वितीय तथा अपूर्व माहात्म्यको लिये हुए थे।

समंतभद्रका भक्तिमार्ग उनके स्तुतिग्रंथोंके गहरे अध्ययनसे बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। वास्तवमें समन्तभद्र ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग तीनोंकी एक मूर्ति बने हुए थे—इनमेंसे किसी एक ही योगके वे एकान्त पक्षपाती नहीं थे—निरी[1] ऐकान्तता तो उनके पास भी नहीं

जन्मारण्यशिखी स्तवः स्मृतिरपि क्लेशाम्बुधेर्नौः पदे
भक्तानां परमौ निधी प्रतिकृतिः सर्वार्थसिद्धिः परा।
वन्दीभूतवतोपि नोन्नतिहतिर्नन्तुश्च येषां मुदा
दातारो जयिनो भवन्तु वरदा देवेश्वरास्ते सदा॥ ११५॥

१ जो एकान्तता नयोंके निरपेक्ष व्यवहारको लिये हुए होती है उसे 'निरी' अथवा 'मिथ्या' एकान्तता कहते हैं। समन्तभद्र इस मिथ्यैकान्ततासे रहित थे; इसीसे 'देवागम'में एक आपत्तिका निरसन करते हुए, उन्होंने लिखा है—"न मिथ्यैकान्ततास्ति नः।"

फटकती थी । वे सर्वथा एकान्तवादके सख्त विरोधी थे और उसे वस्तुतत्त्व नहीं मानते थे । उन्होंने जिन खास कारणोंसे अर्हंतदेवको अपनी स्तुतिके योग्य समझा और उन्हें अपनी स्तुतिका विषय बनाया है उनमें, उनके द्वारा, एकान्त दृष्टिके प्रतिषेधकी सिद्धि भी एक कारण है । अर्हन्त देवने अपने न्यायबाणोंसे एकान्त दृष्टिका निषेध किया है अथवा उसके प्रतिषेधको सिद्ध किया है और मोहरूपी शत्रुको नष्ट करके वे कैवल्य विभूतिके सम्राट् बने हैं, इसी लिये समन्तभद्र उन्हें लक्ष्य करके कहते हैं कि आप मेरी स्तुतिके योग्य हैं—पात्र हैं । यथा—

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धिर्न्यायेषुभिर्मोहरिपुं निरस्य ।
असि स्म कैवल्यविभूतिसम्राट्, ततस्त्वमर्हन्नसि मे स्तवार्हः ५५

—स्वयंभूस्तोत्र ।

इससे समंतभद्रकी साफ तौरपर परीक्षाप्रधानता पाई जाती है और साथ ही यह मालूम होता है कि १ एकान्तदृष्टिका प्रतिषेध करना और २ मोहशत्रुका नाश करके कैवल्य विभूतिका सम्राट् होना ये दो उनके जीवनके खास उद्देश्य थे । समंतभद्र अपने इन उद्देश्योंको पूरा करनेमें बहुत कुछ सफल हुए हैं । यद्यपि, वे अपने इस जन्ममें कैवल्य विभूतिके सम्राट् नहीं हो सके परंतु उन्होंने वैसा होनेके लिये प्रायः संपूर्ण योग्यताओंका संपादन कर लिया है यह कुछ कम सफलता नहीं है—और इसी लिये वे आगामीको उस विभूतिके सम्राट् होंगे—तीर्थंकर होंगे—जैसा कि ऊपर जाहिर किया जा चुका है । केवलज्ञान न होने पर भी, समंतभद्र उस स्याद्वादविद्याकी अनुपम विभूतिसे विभूषित थे जिसे केवलज्ञानकी तरह सर्व तत्त्वोंकी प्रकाशित करनेवाली लिखा है और जिसमें तथा केवलज्ञानमें साक्षात्-असाक्षात्का ही भेद माना गया

है * । इस लिये प्रयोजनीय पदार्थोंके सम्बंधमें आपका ज्ञान बहुत बढ़ा चढ़ा था, इसमें जरा भी संदेह नहीं है, और इसका अनुभव ऊपरके कितने ही अवतरणों तथा समंतभद्रके ग्रंथोंसे बहुत कुछ हो जाता है। यही वजह है कि श्रीजिनसेनाचार्यने आपके वचनोंको केवली भगवान महावीरके वचनोंके तुल्य प्रकाशमान लिखा है और दूसरे भी कितने ही प्रधान प्रधान आचार्यों तथा विद्वानोंने आपकी विद्या और वाणीकी प्रशंसामें खुला गान किया है + ।

यहाँ तकके इस संपूर्ण परिचयसे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है और इसमें जरा भी संदेह नहीं रहता कि समन्तभद्र एक बहुत ही बड़े महात्मा थे, समर्थ विद्वान् थे, प्रभावशाली आचार्य थे, महा मुनिराज थे, स्याद्वाद विद्याके नायक थे, एकांत पक्षके निर्मूलक थे, अबाधितशक्ति थे, 'सातिशय योगी' थे, सातिशय वादी थे, सातिशय वाग्मी थे, श्रेष्ठकवि थे, उत्तम गमक थे, सद्गुणोंकी मूर्ति थे, प्रशांत थे, गंभीर थे, भद्रप्रयोजन और सदुद्देश्यके धारक थे, हितमितभाषी थे, लोकहितैषी थे, विश्वप्रेमी थे, परहितनिरत थे, मुनिजनोंसे वंद्य थे, बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंसे स्तुत्य थे और जैन शासनके अनुपम द्योतक थे, प्रभावक थे और प्रसारक थे ।

---

* यथा—स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ १०५ ॥
—आप्तमीमांसा ।

\+ श्वेताम्बर साधु मुनिश्री जिनविजयजी कुछ थोड़ेसे प्रशंसा वाक्योंके आधार पर ही लिखते हैं—"इतना गौरव शायद ही अन्य किसी आचार्यका किया गया हो ।"—जैन सा० सं० १ ।

ऐसे सातिशय पूज्य महामान्य और सदा स्मरण रखने योग्य भगवान्[1] समंतभद्र स्वामीके विषयमें श्रीशिवकोटि आचार्यने, अपनी 'रत्नमाला' में जो यह भावना की है कि 'वे निष्पाप स्वामी समंतभद्र मेरे हृदयमें रात दिन तिष्टो जो जिनराजके ऊँचे उठते हुए शासन समुद्रको बढ़ानेके लिये चंद्रमा हैं' वह बहुत ही युक्तियुक्त है और हमें बड़ी प्यारी मालूम देती है। निःसन्देह स्वामी समंतभद्र इसी योग्य हैं कि उन्हें निरंतर अपने हृदयमंदिरमें विराजमान किया जाय; और इस लिये हम, शिवकोटि आचार्यकी इस भावनाका हृदयसे अभिनंदन और अनुमोदन करते हुए, उसे यहाँपर उद्धृत करते हैं—

स्वामी समन्तभद्रो मेऽहर्निशं मानसेऽनघः।
तिष्ठताज्जिनराजोद्यच्छासनाम्बुधिचंद्रमाः ॥ ४ ॥



१ श्रीविद्यानदाचार्यने भी अष्टसहस्रीमें कई वार इस विशेषणके साथ आपका उल्लेख किया है।

मुनि-जीवन और आपत्काल।



स्वामी समन्तभद्रके बाधारहित और शांत मुनिजीवनमें एक वार कठिन विपत्तिकी भी एक वड़ी भारी लहर आई है, जिसे हम आपका 'आपत्काल' कहते हैं। वह विपत्ति क्या थी और समन्तभद्रने उसे कैसे पार किया, यह सब एक वड़ा ही हृदय-द्रावक विषय है। नीचे उसीका, उनके मुनि-जीवनसहित, कुछ परिचय और विचार पाठकोंके सामने उपस्थित किया जाता है—

समन्तभद्र, अपनी मुनिचर्याके अनुसार, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नामके पंचमहाव्रतोंका यथेष्ट रीतिसे पालन करते थे; ईर्या-भाषा-एषणादि पंचसमितियोंके परिपालनद्वारा उन्हें निरंतर पुष्ट बनाते थे, पाँचों इंद्रियोंके निग्रहमें सदा तत्पर, मनोगुप्ति आदि तीनों गुप्तियोंके पालनमें धीर और सामायिकादि षडावश्यक क्रियाओंके अनुष्ठानमें सदा सावधान रहते थे। वे पूर्ण अहिंसाव्रतका पालन करते हुए, कषायभावको लेकर किसी भी जीवको अपने मन, वचन या कायसे पीड़ा पहुँचाना नहीं चाहते थे। इस बातका सदा यत्न रखते थे कि किसी प्राणीको उनके प्रमादवश बाधा न पहुँच जाय, इसी लिये वे दिनमें मार्ग शोधकर चलते थे, चलते समय दृष्टिको इधर उधर नहीं भ्रमाते थे, रात्रिको गमनागमन नहीं करते थे, और इतने साधनसंपन्न थे कि सोते समय एकासनसे रहते थे—यह नहीं होता था कि निद्रावस्थामें एक कर्वटसे दूसरी कर्वट बदल जाय और उसके द्वारा किसी जीव-जंतुको बाधा पहुँच जाय; वे पीछी पुस्तकादिक किसी भी वस्तुको देख भाल कर उठाते धरते थे और मलमूत्रादिक भी प्रासुक भूमि तथा बाधारहित एकान्त स्थानमें

क्षेपण करते थे । इसके सिवाय, उन पर यदि कोई प्रहार करता तो वे उसे नहीं रोकते थे, उसके प्रति दुर्भाव भी नहीं रखते थे; जंगलमें यदि हिंस्र जंतु भी उन्हें सताते अथवा डंस मशकादिक उनके शरीरका रक्त पीते थे तो वे वलपूर्वक उनका निवारण नहीं करते थे, और न ध्यानावस्थामें अपने शरीर पर होनेवाले चींटी आदि जंतुओंके स्वच्छंद विहारको ही रोकते थे । वे इन सब अथवा इसी प्रकारके और भी कितने ही, उपसर्गों तथा परीषहोंको साम्यभावसे सहन करते थे और अपने ही कर्मविपाकका चिन्तवन कर सदा धैर्य धारण करते थे—दूसरोंको उसमें जरा भी दोष नहीं देते थे ।

समन्तभद्र सत्यके वड़े प्रेमी थे; वे सदा यथार्थ भाषण करते थे, इतना ही नहीं वल्कि, प्रमत्तयोगसे प्रेरित होकर कभी दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेवाला सावद्य वचन भी मुँहसे नहीं निकालते थे; और कितनी ही वार मौन धारण करना भी श्रेष्ठ समझते थे। स्त्रियोंके प्रति आपका अनादर भाव न होते हुए भी आप कभी उन्हें रागभावसे नहीं देखते थे; वल्कि माता, वहिन और सुताकी तरहसे ही पहचानते थे; साथ ही, मैथुन कर्मसे, घृणात्मक दृष्टिके साथ, आपकी पूर्ण विरक्ति रहती थी, और आप उसमें द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकारकी हिंसाका सद्भाव मानते थे । इसके सिवाय, प्राणियोंकी अहिंसाको आप 'परमब्रह्म' समझते थे

१ आपकी इस घृणात्मक दृष्टिका भाव 'ब्रह्मचारी' के निम्न लक्षणसे भी पाया जाता है, जिसे आपने 'रत्नकरंडक' में दिया है—

मलवीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगंधि वीभत्सं ।
पश्यन्नंगमनंगाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥ १४३ ॥

२ अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं,
न सा तत्रारंभोस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।

और जिस आश्रमविधिमें अणुमात्र भी आरंभ न होता हो उसीके द्वारा उस अहिंसाकी पूर्ण सिद्धि मानते थे। उसी पूर्ण अहिंसा और उसी परम ब्रह्मकी सिद्धिके लिए आपने अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग किया था और नैर्ग्रंथ्य आश्रममें प्रविष्ट होकर अपना प्राकृतिक दिगम्बर वेष धारण किया था। इसीलिये आप अपने पास कोई कौड़ी पैसा नहीं रखते थे, बल्कि कौड़ी पैसेसे सम्बंध रखना भी अपने मुनिपदके विरुद्ध समझते थे। आपके पास शौचोपकरण (कमंडलु), संयमोपकरण (पीछी) और ज्ञानोपकरण (पुस्तकादिक)के रूपमें जो कुछ थोड़ीसी उपधि थी उससे भी आपका ममत्व नहीं था—भले ही उसे कोई उठा ले जाय आपको इसकी जरा भी चिन्ता नहीं थी। आप सदा भूमिपर शयन करते थे और अपने शरीरको कभी संस्कारित अथवा मंडित नहीं करते थे; यदि पसीना आकर उस पर मैल जम जाता था तो उसे स्वयं अपने हाथसे धोकर दूसरोंको अपना उजलारूप दिखलानेकी भी कभी कोई चेष्टा नहीं करते थे; बल्कि उस मलजनित परीषहको साम्यभावसे जीतकर कर्मफलको धोनेका यत्न करते थे, और इसी प्रकार नग्न रहते तथा दूसरी सरदी गरमी आदिकी परीषहोंको भी खुशीखुशीसे सहन करते थे; इसीसे आपने अपने एक परिचयमें, गौरवके साथ अपने आपको **'नग्नाटक'** और **' मलमलिनतनु '** भी प्रकट किया है।

समंतभद्र दिनमें सिर्फ एक वार भोजन करते थे, रात्रिको कभी भोजन नहीं करते थे, और भोजन भी आगमोदित विधिके अनुसार

ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रंथमुभयं,
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ॥ ११९ ॥
—स्वयंभूस्तोत्र।

१ 'कांच्यां नग्नाटकोहं मलमलिनतनुः' इत्यादि पद्यमें ।

शुद्ध, प्रासुक तथा निर्दोष ही लेते थे । वे अपने उस भोजनके लिये किसीका निमंत्रण स्वीकार नहीं करते थे, किसीको किसी रूपमें भी अपना भोजन करने करानेके लिये प्रेरित नहीं करते थे, और यदि उन्हें यह माल्डम हो जाता था कि किसीने उनके उद्देश्यसे कोई भोजन तय्यार किया है अथवा किसी दूसरे अतिथि (मेहमान) के लिये तय्यार किया हुआ भोजन उन्हें दिया जाता है तो वे उस भोजनको नहीं लेते थे । उन्हें उसके लेनेमें सावद्यकर्मके भागी होनेका दोष माल्डम पड़ता था और सावद्यकर्मसे वे सदा अपने आपको मन-वचन-काय तथा कृत-कारित अनुमोदनाद्वारा दूर रखना चाहते थे । वे उसी शुद्ध भोजनको अपने लिये कल्पित और शास्त्रानुमोदित समझते थे जिसे दातारने स्वयं अपने अथवा अपने कुटुम्बके लिये तय्यार किया हो, जो देनेके स्थान पर उनके आनेसे पहले ही मौजूद हो और जिसमेंसे दातार कुछ अंश उन्हें भक्तिपूर्वक भेट करके शेषमें स्वयं संतुष्ट रहना चाहता हो—उसे अपने भोजनके लिये फिर दोबारा आरंभ करनेकी कोई जरूरत न हो । आप भ्रामरी वृत्तिसे, दातारको कुछ भी बाधा न पहुँचाते हुए, भोजन लिया करते थे । भोजनके समय यदि आगमकथित दोषोंमेंसे उन्हें कोई भी दोष माल्डम पड़ जाता था अथवा कोई अन्तराय सामने उपस्थित हो जाता था तो वे खुशीसे उसी दम भोजनको छोड़ देते थे और इस अलाभके कारण चित्त पर जरा भी मैल नहीं लाते थे । इसके सिवाय आपका भोजन परिमित और सकारण होता था । आगममें मुनियोंके लिये ३२ ग्रास तक भोजनकी आज्ञा है परंतु आप उससे अक्सर दो चार दस ग्रास कम ही भोजन लेते थे, और जब यह देखते थे कि विना भोजन किये भी चल सकता है—नित्यनियमोंके पालन तथा धार्मिक अनुष्ठानोंके सम्पादनमें कोई विशेष बाधा नहीं आती तो

कई कई दिनके लिए आहारका त्याग करके उपवास भी धारण कर लेते थे; अपनी शक्तिको जाँचने और उसे बढ़ानेके लिये भी आप अक्सर उपवास किया करते थे, ऊनोदर रखते थे, अनेक रसोंका त्याग कर देते थे और कभी कभी ऐसे कठिन तथा गुप्त नियम भी ले लेते थे जिनकी स्वाभाविक पूर्ति पर ही आपका भोजन अवलम्बित रहता था। वास्तवमें, समंतभद्र भोजनको इस जीवनयात्राका एक साधन मात्र समझते थे। उसे अपने ज्ञान, ध्यान और संयमादिकी वृद्धि सिद्धि तथा स्थितिका सहायक मात्र मानते थे—और इसी दृष्टिसे उसको ग्रहण करते थे। किसी शारीरिक बलको बढ़ाना, शरीरको पुष्ट बनाना अथवा तेजोवृद्धि करना उन्हें उसके द्वारा इष्ट नहीं था; वे स्वादके लिये भी भोजन नहीं करते थे, यही वजह है कि आप भोजनके ग्रासको प्रायः विना चबाये ही—विना उसका रसास्वादन किये ही—निगल जाते थे। आप समझते थे कि जो भोजन केवल देहस्थितिको कायम रखनेके उद्देशसे किया जाय उसके लिये रसास्वादनकी जरूरत ही नहीं है, उसे तो उदरस्थ कर लेने मात्रकी जरूरत है। साथ ही, उनका यह विश्वास था कि रसास्वादन करनेसे इंद्रियविषय पुष्ट होता है, इंद्रियविषयोंके सेवनसे कभी सच्ची शांति नहीं मिलती, उलटी तृष्णा बढ़ जाती है, तृष्णाकी वृद्धि निरंतर ताप उत्पन्न करती है और उस ताप अथवा दाहके कारण यह जीव संसारमें अनेक प्रकारकी दुःखपरम्परासे पीडित होता है; * इस लिये वे क्षणिक सुखके लिये कभी इंद्रियविषयोंको पुष्ट नहीं करते थे—क्षणिक सुखोंकी

* शतह्रदोन्मेष चलं हि सौख्यं, तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं तापस्तदायासयतीत्यवादीः॥ १३॥
—स्वयंभूस्तोत्र।

अभिलाषा करना ही वे परीक्षावानोंके लिये एक कलंक और अधर्मकी बात समझते थे। आपकी यह खास धारणा थी कि, आत्यन्तिक स्वास्थ्य —अविनाशी स्वात्मस्थिति अथवा कर्मविमुक्त अनंतज्ञानादि अवस्थाकी प्राप्ति ही पुरुषोंका—इस जीवात्माका—स्वार्थ है—स्वप्रयोजन है, क्षणभंगुर भोग—क्षणस्थायी विषयसुखानुभवन—उनका स्वार्थ नहीं है; क्योंकि तृषानुषंगसे—भोगोंकी उत्तरोत्तर आकांक्षा बढ़नेसे—शारीरिक और मानसिक—दुःखोंकी कभी शांति नहीं होती। वे समझते थे कि, यह शरीर 'अजंगम' है—बुद्धिपूर्वक परिस्पंदव्यापाररहित है—और एक यंत्रकी तरह चैतन्य पुरुषके द्वारा स्वव्यापारमें प्रवृत्त किया जाता है; साथ ही 'मलवीज' है—मलसे उत्पन्न हुआ है; मलयोनि है—मलकी उत्पत्तिका स्थान है—, '—गलन्मल' है—मल ही इससे झरता है—, 'पूति' है—दुर्गंधियुक्त है—, 'वीभत्स' है—घृणात्मक है—, 'क्षयि' है—नाशवान् है—और 'तापक' है—आत्माके दुःखोंका कारण है—; इस लिये वे इस शरीरसे स्नेह रखने तथा अनुराग बढ़ानेको अच्छा नहीं समझते थे, उसे व्यर्थ मानते थे, और इस प्रकारकी मान्यता तथा परिणतिको ही आत्महित स्वीकार करते थे * । अपनी ऐसी ही विचार-

---

* स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां, स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा ।
तृषोनुषंगान्न च तापशान्तिरितीदमाख्यद्भगवान्सुपार्श्वः ॥ ३१ ॥

अजंगमं जंगमनेययंत्रं यथा तथा जीवधृतं शरीरं ।
बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च स्नेहो वृथात्रेति हितं त्वमाख्यः ॥ ३२ ॥

—स्वयंभूस्तोत्र ।

मलबीजं मलयोनिं, गलन्मलं, पूतिगन्धबीभत्सं, पश्यन्नंगम्—

—रत्नकरंडक ।

परिणतिके कारण समंतभद्र शरीरसे बड़े ही निस्पृह और निर्ममत्व रहते थे—उन्हें भोगोंसे जरा भी रुचि अथवा प्रीति नहीं थी—; वे इस शरीरसे अपना कुछ पारमार्थिक काम निकालनेके लिये ही उसे थोड़ासा शुद्ध भोजन देते थे और इस बातकी कोई पर्वाह नहीं करते थे कि वह भोजन रूखा-चिकना, ठंडा-गरम, हलका-भारी, कडुआ कषायला आदि कैसा है।

इस लघु भोजनके बदलेमें समन्तभद्र अपने शरीरसे यथाशक्ति खूब काम लेते थे, घंटों तक कार्योत्सर्गमें स्थित हो जाते थे, आतापनादि योग धारण करते थे, और आध्यात्मिक तपकी वृद्धिके लिये अपनी शक्तिको न छुपाकर, दूसरे भी कितने ही अनशनादि उग्र उग्र बाह्य तपश्चरणोंका अनुष्ठान किया करते थे। इसके सिवाय नित्य ही आपका बहुतसा समय सामायिक, स्तुतिपाठ, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, समाधि, भावना, धर्मोपदेश, ग्रंथरचना और परहितप्रतिपादनादि कितने ही धर्म-कार्योंमें खर्च होता था। आप अपने समयको जरा भी धर्मसाधनारहित व्यर्थ नहीं जाने देते थे।

इस तरहपर, बड़े ही प्रेमके साथ मुनिधर्मका पालन करते हुए, स्वामी समन्तभद्र जब 'मणुवकहल्ली' ग्राममें धर्मध्यानसहित आनंदपूर्वक अपना मुनिजीवन व्यतीत कर रहे थे और अनेक दुर्द्धर तपश्चरणोंके द्वारा आत्मोन्नतिके पथमें अग्रेसर हो रहे थे तब एकाएक पूर्व-संचित असातावेदनीय कर्मके तीव्र उदयसे आपके शरीरमें 'भस्मक'

---

१ बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम् ॥८३॥
—स्वयंभूस्तोत्र।

२ ग्रामका यह नाम 'राजावलीकथे' में दिया है। यह 'कांची' के आसपासका कोई गाँव जान पड़ता है।

नामका एक महारोग उत्पन्न हो गया* । इस रोगकी उत्पत्तिसे यह स्पष्ट है कि समंतभद्रके शरीरमें उस समय कफ क्षीण हो गया था और वायु तथा पित्त दोनों बढ़ गये थे; क्योंकि कफके क्षीण होने पर जब पित्त, वायुके साथ बढ़कर कुपित हो जाता है तब वह अपनी गरमी और तेजीसे जठराग्निको अत्यंत प्रदीप्त, बलाढ्य और तीक्ष्ण कर देता ह और वह अग्नि अपनी तीक्ष्णतासे विरूक्ष शरीरमें पड़े हुए भोजनका तिरस्कार करती हुई, उसे क्षणमात्रमें भस्म कर देती है। जठराग्निकी इस अत्यंत तीक्ष्णावस्थाको ही 'भस्मक' रोग कहते हैं। यह रोग उपेक्षा किये जाने पर—अर्थात्, गुरु, स्निग्ध, शीतल, मधुर और श्लेष्मल अन्नपानका यथेष्ट परिमाणमें अथवा तृप्तिपर्यंत सेवन न करने पर—शरीरके रक्तमांसादि धातुओंको भी भस्म कर देता है, महादौर्बल्य उत्पन्न कर देता है, तृषा, स्वेद, दाह तथा मूर्च्छादिक अनेक उपद्रव खड़े कर देता है और अन्तमें रोगीको मृत्युमुखमें ही स्थापित करके छोड़ता है + । इस रोगके आक्रमण पर समन्तभद्रने शुरूशुरूमें

---

* ब्रह्मनेमिदत्त भी अपने 'आराधनाकथाकोष' में ऐसा ही सूचित करते हैं। यथा—

दुर्द्धरानेकचारित्ररत्नरत्नाकरो महान् ।
यावदास्ते सुखं धीरस्तावत्तत्कायकेऽभवत् ॥
असद्वेद्यमहाकर्मोदयाद्दुर्दुःखदायकः ।
तीव्रकष्टप्रदः कष्टं भस्मकव्याधिसंज्ञकः ॥

—समन्तभद्रकथा, पद्य नं० ४, ५।

+ कट्वादिरूक्षान्नभुजां नराणां क्षीणे कफे मारुतपित्तवृद्धौ ।
अतिप्रवृद्धः पवनान्वितोऽग्निर्भुक्तं क्षणाद्भस्मकरोति यस्मात् ।
तस्मादसौ भस्मकसंज्ञकोऽभूदुपेक्षितोऽयं पचते च धातून् ।

—इति भावप्रकाशः ।

उसकी कुछ पर्वाह नहीं की । वे स्वेच्छापूर्वक धारण किये हुए उपवासों तथा अनशनादिक तपोंके अवसर पर जिस प्रकार क्षुधापरीषहको सहा करते थे उसी प्रकार उन्होंने इस अवसर पर भी पूर्व अभ्यासके बल पर, उसे सह लिया—परंतु इस क्षुधा और उस क्षुधामें बड़ा अन्तर था; वे इस बढ़ती हुई क्षुधाके कारण, कुछ ही दिन बाद, असह्य वेदनाका अनुभव करने लगे; पहले भोजनसे घंटोंके बाद नियत समय पर भूखका कुछ उदय होता था और उस समय उपयोगके दूसरी ओर लगे रहने आदिके कारण यदि भोजन नहीं किया जाता था तो वह भूख मर जाती थी और फिर घंटों तक उसका पता नहीं रहता था; परंतु अब भोजनको किये हुए देर नहीं होती थी कि क्षुधा फिरसे आ धमकती थी और भोजनके न मिलने पर जठराग्नि अपने आसपासके रक्त मांसको ही खींच खींचकर भस्म करना प्रारंभ कर देती थी । समन्तभद्रको इससे बड़ी वेदना होती थी, क्षुधाकी समान दूसरी शरीरवेदना है भी नहीं; कहा भी गया है—

" नरे क्षीणकफे पित्तं कुपितं मारुतानुगम् ।
स्वोष्मणा पावकस्थाने बलमग्नेः प्रयच्छति ॥
तथा लब्धबलो देहे विरूक्षे सानिलोऽनलः ।
परिभूय पचत्यन्नं तैक्ष्ण्यादाशु मुहुर्मुहुः ॥
पक्वान्नं सततं धातून् शोणितादीन्पचत्यपि ।
ततो दौर्बल्यमातंकान् मृत्युं चोपनयेन्नरं ॥
भुक्तेऽन्ने लभते शांतिं जीर्णमात्रे प्रताम्यति ।
तृट्स्वेददाहमूर्च्छा स्युर्व्याधयोऽत्यग्निसंभवाः ॥ "
" तमत्याग्निं गुरुस्निग्धशीतमधुरविज्वलैः ।
अन्नपानैर्नयेच्छान्तिं दीप्तमग्निमिवाम्बुभिः ॥ "

—इति चरकः ।

'क्षुधासमा नास्ति शरीरवेदना ।'

इस तीव्र क्षुधावेदनाके अवसर पर किसीसे भोजनकी याचना करना, दोवारा भोजन करना अथवा रोगोपशांतिके लिये किसीको अपने वास्ते अच्छे स्निग्ध, मधुर, शीतल गरिष्ट और कफकारी भोजनोंके तय्यार करनेकी प्रेरणा करना, यह सव उनके मुनिधर्मके विरुद्ध था। इस लिये समंतभद्र, वस्तुस्थितिका विचार करते हुए, उस समय अनेक उत्तमोत्तम भावनाओंका चिन्तवन करते थे और अपने आत्माको सम्बोधन करके कहते थे "हे आत्मन्, तूने अनादि कालसे इस संसारमें परिभ्रमण करते हुए अनेक वार नरक पशु आदि गतियोंमें दुःसह क्षुधावेदनाको सहा है; उसके आगे तो यह तेरी क्षुधा कुछ भी नहीं है। तुझे इतनी भी तीव्र क्षुधा रह चुकी है जो तीन लोकका अन्न खाजाने पर भी उपशम न हो परंतु एक कण खानेको नहीं मिला। ये सव कष्ट तूने पराधीन होकर सहे हैं और इसलिये उनसे कोई लाभ नहीं हो सका, अव तू स्वाधीन होकर इस वेदनाको सहन कर। यह सव तेरे ही पूर्व कर्मका दुर्विपाक है। साम्यभावसे वेदनाको सह लेने पर कर्मकी निर्जरा हो जायगी, नवीन कर्म नहीं बँधेगा और न आगेको फिर कभी ऐसे दुःखोंकी उठानेका अवसर ही प्राप्त होगा।" इस तरह पर समंतभद्र अपने साम्यभावको दृढ़ रखते थे और कषायादि दुर्भावोंको उत्पन्न होनेका अवसर नहीं देते थे। इसके सिवाय वे इस शरीरको कुछ अधिक भोजन प्राप्त कराने तथा शारीरिक शक्तिको विशेष क्षीण न होने देनेके लिये जो कुछ कर सकते थे वह इतना ही था कि जिन अनशनादिक वाह्य तथा घोर तपश्चरणोंको वे कर रहे थे और जिनका अनुष्ठान उनकी नित्यकी इच्छा तथा शक्ति पर निर्भर था—मूलगुणोंकी तरह लाजमी नहीं था—उन्हें वे ढीला अथवा स्थगित कर दें। उन्होंने

वैसा ही किया भी—वे अब उपवास नहीं रखते थे, अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग और कायक्लेश नामके बाह्य तपोंके अनुष्ठानको उन्होंने, कुछ कालके लिये, एकदम स्थगित कर दिया था, भोजनके भी वे अब पूरे ३२ ग्रास लेते थे; इसके सिवाय रोगी मुनिके लिये जो कुछ भी रिआयतें मिल सकती थीं वे भी प्रायः सभी उन्होंने प्राप्त कर ली थीं। परंतु यह सब कुछ होते हुए भी, आपकी क्षुधाको जरा भी शांति नहीं मिली, वह दिनपर दिन बढ़ती और तीव्रसे तीव्रतर होती जाती थी, जठरानलकी ज्वालाओं तथा पित्तकी तीक्ष्ण ऊष्मासे शरीरका रसरक्तादि दग्ध हुआ जाता था, ज्वालाएँ शरीरके अंगोंपर दूर दूर तक धावा कर रही थीं, और नित्यका स्वल्प भोजन उनके लिये जरा भी पर्याप्त नहीं होता था—वह एक जाज्वल्यमान अग्निपर थोड़ेसे जलके छींटेका ही काम देता था। इसके सिवाय यदि किसी दिन भोजनका अन्तराय हो जाता था तो और भी ज्यादा गजब हो जाता था—क्षुधा राक्षसी उस दिन और भी ज्यादा उग्र तथा निर्दय रूप धारण कर लेती थी। इस तरहपर समंतभद्र जिस महावेदनाका अनुभव कर रहे थे उसका पाठक अनुमान भी नहीं कर सकते। ऐसी हालतमें अच्छे अच्छे धीरवीरोंका धैर्य छूट जाता है, श्रद्धान भ्रष्ट हो जाता है और ज्ञानगुण डगमगा जाता है। परंतु समंतभद्र महामना थे, महात्मा थे, आत्म–देहान्तरज्ञानी थे, संपत्ति–विपत्तिमें समचित्त थे, निर्मल सम्यग्दर्शनके धारक थे और उनका ज्ञान अदुःखभावित[1] नहीं था जो दुःखोंके आने पर क्षीण

---

[1] अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः॥
—समाधितंत्र।

हो जाय, उन्होंने यथाशक्ति उग्र उग्र तपश्चरणोंके द्वारा कष्ट सहन कर अच्छा अभ्यास किया था, वे आनंदपूर्वक कष्टोंको सहन किया करते थे—उन्हें सहते हुए खेद नहीं मानते थे* और इसलिये, इस संकटके अवसरपर वे जरा भी विचलित तथा धैर्यच्युत नहीं हो सके।

समन्तभद्रने जब यह देखा कि रोग शान्त नहीं होता, शरीरकी दुर्बलता बढ़ती जारही है, और उस दुर्बलताके कारण नित्यकी आवश्यक क्रियाओंमें भी कुछ बाधा पड़ने लगी है; साथ ही, प्यास आदिकके भी कुछ उपद्रव शुरू हो गये हैं, तब आपको बड़ी ही चिन्ता पैदा हुई। आप सोचने लगे—" इस मुनिअवस्थामें, जहाँ आगमोदित विधिके अनुसार उद्गम-उत्पादनादि छयालीस दोषों, चौदह मलदोषों और बत्तीस अन्तरायोंको टालकर, प्रासुक तथा परिमित भोजन लिया जाता है वहाँ, इस भयंकर रोगकी शांतिके लिये उपयुक्त और पर्याप्त भोजनकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती† । मुनि पदको कायम रखते हुए, यह रोग प्रायः असाध्य अथवा निःप्रतीकार जान पड़ता है; इस लिये या तो मुझे अपने मुनिपदको छोड़ देना चाहिये

* आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः ।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुंजानोऽपि न खिद्यते ॥
—समाधितंत्र ।

† जो लोग आगमसे इन उद्गमादि दोषों तथा अन्तरायोंका स्वरूप जानते हैं और जिन्हें पिण्डशुद्धिका अच्छा ज्ञान है उन्हें यह बतलानेकी जरूरत नहीं है कि सच्चे जैन साधुओंको भोजनके लिये वैसे ही कितनी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है। इन कठिनाइयोंका कारण दातारोंकी कोई कमी नहीं है; बल्कि भोजनविधि और निर्दोष भोजनकी जटिलता ही उसका प्रायः एक कारण है—फिर 'भस्मक' जैसे रोगकी शांतिके लिये उपयुक्त और पर्याप्त भोजनकी तो बात ही दूर है।

और या 'सल्लेखना' व्रत धारण करके इस शरीरको धर्मार्थ त्यागनेके लिये तयार हो जाना चाहिये; परंतु मुनिपद कैसे छोड़ा जा सकता है ? जिस मुनिधर्मके लिये मैं अपना सर्वस्व अर्पण कर चुका हूँ, जिस मुनिधर्मको मैं बड़े प्रेमके साथ अब तक पालता आ रहा हूँ और जो मुनिधर्म मेरे ध्येयका एक मात्र आधार बना हुआ है उसे क्या मैं छोड़ दूँ ? क्या क्षुधाकी वेदनासे घबड़ाकर अथवा उससे बचनेके लिये छोड़ दूँ ? क्या इंद्रियविषयजनित स्वल्प सुखके लिये उसे बलि दे दूँ ? यह नहीं हो सकता। क्या क्षुधादि दुःखोंके इस प्रतिकारसे अथवा इंद्रियविषयजनित स्वल्प सुखके अनुभवनसे इस देहकी स्थिति सदा एकसी और सुखरूप बनी रहेगी ? क्या फिर इस देहमें क्षुधादि दुःखोंका उदय नहीं होगा ? क्या मृत्यु नहीं आएगी ? यदि ऐसा कुछ नहीं है तो फिर इन क्षुधादि दुःखोंके प्रतिकार आदिमें गुण ही क्या है ? उनसे इस देह अथवा देहीका उपकार ही क्या बन सकता है ?* मैं दुःखोंसे बचनेके लिये कदापि मुनिधर्मको नहीं छोड़ूँगा; भले ही यह देह नष्ट हो जाय, मुझे उसकी चिन्ता नहीं है; मेरा आत्मा अमर है, उसे कोई नाश नहीं कर सकता; मैंने दुःखोंका स्वागत करनेके लिये मुनिधर्म धारण किया था, न कि उनसे घबराने और बचनेके लिए; मेरी परीक्षाका यही समय है, मैं मुनिधर्मको नहीं

---

* क्षुधादि दुःखोंके प्रतिकारादिविपयक आपका यह भाव 'स्वयंभूस्तोत्र'के निम्न पद्यसे भी प्रकट होता है—

'क्षुदादिदुःखप्रतिकारतः स्थिति-
र्न चेन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः।
ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनो-
रितीदमित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत्' ॥१८॥

छोड़ूँगा।" इतनेमें ही अंतःकरणके भीतरसे एक दूसरी आवाज आई— "समंतभद्र ! तू अनेक प्रकारसे जैनशासनका उद्धार करने और उसे प्रचार देनेमें समर्थ है, तेरी बदौलत बहुतसे जीवोंका अज्ञानभाव तथा मिथ्यात्व नष्ट होगा और वे सन्मार्गमें लगेंगे; यह शासनोद्धार और लोकहितका काम क्या कुछ कम धर्म है ? यदि इस शासनोद्धार और लोकहितकी दृष्टिसे ही तू कुछ समयके लिये मुनिपदको छोड़ दे और अपने भोजनकी योग्य व्यवस्था द्वारा रोगको शान्त करके फिरसे मुनिपद धारण कर लेवे तो इसमें कौनसी हानि है ? तेरे ज्ञान, श्रद्धान, और चारित्रके भावको तो इससे जरा भी क्षति नहीं पहुँच सकती, वह तो हर दम तेरे साथ ही रहेगा; तू द्रव्यलिंगकी अपेक्षा अथवा बाह्यमें भले ही मुनि न रहे; परंतु भावोंकी अपेक्षा तो तेरी अवस्था मुनि जैसी ही होगी, फिर इसमें अधिक सोचने विचारनेकी बात ही क्या है ? इसे आपद्धर्मके तौर पर ही स्वीकार कर; तेरी परिणति तो हमेशा लोकहितकी तरफ रही है, अब उसे गौण क्यों किये देता है ? दूसरोंके हितके लिये ही यदि तू अपने स्वार्थकी थोड़ीसी बलि देकर—अल्प कालके लिये मुनि-पदको छोड़कर—बहुतोंका भला कर सके तो इससे तेरे चरित्र पर जरा भी कलंक नहीं आ सकता, वह तो उलटा और भी ज्यादा देदीप्य-मान होगा; अतः तू कुछ दिनोंके लिये इस मुनिपदका मोह छोड़कर और मानापमानकी जरा भी पर्वाह न करते हुए अपने रोगको शांत करनेका यत्न कर, वह निःप्रतीकार नहीं है; इस रोगसे मुक्त होने पर, स्वस्थावस्थामें, तू और भी अधिक उत्तम रीतिसे मुनिधर्मका पालन कर सकेगा; अब विलम्ब करनेकी जरूरत नहीं है, विलम्बसे हानि होगी।"

इस तरह पर समंतभद्रके हृदयमें कितनी ही देरतक विचारोंका उत्थान और पतन होता रहा। अन्तको आपने यही स्थिर किया कि

" क्षुदादिदुःखोंसे घबराकर उनके प्रतिकारके लिये अपने न्याय्य नियमोंको तोड़ना उचित नहीं है; लोकका हित वास्तवमें लोकके आश्रित है और मेरा हित मेरे आश्रित है; यह ठीक है कि लोककी जितनी सेवा मैं करना चाहता था उसे मैं नहीं कर सका; परंतु उस सेवाका भाव मेरे आत्मामें मौजूद है और मैं उसे अगले जन्ममें पूरा करूँगा; इस समय लोकहितकी आशा पर आत्महितको बिगाड़ना मुनासिब नहीं है; इस लिये मुझे अब 'सल्लेखना' का व्रत जरूर ले लेना चाहिये और मृत्युकी प्रतीक्षामें बैठकर शांतिके साथ इस देहका धर्मार्थ त्याग कर देना चाहिये।" इस निश्चयको लेकर समंतभद्र सल्लेखना व्रतकी आज्ञा प्राप्त करनेके लिये अपने वयोवृद्ध, तपोवृद्ध, और अनेक सद्गुणालंकृत पूज्य गुरुदेवके पास पहुँचे और उनसे अपने रोगका सारा हाल निवेदन किया। साथ ही, उनपर यह प्रकट करते हुए कि मेरा रोग निःप्रतीकार जान पड़ता है और रोगकी निःप्रतीकारावस्थामें 'सल्लेखना' का शरण लेना ही श्रेष्ठ कहा गया है, * यह विनम्र प्रार्थना की कि 'अब आप कृपाकर मुझे सल्लेखना धारण करनेकी आज्ञा प्रदान करें और यह आशीर्वाद देवें कि मैं साहसपूर्वक और सहर्ष उसका निर्वाह करनेमें समर्थ हो सकूँ।' समंतभद्रकी इस विज्ञापना और प्रार्थनाको सुनकर गुरुजी कुछ देरके लिये मौन रहे, उन्होंने समंतभद्रके मुखमंडल (चेहरे) पर एक गंभीर दृष्टि डाली और फिर अपने

१ 'राजावलीकथे' से यह तो पता चलता है कि समंतभद्रके गुरुदेव उस समय मौजूद थे और समंतभद्र सल्लेखनाकी आज्ञा प्राप्त करनेके लिये उनके पास गये थे, परंतु यह मालूम नहीं हो सका कि उनका क्या नाम था।

* उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥ १२२ ॥
—रत्नकरंडक।

योगवलसे मालूम किया कि समंतभद्र अल्पायु नहीं हैं, उनके द्वारा धर्म तथा शासनके उद्धारका महान् कार्य होनेको है इस दृष्टिसे वह सल्लेखनाका पात्र नहीं; यदि उसे सल्लेखनाकी इजाजत दी गई तो वह अकालहीमें कालके गालमें चला जायगा और उससे श्रीवीरभगवानके शासन कार्यको बहुत बड़ी हानि पहुँचेगी; साथ ही, लोकका भी बड़ा अहित होगा। यह सब सोचकर गुरुजीने, समंतभद्रकी प्रार्थनाको अस्वीकार करते हुए, उन्हें बड़े ही प्रेमके साथ समझाकर कहा "वत्स, अभी तुम्हारी सल्लेखनाका समय नहीं आया, तुम्हारे द्वारा शासनकार्यके उद्धारकी मुझे बड़ी आशा है, निश्चय ही तुम धर्मका उद्धार और प्रचार करोगे, ऐसा मेरा अन्तःकरण कहता है; लोकको भी इस समय तुम्हारी बड़ी जरूरत है, इस लिये मेरी यह खास इच्छा है और यही मेरी आज्ञा है कि तुम जहाँपर और जिस वेषमें रहकर रोगोपशमनके योग्य तृप्तिपर्यंत भोजन प्राप्त कर सको वहीं पर खुशीसे चले जाओ और उसी वेषको धारण कर लो, रोगके उपशांत होने पर फिरसे जैनमुनि-दीक्षा धारण कर लेना और अपने सब कार्मोंको सँभाल लेना। मुझे तुम्हारी श्रद्धा और गुणज्ञतापर पूरा विश्वास है, इसी लिये मुझे यह कहनेमें जरा भी संकोच नहीं होता कि तुम चाहे जहाँ जा सकते हो और चाहे जिस वेषको धारण कर सकते हो; मैं खुशीसे तुम्हें ऐसा करनेकी इजाजत देता हूँ।"

गुरुजीके इन मधुर तथा सारगर्भित वचनोंको सुनकर और अपने अन्तःकरणकी उस आवाजको स्मरण करके समंतभद्रको यह निश्चय हो गया कि इसीमें जरूर कुछ हित है, इस लिये आपने अपने सल्लेखनाके विचारको छोड़ दिया और गुरुजीकी आज्ञाको शिरोधारण कर आप उनके पाससे चल दिये।

अब समन्तभद्रको यह चिन्ता हुई कि दिगम्बर मुनिवेषको यदि छोड़ा जाय तो फिर कौनसा वेष धारण किया जाय, और वह वेष जैन हो या अजैन। अपने मुनिवेषको छोड़नेका खयाल आते ही उन्हें फिर दुःख होने लगा और वे सोचने लगे—"जिस दूसरे वेषको मैं आज तक विकृत और अप्राकृतिक वेष समझता आरहा हूँ उसे मैं कैसे धारण करूँ! क्या उसीको अब मुझे धारण करना होगा? क्या गुरुजीकी ऐसी ही आज्ञा है?—हाँ, ऐसी ही आज्ञा है। उन्होंने स्पष्ट कहा है 'यही मेरी आज्ञा है,'—'चाहे जिस वेषको धारण कर लो, रोगके उपशांत होने पर फिरसे जैनमुनिदीक्षा धारण कर लेना' तब तो इसे अलंघ्य शक्ति भवितव्यता कहना चाहिये। यह ठीक है कि मैं वेष (लिंग) को ही सब कुछ नहीं समझता—उसीको मुक्तिका एक मात्र कारण नहीं जानता—वह देहाश्रित है और देह ही इस आत्माका संसार है; इस लिये मुझ मुमुक्षुका—संसार बंधनोंसे छूटनेके इच्छुकका—किसी वेषमें एकान्त आग्रह नहीं हो सकता*; फिर भी मैं वेषके विकृत और अविकृत ऐसे दो भेद जरूर मानता हूँ, और अपने लिये अविकृत वेषमें रहना ही अधिक अच्छा समझता है। इसीसे, यद्यपि,

---

१—...ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं।
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः॥—स्वयंभू०।

* श्रीपूज्यपादके समाधितंत्रमें भी वेषविषयमें ऐसा ही भाव प्रतिपादित किया गया है; यथा—

लिंगं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिंगकृताग्रहाः॥ ८७॥

अर्थात्—लिंग (जटाधारण नग्नत्वादि) देहाश्रित है और देह ही आत्माका संसार है, इस लिये जो लोग लिंग (वेष) का ही एकान्त आग्रह रखते हैं—उसीको मुक्तिका कारण समझते हैं—वे संसारबंधनसे नहीं छूटते।

उस दूसरे वेषमें मेरी कोई रुचि नहीं हो सकती, मेरे लिये वह एक प्रकारका उपसर्ग ही होगा और मेरी अवस्था उस समय अधिकतर चेलोपसृष्ट मुनि जैसी ही होगी परंतु फिर भी उस उपसर्गका कर्ता तो मैं खुद ही हूँगा न? मुझे ही स्वयं उस वेषको धारण करना पड़ेगा! यही मेरे लिये कुछ कष्टकर प्रतीत होता है। अच्छा, अन्य वेष न धारण करूँ तो फिर उपाय भी अब क्या है? मुनिवेषको कायम रखता हुआ यदि भोजनादिके विषयमें स्वेच्छाचारसे प्रवृत्ति करूँ, तो उससे अपना मुनिवेष लज्जित और कलंकित होता है, और यह मुझसे नहीं हो सकता; मैं खुशीसे प्राण दे सकता हूँ परंतु ऐसा कोई काम नहीं कर सकता जिससे मेरे कारण मुनिवेष अथवा मुनिपदको लज्जित और कलंकित होना पड़े। मुझसे यह नहीं बन सकता कि जैनमुनिके रूपमें मैं उस पदके विरुद्ध कोई हीनाचरण करूँ; और इस लिये मुझे अब लाचारीसे अपने मुनिपदको छोड़ना ही होगा। मुनिपदको छोड़कर मैं 'क्षुल्लक' हो सकता था, परंतु वह लिंग भी उपयुक्त भोजनकी प्राप्तिके योग्य नहीं है—उस पदधारीके लिये भी उद्दिष्ट भोजनके त्याग आदिका कितना ही ऐसा विधान है, जिससे उस पदकी मर्यादाको पालन करते हुए रोगोपशांतिके लिये यथेष्ट भोजन नहीं मिल सकता, और मर्यादाका उल्लंघन मुझसे नहीं बन सकता—इस लिये मैं उस वेषको भी नहीं धारण करूँगा। बिलकुल गृहस्थ बन जाना अथवा यों ही किसीके आश्रयमें जाकर रहना भी मुझे इष्ट नहीं है। इसके सिवाय मेरी चिरकालकी प्रवृत्ति मुझे इस बातकी इजाजत नहीं देती कि—मैं अपने भोजनके लिये किसी व्यक्तिविशेषको कष्ट दूँ; मैं अपने भोजनके लिये ऐसे ही किसी निर्दोष मार्गका अवलम्बन लेना चाहता हूँ जिसमें खास मेरे लिये किसीको भी भोज-

नका कोई प्रबंध न करना पड़े और भोजन भी पर्याप्त रूपमें उपलब्ध होता रहे।"

यही सब सोचकर अथवा इसी प्रकारके बहुतसे ऊहापोहके बाद आपने अपने दिगम्बर मुनिवेषका आदरके साथ त्याग किया और साथ ही, उदासीन भावसे, अपने शरीरको पवित्र भस्मसे आच्छादित करना आरंभ कर दिया। उस समयका दृश्य बड़ा ही करुणाजनक था। देहसे भस्मको मलते हुए आपकी आँखें कुछ आर्द्र हो आई थीं। जो आँखें भस्मक व्याधिकी तीव्र वेदनासे भी कभी आर्द्र नहीं हुई थीं उनका इस समय कुछ आर्द्र हो जाना साधारण बात न थी। संघके मुनिजनोंका हृदय भी आपको देखकर भर आया था और वे सभी भावीकी अलंघ्य शक्ति तथा कर्मके दुर्विपाकका ही चिन्तवन कर रहे थे। समंतभद्र जब अपने देहपर भस्मका लेप कर चुके तो उनके बहिरंगमें भस्म और अंतरङ्गमें सम्यग्दर्शनादि निर्मल गुणोंके दिव्य प्रकाशको देखकर ऐसा मालूम होता था कि एक महाकान्तिमान रत्न कर्दमसे लिप्त हो रहा है और वह कर्दम उस रत्नमें प्रविष्ट न हो सकनेसे उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता* अथवा ऐसा जान पड़ता था कि समंतभद्रने अपनी भस्मकाग्निको भस्म करने—उसे शांत बनाने—के लिये यह 'भस्म' का दिव्य प्रयोग किया है। अस्तु। संघको अभिवादन करके अब समंतभद्र एक वीर योद्धाकी तरह, कार्यसिद्धिके लिये, 'मणुवकहल्ली'से चल दिये।

'राजावलिकथे' के अनुसार, समंतभद्र मणुवकहल्लीसे चलकर 'कांची' पहुँचे और वहाँ '**शिवकोटि**' राजाके पास, संभवतः उसके

---

* अन्तःस्फुरितसम्यक्त्वे बहिर्व्याप्तकुलिंगकः।
शोभितोऽसौ महाकान्तिः कर्दमाक्तो मणिर्यथा॥
—आ० कथाकोश।

'भीमलिंग' नामक शिवालयमें ही, जाकर उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया; राजा उनकी भद्राकृति आदिको देखकर विस्मित हुआ और उसने उन्हें 'शिव' समझकर प्रणाम किया; धर्मकृत्योंका हाल पूछे जाने पर राजाने अपनी शिवभक्ति, शिवाचार, मंदिरनिर्माण और भीमलिंगके मंदिरमें प्रतिदिन बारह खंडुग[1] परिमाण तंदुलान्न विनियोग करनेका हाल उनसे निवेदन किया; इस पर समंतभद्रने, यह कह कर कि 'मैं तुम्हारे इस नैवद्यको शिवार्पण[2] करूँगा,' उस भोजनके साथ मंदिरमें अपना आसन ग्रहण किया, और किवाड़ बंद करके सबको चले जानेकी आज्ञा की। सब लोगोंके चले जाने पर समन्तभद्रने शिवार्थ जठराग्निमें उस भोजनकी आहुतियाँ देनी आरंभ की और आहुतियाँ देते देते उस भोजनमेंसे जब एक कण भी अवशिष्ट नहीं रहा तब आपने पूर्ण तृप्ति लाभ करके, दरवाजा खोल दिया। संपूर्ण भोजनकी समाप्तिको देखकर राजाको बड़ा ही आश्चर्य हुआ। अगले दिन उसने और भी अधिक भक्तिके साथ उत्तम भोजन भेट किया परंतु पहले दिन प्रचुरपरिमाणमें तृप्तिपर्यंत भोजन कर लेनेके कारण जठराग्निके कुछ उपशांत होनेसे, उस दिन एक चौथाई भोजन बच गया, और तीसरे दिन आधा भोजन शेष रह गया। समंतभद्रने साधारणतया इस शेषान्नको

---

१ 'खंडुग' कितने सेरका होता है, इस विषयमें वर्णी नेमिसागरजीने, पं० शांतिराजजी शास्त्री मैसूरके पत्राधार पर हमें यह सूचित किया है कि बेंगलोर प्रान्तमें २०० सेरका, मैसूर प्रान्तमें १८० सेरका, हेगडदेवनकोटमें ८० सेरका और शिमोगा डिस्ट्रिक्टमें ६० सेरका खंडुग प्रचलित है, और सेरका परिमाण सर्वत्र ८० तोलेका है। मालूम नहीं उस समय खास कांचीमें कितने सेरका खंडुग प्रचलित था। संभवतः वह ४० सेरसे तो कम न रहा होगा।

२ 'शिवार्पण' में कितना ही गूढ अर्थ संनिहित है।

देवप्रसाद बतलाया, परंतु राजाको उससे संतोष नहीं हुआ। चौथे दिन जब और भी अधिक परिमाणमें भोजन बच गया तब राजाका संदेह बढ़ गया और उसने पाँचवें दिन मंदिरको, उस अवसर पर, अपनी सेनासे घिरवाकर दरवाजेको खोल डालनेकी आज्ञा दी। दरवाजेको खोलनेके लिये बहुतसा कलकल शब्द होने पर समंतभद्रने उपसर्गका अनुभव किया और उपसर्गकी निवृत्तिपर्यंत समस्त आहार-पानका त्याग करके तथा शरीरसे बिलकुल ही ममत्व छोड़कर, आपने बड़ी ही भक्तिके साथ एकाग्रचित्तसे श्रीवृषभादि चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी स्तुति[1] करना आरंभ किया। स्तुति करते हुए समंतभद्रने जब आठवें तीर्थंकर श्रीचंद्रप्रभ स्वामीकी भलेप्रकार स्तुति करके भीमलिंगकी ओर दृष्टि की, तो उन्हें उस स्थानपर किसी दिव्य शक्तिके प्रतापसे, चंद्रलांछनयुक्त अर्हंत भगवानका एक जाज्वल्यमान सुवर्णमय विशाल बिम्ब, विभूतिसहित, प्रकट होता हुआ दिखलाई दिया। यह देखकर समंतभद्रने दरवाजा खोल दिया और आप शेष तीर्थंकरोंकी स्तुति करनेमें तल्लीन हो गये। दरवाजा खुलते ही इस माहात्म्यको देखकर शिवकोटि राजा बहुत ही आश्चर्यचकित हुआ और अपने छोटे भाई 'शिवायन' सहित, योगिराज श्रीसमंतभद्रको उद्दंड नमस्कार करता हुआ उनके चरणोंमें गिर पड़ा। समंतभद्रने, श्रीवर्द्धमान महावीरपर्यंत स्तुति कर चुकनेपर, हाथ उठाकर दोनोंको आशीर्वाद दिया। इसके बाद धर्मका विस्तृत स्वरूप सुनकर राजा संसार-देह-भोगोंसे विरक्त हो गया और उसने अपने पुत्र 'श्रीकंठ' को राज्य देकर 'शिवायन' सहित उन मुनिमहाराजके समीप जिनदीक्षा धारण की। और भी कितने

1 इसी स्तुतिको 'स्वयंभूस्तोत्र' कहते हैं।

-ही लोगोंकी श्रद्धा इस माहात्म्यसे पलट गई और वे अणुव्रतादिकके धारक हो गये * ।

इस तरहपर समंतभद्र थोड़े ही दिनोंमें अपने 'भस्मक' रोगको भस्म करनेमें समर्थ हुए, उनका आपत्काल समाप्त हुआ, और देहके प्रकृतिस्थ हो जानेपर उन्होंने फिरसे जैनमुनिदीक्षा धारण कर ली ।

श्रवणबेल्गोलके एक शिलालेख[1]में भी, जो आजसे करीब आठ सौ वर्ष पहलेका लिखा हुआ है, समन्तभद्रके 'भस्मक' रोगकी शांति, एक दिव्यशक्तिके द्वारा उन्हें उदात्त पदकी प्राप्ति और योगसामर्थ्य अथवा वचन-बलसे उनके द्वारा 'चंद्रप्रभ' (बिम्ब) की आकृष्टि आदि कितनी ही बातोंका उल्लेख पाया जाता है । यथा—

वंद्यो भस्मकभस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवता-
दत्तोदात्तपद-स्वमंत्रवचनव्याहूतचंद्रप्रभः ।
आचार्यस्स समन्तभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ
जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः ॥

इस पद्यमें यह बतलाया गया है कि, जो अपने 'भस्मक' रोगको भस्मसात् करनेमें चतुर हैं, 'पद्मावती' नामकी दिव्य शक्तिके द्वारा जिन्हें उदात्त पदकी प्राप्ति हुई, जिन्होंने अपने मंत्रवचनोंसे (बिम्ब-रूपमें) 'चंद्रप्रभ' को बुला लिया और जिनके द्वारा यह कल्याणकारी

---

* देखो 'राजावलिकथे' का वह मूल पाठ, जिसे मिस्टर लेविस राइस साहबने अपनी Inscriptions at Sravanabelgola नामक पुस्तककी प्रस्तावनाके पृष्ठ ६२ पर उद्धृत किया है । इस पाठका अनुवाद हमें वर्णी नेमिसागरकी कृपासे प्राप्त हुआ, जिसके लिये हम उनके आभारी हैं ।

१ इस शिलालेखका पुराना नंबर ५४ तथा नया नं० ६७ है; इसे 'मल्लिषेण-प्रशस्ति' भी कहते हैं, और यह शक संवत् १०५० का लिखा हुआ है ।

जैन मार्ग (धर्म) इस कलिकालमें सब ओरसे भद्ररूप हुआ, वे गण-नायक आचार्य समंतभद्र पुनः पुनः वंदना किये जानेके योग्य हैं।

इस परिचय में, यद्यपि, 'शिवकोटि' राजाका कोई नाम नहीं है; परंतु जिन घटनाओंका इसमें उल्लेख है वे 'राजावलिकथे' आदिके अनुसार शिवकोटि राजाके 'शिवालय' से ही सम्बन्ध रखती हैं। 'सेनगणकी पट्टावली' से भी इस विषयका समर्थन होता है। उसमें भी 'भीमलिंग' शिवालयमें शिवकोटि राजाके समंतभद्रद्वारा चमत्कृत और दीक्षित होनेका उल्लेख मिलता है। साथ ही उसे 'नवतिलिंग' देशका 'महाराज' सूचित किया है, जिसकी राजधानी उस समय संभवतः 'कांची' ही होगी। यथा—

"(स्वस्ति) नवतिलिङ्गदेशाभिरामद्राक्षाभिरामभीमलिङ्गस्वं[1]यंन्वादिस्तोटकोत्कीरण(?)रुद्रसान्द्रचन्द्रिकाविशदयशःश्रीचन्द्रजिनेन्द्रसद्दर्शनसमुत्पन्नकौतूहलकलितशिवकोटिमहाराजतपोराज्यस्थापकाचार्यश्रीमत्समन्तभद्रस्वामिनाम्* "

इसके सिवाय, 'विक्रान्तकौरव' नाटक और श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० १०५ (नया नं० २५४) से यह भी पता चलता है कि 'शिवकोटि' समंतभद्रके प्रधान शिष्य थे। यथा—

शिष्यौ[2] तदीयौ शिवकोटिनामा शिवायनः शास्त्रविदां वरेण्यौ।
कृत्स्नश्रुतं श्रीगुरुपादमूले ह्यधीतवंतौ भवतः कृतार्थौ॥

—विक्रान्तकौरव।

---

१ 'स्वयं'से 'कीरण' तकका पाठ कुछ अशुद्ध जान पड़ता है।

* 'जैनसिद्धान्तभास्कर' किरण १ ली, पृ० ३८।

२ यह पद्य 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' की प्रशस्तिमें भी पाया जाता है।

तस्यैव शिष्यश्शिवकोटिसूरिस्तपोलतालम्बनदेहयष्टिः ।
संसारवाराकरपोतमेतत्तत्त्वार्थसूत्रं तदलंचकार ॥

—श्र० शिलालेख ।

'विक्रान्तकौरव' के उक्त पद्यमें 'शिवकोटि' के साथ 'शिवायन' नामके एक दूसरे शिष्यका भी उल्लेख है, जिसे 'राजावलिकथे' में 'शिवकोटि' राजाका अनुज (छोटाभाई) लिखा है और साथ ही यह प्रकट किया है कि उसने भी शिवकोटिके साथ समंतभद्रसे जिनदीक्षा ली थी; * परंतु शिलालेखवाले पद्यमें वह उल्लेख नहीं है और उसका कारण पद्यके अर्थपरसे यह जान पड़ता है कि यह पद्य तत्त्वार्थसूत्रकी उस टीकाकी प्रशस्तिका पद्य है जिसे शिवकोटि आचार्यने रचा था, इसी लिये इसमें तत्त्वार्थसूत्रके पहले 'एतत्' शव्दका प्रयोग किया गया है और यह सूचित किया गया है कि 'इस' तत्त्वार्थसूत्रको उस शिवकोटि सूरिने अलंकृत किया है जिसका देह तपरूपी लताके आलंबनके लिये यष्टि बना हुआ है। जान पड़ता है यह पद्य[1] उक्त टीका परसे ही शिलालेखमें उद्धृत किया गया है, और इस दृष्टिसे यह पद्य बहुत प्राचीन है और इस बातका निर्णय करनेके लिये पर्याप्त मालूम होता है कि 'शिवकोटि' आचार्य स्वामी समन्तभद्रके शिष्य थे + । आश्चर्य नहीं जो ये 'शिवकोटि' कोई राजा ही हुए हों ।

---

* यथा—शिवकोटिमहाराजं भव्यनप्पुदरिं निजानुजं वेरस...संसारशरीरभोगनिर्वेगदिं श्रीकंठनेम्बसुतंगे राज्यमनित्तु शिवायनं गूडिय आ मुनिपराछियेजिनदीक्षेयनान्तु शिवकोट्याचार्यरागि.... ।

१ इससे पहले दो पद्य भी उसी टीकाके जान पड़ते हैं; और वे ऊपरसे 'गुणादिपरिचय'में उद्धृत किये जाचुके हैं ।

+ नगरताल्लुकेके ३५ वें शिलालेखमें भी 'शिवकोटि' आचार्यको समन्तभद्रका शिष्य लिखा है (E. C. VIII.) ।

देवागमकी वसुनन्दिवृत्तिमें मंगलाचरणका प्रथम पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

सार्वश्रीकुलभूषणं क्षतरिपुं सर्वार्थसंसाधनं
सन्नीतेरकलंकभावविधृतेः संस्कारकं सत्पथम्।
निष्णातं नयसागरे यतिपतिं ज्ञानांशुसद्भास्करं
भेत्तारं वसुपालभावतमसो वन्दामहे बुद्धये॥

यह पद्य द्व्यर्थक है, और इस प्रकारके द्व्यर्थक त्र्यर्थक पद्य बहुधा ग्रंथोंमें पाये जाते हैं। इसमें बुद्धिवृद्धिके लिये जिस 'यतिपति' को नमस्कार किया गया है उससे एक अर्थमें 'श्रीवर्द्धमानस्वामी' और दूसरेमें 'समंतभद्रस्वामी' का अभिप्राय जान पड़ता है। यतिपतिके जितने विशेषण हैं वे भी दोनोंपर ठीक घटित हो जाते हैं। 'अकलंक भावकी व्यवस्था करनेवाली सन्नीति (स्याद्वादनीति) के सत्पथको संस्कारित करनेवाले' ऐसा जो विशेषण है वह समन्तभद्रके लिये भट्टाकलंकदेव और श्रीविद्यानंद जैसे आचार्यों द्वारा प्रयुक्त विशेषणोंसे मिलता जुलता है। इस पद्यके अनन्तर ही दूसरे पद्यमें, जो ऊपर उद्धृत भी किया जाचुका है, समंतभद्रके मतको नमस्कार किया है। मतको नमस्कार करनेसे पहले खास समन्तभद्रको नमस्कार किया जाना ज्यादा संभवनीय तथा उचित मालूम होता है। इसके सिवाय इस वृत्तिके अन्तमें जो मंगल पद्य दिया है वह भी द्व्यर्थक है और उसमें साफ तौरसे परमार्थविकल्पी 'समंतभद्रदेव' को नमस्कार

---

१ त्र्यर्थक भी हो सकता है, और तब यतिपतिसे तीसरे अर्थमें वसुनन्दीके गुरु नेमिचंद्रका भी आशय लिया जा सकता है, जो वसुनन्दिश्रावकाचारकी प्रशस्तिके अनुसार नयनन्दीके शिष्य और श्रीनन्दीके प्रशिष्य थे।

किया है और दूसरे अर्थमें वही समंतभद्रदेव 'परमात्मा'का विशेषण किया गया है। यथा—

समन्तभद्रदेवाय परमार्थविकल्पिने।
समन्तभद्रदेवाय नमोस्तु परमात्मने ॥

इन सब बातोंसे यह बात और भी दृढ़ हो जाती है कि उक्त 'यतिपति' से समन्तभद्र खास तौर पर अभिप्रेत हैं। अस्तु; उक्त यतिपतिके विशेषणोंमें 'भेत्तारं वसुपालभावतमसः' भी एक विशेषण है, जिसका अर्थ होता है 'वसुपालके भावांधकारको दूर करनेवाले'। 'वसुपाल' शब्द सामान्य तौरसे 'राजा'का वाचक है और इस लिये उक्त विशेषणसे यह मालूम होता है कि समंतभद्रस्वामीने भी किसी राजाके भावांधकारको दूर किया है। बहुत संभव है कि वह राजा 'शिवकोटि' ही हो, और वही समंतभद्रका प्रधान शिष्य हुआ हो। इसके सिवाय, 'वसु' शब्दका अर्थ 'शिव' और 'पाल' का अर्थ 'राजा' भी होता है और इस तरहपर 'वसुपाल' से शिवकोटि राजाका अर्थ निकाला जा सकता है; परंतु यह कल्पना बहुत ही क्लिष्ट जान पड़ती है और इस लिये हम इसपर अधिक जोर देना नहीं चाहते।

ब्रह्म नेमिदत्तके 'आराधना-कथाकोश' में भी 'शिवकोटि' राजाका उल्लेख है—उसीके शिवालयमें शिवनैवद्यसे 'भस्मक' व्याधिकी शांति और चंद्रप्रभ जिनेंद्रकी स्तुति पढ़ते समय जिनबिम्बकी प्रादुर्भूतिका उल्लेख है—साथ ही, यह भी उल्लेख है कि शिवकोटि

१ श्रीवर्द्धमानस्वामीने राजा श्रेणिकके भावांधकारको दूर किया था।

२ ब्रह्म नेमिदत्त भट्टारक मल्लिभूषणके शिष्य और विक्रमकी १६ वीं शताब्दीके विद्वान् थे। आपने वि० सं० १५८५ में श्रीपालचरित्र बनाकर समाप्त किया है। आराधना-कथाकोश भी उसी वक्तके करीबका बना हुआ है।

महाराजने जिनदीक्षा धारण की थी । परंतु शिवकोटिको, 'कांची' अथवा 'नवतैलंग' देशका राजा न लिखकर 'वाराणसी' (काशी—बनारस) का राजा प्रकट किया है, यह भेद है * ।

अब देखना चाहिये, इतिहाससे 'शिवकोटि' कहाँका राजा सिद्ध होता है । जहाँ तक हमने भारतके प्राचीन इतिहासका, जो अब तक संकलित हुआ है, परिशीलन किया है वह इस विषयमें मौन मालूम होता है—शिवकोटि नामके राजाकी उससे कोई उपलब्धि नहीं होती—बनारसके तत्कालीन राजाओंका तो उससे प्रायः कुछ भी पता नहीं चलता । इतिहासकालके प्रारंभमें ही—ईसवी सन्से करीब ६०० वर्ष पहले—बनारस, या काशी, की छोटी रियासत 'कोशल' राज्यमें मिला ली गई थी, और प्रकट रूपसे अपनी स्वाधीनताको खो चुकी थी । इसके बाद, ईसासे पहलेकी चौथी शताब्दीमें, अजातशत्रुके द्वारा वह 'कोशल' राज्य भी 'मगध' राज्यमें शामिल कर लिया गया था, और उस वक्तसे उसका एक स्वतंत्र राज्यसत्ताके तौर पर कोई उल्लेख नहीं मिलता + । संभवतः यही वजह है जो इस छोटीसी परतंत्र रियासतके राजाओं अथवा रईसोंका कोई विशेष हाल उपलब्ध नहीं होता । रही कांचीके राजाओंकी बात, इतिहासमें सबसे

---

* यथा—वाराणसीं ततः प्राप्तः कुलघोषैः समन्वितम् ।
योगिलिंगं तथा तत्र गृहीत्वा पर्यटन्पुरे ॥ १९ ॥
स योगी लीलया तत्र शिवकोटिमहीभुजा ।
कारितं शिवदेवोरुप्रासादं संविलोक्य च ॥ २० ॥

\+ V. A. Smith's Early History of India, III Edition, p. 30–35. विन्सेंट ए० स्मिथ साहबकी अर्ली हिस्टरी ऑफ इंडिया, तृतीयसंस्करण, पृ० ३०–३५ ।

पहले वहाँके राजा 'विष्णुगोप' (विष्णुगोप वर्मा) का नाम मिलता है, जो धर्मसे वैष्णव था और जिसे ईसवी सन् ३५० के करीब 'समुद्रगुप्त' ने युद्धमें परास्त किया था। इसके बाद ईसवी सन् ४३७ में 'सिंहवर्मन्' (बौद्ध) का, ५७५ में सिंहविष्णुका, ६०० से ६२५ तक महेन्द्रवर्मन्का, ६२५ से ६४५ तक नरसिंहवर्मन्का, ६५५ में परमेश्वरवर्मन्का, इसके बाद नरसिंहवर्मन द्वितीय (राजसिंह) का और ७४० में नन्दिवर्मन्का नामोल्लेख मिलता है[२]। ये सब राजा पल्लव वंशके थे और इनमें 'सिंह-विष्णु' से लेकर पिछले सभी राजाओंका राज्यक्रम ठीक पाया जाता है[३]। परंतु सिंहविष्णुसे पहलेके राजाओंकी क्रमशः नामावली और उनका राज्यकाल नहीं मिलता, जिसकी इस अवसर पर—शिव-कोटिका निश्चय करनेके लिये—खास जरूरत थी। इसके सिवाय विंसेंट स्मिथ साहबने, अपनी 'अर्ली हिस्टरी आफ इंडिया' (पृ० २७५—२७६) में यह भी सूचित किया है कि ईसवी सन् २२० या २३०

१ शक सं० ३८० (ई० स० ४५८) में भी 'सिंहवर्मन्' कांचीका राजा था और यह उसके राज्यका २२ वाँ वर्ष था, ऐसा 'लोकविभाग' नामक दिगम्बर जैनग्रंथसे मालूम होता है।

२ कांचीका एक पल्लवराजा 'शिवस्कंद वर्मा' भी था, जिसकी ओरसे 'मायि-दावोलु' का दानपत्र लिखा गया है, ऐसा मद्रासके प्रो० ए० चक्रवर्ती 'पंचास्ति-काय' की अपनी अंग्रेजी प्रस्तावनामें सूचित करते हैं। आपकी सूचनाओंके अनुसार यह राजा ईसाकी १ ली शताब्दीके करीब (विष्णुगोपसे भी पहले) हुआ जान पड़ता है।

३ देखो, विंसेंट ए० स्मिथ साहबका 'भारतका प्राचीन इतिहास' (Early History of India), तृतीय संस्करण, पृ० ४७१ से ४७६।

और ३२० का मध्यवर्ती प्रायः एक शताब्दीका भारतका इतिहास विलकुल ही अंधकाराच्छन्न है—उसका कुछ भी पता नहीं चलता। इससे स्पष्ट है कि भारतका जो प्राचीन इतिहास संकलित हुआ है वह वहुत कुछ अधूरा है। उसमें शिवकोटि जैसे प्राचीन राजाका यदि नाम नहीं मिलता तो यह कुछ भी आश्चर्यकी वात नहीं है। यद्यपि ज्यादा पुराना इतिहास मिलता भी नहीं, परंतु जो मिलता है और मिल सकता है उसको संकलित करनेका भी अभीतक पूरा आयोजन नहीं हुआ। जैनियोंके ही वहुतसे संस्कृत, प्राकृत, कनड़ी, तामिल और तेलगु आदि ग्रंथोंमें इतिहासकी प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है जिनकी ओर अभी तक प्रायः कुछ भी लक्ष्य नहीं गया। इसके सिवाय एक एक राजाके कई कई नाम भी हुए हैं और उनका प्रयोग भी इच्छानुसार विभिन्न रूपसे होता रहा है, इससे यह भी संभव है कि वर्तमान इतिहासमें 'शिव-कोटि' का किसी दूसरे ही नामसे उल्लेख हो * और वहाँपर यथेष्ट परिचयके न रहनेसे दोनोंका समीकरण न हो सकता हो, और वह समीकरण विशेष अनुसंधानकी अपेक्षा रखता हो। परंतु कुछ भी हो, इतिहासकी ऐसी हालत होते हुए, विना किसी गहरे अनुसंधानके यह नहीं कहा जा सकता कि 'शिवकोटि' नामका कोई राजा हुआ ही नहीं, और न शिवकोटिके व्यक्तित्वसे ही इनकार किया जासकता है।

---

* शिवकोटिसे मिलते जुलते शिवस्कंदवर्मा (पल्लव), शिवमृगेशवर्मा (कदम्व), शिवकुमार (कुन्दकुन्दका शिष्य), शिवस्कंदवर्मा हारितीपुत्र (कदम्व), शिवस्कंद शातकर्णि (आन्ध्र), शिवमार (गंग), शिवश्री (आन्ध्र), और शिवदेव (लिच्छिवि), इत्यादि नामोंके धारक भी राजा हो गये हैं। संभव है कि शिवकोटिका कोई ऐसा ही नाम रहा हो, अथवा इनमेंसे ही कोई शिवकोटि हो।

'राजावलिकथे' में शिवकोटिका जिस ढंगसे उल्लेख पाया जाता है और पट्टावली तथा शिलालेखों आदि द्वारा उसका जैसा कुछ समर्थन होता है उस परसे हमारी यही राय होती है कि 'शिवकोटि' नामका अथवा उस व्यक्तित्वका कोई राजा जरूर हुआ है, और उसके अस्तित्वकी संभावना अधिकतर कांचीकी ओर ही पाई जाती है; ब्रह्मनेमिदत्तने जो उसे वाराणसी (काशी–बनारस) का राजा लिखा है वह कुछ ठीक प्रतीत नहीं होता। ब्रह्म नेमिदत्तकी कथामें और भी कई बातें ऐसी हैं जो ठीक नहीं जँचतीं। इस कथामें लिखा है कि—

"कांचीमें उस वक्त भस्मक व्याधिको नाश करनेके लिये समर्थ (स्निग्धादि) भोजनोंकी सम्प्राप्तिका अभाव था, इस लिये समन्तभद्र कांचीको छोड़कर उत्तरकी ओर चले दिये। चलते चलते वे 'पुंण्ड्रेन्द्र नगर'[1] में पहुँचे, वहाँ बौद्धोंकी महती दानशालाको देखकर उन्होंने बौद्ध भिक्षुकका रूप धारण किया, परंतु जब वहाँ भी महाव्याधिकी शांतिके योग्य आहारका अभाव देखा तो आप वहाँसे निकल गये और क्षुधासे पीडित अनेक नगरोंमें घूमते हुए 'दशपुर' नामके नगरमें पहुँचे। इस नगरमें भागवतों (वैष्णवों) का उन्नत मठ देखकर और यह देखकर कि यहाँपर भागवत लिङ्गधारि साधुओंको भक्तजनोंद्वारा प्रचुर परिमाणमें सदा विशिष्टाहार भेट किया जाता है, आपने बौद्ध वेषका परित्याग किया और भागवत वेष धारण कर लिया, परंतु यहाँका विशिष्टाहार भी आपकी भस्मक व्याधिको शांत करनेमें समर्थ न हो सका

---

१ 'पुण्ड्र' नाम उत्तर बंगालका है जिसे 'पौण्ड्रवर्धन' भी कहते हैं। 'पुण्ड्रेन्द्र नगर'से उत्तर बंगालके इन्द्रपुर, चन्द्रपुर अथवा चन्द्रनगर आदि किसी खास शहरका अभिप्राय जान पड़ता है। छपेहुए 'आराधनाकथाकोश'में ऐसा ही पाठ दिया है। संभव है कि वह कुछ अशुद्ध हो।

और इस लिये आप यहाँसे भी चल दिये। इसके बाद नानादिग्देशादिकोंमें घूमते हुए आप अन्तको 'वाराणसी' नगरी पहुँचे और वहाँ आपने योगिलिङ्ग धारण करके शिवकोटि राजाके शिवालयमें प्रवेश किया। इस शिवालयमें शिवजीके भोगके लिये तय्यार किये हुए अठारह प्रकारके सुन्दर श्रेष्ट भोजनोंके समूहको देख कर आपने सोचा कि यहाँ मेरी दुर्व्याधि जरूर शांत हो जायगी। इसके बाद जब पूजा हो चुकी और वह दिव्य आहार—ढेरका ढेर नैवेद्य—बाहर निक्षेपित किया गया तब आपने एक युक्तिके द्वारा लोगों तथा राजाको आश्चर्यमें डालकर शिवको भोजन करानेका काम अपने हाथमें लिया। इस पर राजाने घी, दूध, दही और मिठाई (इक्षुरस) आदिसे मिश्रित नाना प्रकारका दिव्य भोजन प्रचुर परिमाणमें (पूर्णैः कुंभशतैर्युक्तं=भरे हुए सौ घड़े जितना) तय्यार कराया और उसे शिवभोजनके लिये योगिराजके सपुर्द किया। समंतभद्रने वह भोजन स्वयं खाकर जब मंदिरके कपाट खोले और खाली बरतनोंको बाहर उठा ले जानेके लिये कहा, तब राजादिकको बड़ा आश्चर्य हुआ। यही समझा गया कि योगिराजने अपने योगबलसे साक्षात् शिवको अवतारित करके यह भोजन उन्हें ही कराया है। इससे राजाकी भक्ति बढ़ी और वह नित्य ही उत्तमोत्तम नैवेद्यका समूह तैयार करा कर भेजने लगा। इस तरह, प्रचुर परिमाणमें उत्कृष्ट आहारका सेवन करते हुए, जब पूरे छह महीने बीत गये तब आपकी व्याधि एकदम शांत हो गई और आहारकी मात्रा प्राकृतिक हो जानेके कारण वह सबका सब नैवेद्य प्रायः ज्योंका त्यों बचने लगा। इसके बाद राजाको जब यह खबर लगी कि योगी स्वयं ही वह भोजन करता रहा है और 'शिव' को प्रणाम तक भी नहीं करता तब उसने कुपित होकर योगीसे प्रणाम न करनेका कारण

पूछा । उत्तरमें योगिराजने यह कह दिया कि 'तुम्हारा यह रागी द्वेषी देव मेरे नमस्कारको सहन नहीं कर सकता। मेरे नमस्कारको सहन करनेके लिये वे जिनसूर्य ही समर्थ हैं जो अठारह दोषोंसे रहित हैं और केवलज्ञानरूपी सत्तेजसे लोकालोकके प्रकाशक हैं । यदि मैंने नमस्कार किया तो तुम्हारा यह देव (शिवलिंग) विदीर्ण हो जायगा—खंड खंड हो जायगा—इसीसे मैं नमस्कार नहीं करता हूँ'। इस पर राजाका कौतुक बढ़ गया और उसने नमस्कारके लिये आग्रह करते हुए, कहा—'यदि यह देव खंड खंड हो जायगा तो हो जाने दीजिये, मुझे तुम्हारे नमस्कारके सामर्थ्यको जरूर देखना है । समंतभद्रने इसे स्वीकार किया और अगले दिन अपने सामर्थ्यको दिखलानेका वादा किया । राजाने 'एवमस्तु' कह कर उन्हें मंदिरमें रक्खा और बाहरसे चौंकी पहरेका पूरा इन्तजाम कर दिया । दो पहर रात बीतने पर समंतभद्रको अपने वचन-निर्वाहकी चिन्ता हुई, उससे अम्बिकादेवीका आसन डोल गया । वह दौड़ी हुई आई, आकर उसने समंतभद्रको आश्वासन दिया और यह कह कर चली गई कि तुम **"स्वयंभुवा भूतहितेन भूतले"** इस पदसे प्रारंभ करके चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी उन्नत स्तुति रचो, उसके प्रभावसे सब काम शीघ्र हो जायगा और यह कुलिंग टूट जायगा । समंतभद्रको इस दिव्यदर्शनसे प्रसन्नता हुई और वे निर्दिष्ट स्तुतिको रचकर सुखसे स्थित हो गये । सवेरे (प्रभातसमय) राजा आया और उसने वही नमस्कारद्वारा सामर्थ्य दिखलानेकी बात कही । इस पर समन्तभद्रने अपनी उस महास्तुतिको पढ़ना प्रारंभ किया । जिसवक्त 'चंद्रप्रभ' भगवानकी स्तुति करते हुए '**तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नं**' यह वाक्य पढ़ा गया उसी वक्त वह 'शिवलिंग' खण्ड खण्ड हो गया और उस स्थानसे '**चंद्रप्रभ**' भगवानकी चतुर्मुखी प्रतिमा महान्

जयकोलाहलके साथ प्रकट हुई। यह देखकर राजादिकको वड़ा आश्चर्य हुआ और राजाने उसी समय समन्तभद्रसे पूछा—हे योगीन्द्र, आप महा सामर्थ्यवान् अव्यक्तलिंगी कौन हैं? इसके उत्तरमें समन्तभद्रने नीचे लिखे दो काव्य कहे—

कांच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्वुशे पाण्डुपिंडः
पुंण्ड्रोण्ड्रे[1] (?) शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मृष्टभोजी परिव्राट्।
वाराणस्यामभूवं शशिधर[2]धवलः पाण्डुरांगस्तपस्वी,
राजन् यस्यास्ति शक्तिः स[3] वदतु पुरतो जैननिर्ग्रंथवादी॥
पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं वहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्॥

इसके वाद समन्तभद्रने कुलिंगिवेष छोड़कर जैननिर्ग्रंथ लिंग धारण किया और संपूर्ण एकान्तवादियोंको वादमें जीतकर जैनशासनकी प्रभावना की। यह सब देखकर राजाको जैनधर्ममें श्रद्धा हो गई, वैराग्य हो आया और राज्य छोड़कर उसने जिनदीक्षा धारण कर ली*।"

---

१ संभव है कि यह 'पुण्ड्रोड्रे' पाठ हो, जिससे 'पुण्ड्र'—उत्तर वंगाल—और 'उड्र' उड़ीसा—दोनोंका अभिप्राय जान पड़ता है।

२ कहींपर 'शशधरधवलः' भी पाठ है जिसका, अर्थ चंद्रमाके समान उज्वल होता है।

३ 'प्रवदतु' भी पाठ कहीं कहीं पर पाया जाता है।

* ब्रह्म नेमिदत्तके कथनानुसार उसका कथाकोश भट्टारक प्रभाचन्द्रके उस कथाकोशके आधारपर वना हुआ है जो गद्यात्मक है और जिसको देखनेका हमें अभी तक कोई अवसर नहीं मिल सका। हालमें सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीने हमारी

नेमिदत्तके इस कथनमें सबसे पहले यह बात कुछ जीको नहीं लगती कि ‘कांची’ जैसी राजधानीमें अथवा और भी बड़े बड़े नगरों, शहरों तथा दूसरी राजधानियोंमें भस्मक व्याधिको शांत करने योग्य भोजनका उस समय अभाव रहा हो और इस लिये समंतभद्रको सुदूर दक्षिणसे सुदूर उत्तर तक हजारों मीलकी यात्रा करनी पड़ी हो। उस समय दक्षिणमें ही बहुतसी ऐसी दानशालाएँ थीं जिनमें साधुओंको भरपेट भोजन मिलता था, और अगणित ऐसे शिवालय थे जिनमें इसी प्रकारसे शिवको भोग लगाया जाता था और इस लिये जो घटना काशी (बनारस) में घटी वह वहाँ भी घट सकती थी। ऐसी हालतमें, इन सब संस्थाओंसे यथेष्ट लाभ न उठाकर, सुदूर उत्तरमें काशीतक भोजनके लिये भ्रमण करना कुछ समझमें नहीं आता। कथामें भी यथेष्ट भोजनके न मिलनेका कोई विशिष्ट कारण नहीं बतलाया गया—सामान्यरूपसे

प्रेरणासे, दोनों कथाकोशोंमें दी हुई समन्तभद्रकी कथाका परस्पर मिलान किया है और उसे प्रायः समान पाया है। आप लिखते हैं—“दोनोंमें कोई विशेष फर्क नहीं है। नेमिदत्तकी कथा प्रभाचन्द्रकी गद्यकथाका प्रायः पूर्ण पद्यानुवाद है। पादपूर्ति आदिके लिये उसमें कहीं कहीं थोड़े बहुत शब्द–विशेषण अव्यय आदि–अवश्य बढ़ा दिये गये हैं। नेमिदत्तद्वारा लिखित कथाके ११ वें श्लोकमें ‘पुण्ड्रेन्द्र नगरे’ लिखा है, परन्तु गद्यकथामें ‘पुण्ड्रनगरे’ और ‘वन्दक-लोकानां स्थाने’ की जगह ‘वन्दकानां बृहद्विहारे’ पाठ दिया है। १२ वें पद्यके ‘बौद्धलिंगकं’ की जगह ‘वंद-कलिंगं’ पाया जाता है। शायद ‘वंदक’ बौद्धका पर्यायशब्द हो। ‘कांच्यां नग्नाटकोऽहं’ आदि पद्योंका पाठ ज्योंका त्यों है। उसमें ‘पुण्ड्रोन्द्रे’ की जगह ‘पुन्ड्रोण्ड्रे’ ‘ठक्कनिषये’ की जगह ‘ठक्कविषये’ और ‘वैदिशे’ की जगह ‘वैदुषे’ इस तरह नाम-मात्रका अन्तर दीख पड़ता है।” ऐसी हालतमें, नेमिदत्तकी कथाके इस सारांशको प्रभाचंद्रकी कथाका भी सारांश समझना चाहिये और इस पर होनेवाले विवेचनादिको उस पर भी यथासंभव लगा लेना चाहिये।

'भस्मकव्याधिविनाशाहारहानितः' ऐसा सूचित किया गया है जो पर्याप्त नहीं है। दूसरे, यह बात भी कुछ असंगतसी मालूम होती है कि ऐसे गुरु, स्निग्ध, मधुर और श्लेष्मल गरिष्ठ पदार्थोंका इतने अधिक (पूर्ण शतकुंभ जितने) परिमाणमें नित्य सेवन करनेपर भी भस्मकाग्निको शांत होनेमें छह महीने लग गये हों। जहाँ तक हम समझते हैं और हमने कुछ अनुभवी वैद्योंसे भी इस विषयमें परामर्श किया है, यह रोग भोजनकी इतनी अच्छी अनुकूल परिस्थितिमें अधिक दिनों तक नहीं ठहर सकता, और न रोगकी ऐसी हालतमें पैदलका इतना लम्बा सफर ही बन सकता है। इस लिये, 'राजावलिकथे' में जो पाँच दिनकी बात लिखी है वह कुछ असंगत प्रतीत नहीं होती। तीसरे, समंतभद्रके मुखसे उनके परिचयके जो दो काव्य कहलाये गये हैं वे बिलकुल ही अप्रासंगिक जान पड़ते हैं। प्रथम तो राजाकी ओरसे उस अवसरपर वैसे प्रश्नका होना ही कुछ बेढंगा मालूम देता है—वह अवसर तो राजाका उनके चरणोंमें पड़ जाने और क्षमा प्रार्थना करनेका था—दूसरे समंतभद्र, नमस्कारके लिये आग्रह किये जानेपर, अपना इतना परिचय दे भी चुके थे कि वे 'शिवोपासक' नहीं हैं बल्कि 'जिनोपासक' हैं, फिर भी यदि विशेष परिचयके लिये वैसे प्रश्नका किया जाना उचित ही मान लिया जाय तो उसके उत्तरमें समन्तभद्रकी ओरसे उनके पितृकुल और गुरुकुलका परिचय दिये जानेकी, अथवा अधिकसे अधिक उनकी भस्मकव्याधिकी उत्पत्ति और उसकी शांतिके लिये उनके उस प्रकार भ्रमणकी कथाको भी बतला देने की जरूरत थी; परंतु उक्त दोनों पद्योंमें यह सब कुछ भी नहीं है—न पितृकुल अथवा गुरुकुलका कोई परिचय है और न भस्मकव्याधिकी उत्पत्ति आदिका ही उनमें कोई जिकर है—दोनोंमें

स्पष्ट रूपसे वादकी घोषणा है; बल्कि दूसरे पद्यमें तो, उन स्थानोंका नाम देते हुए जहाँ पहले वादकी भेरी बजाई थी, अपने इस भ्रमणका उद्देश्य भी 'वाद' ही बतलाया गया है। पाठक सोचें, क्या समंतभद्रके इस भ्रमणका उद्देश्य 'वाद' था? क्या एक प्रतिष्ठित व्यक्तिद्वारा विनीत भावसे परिचयका प्रश्न पूछे जाने पर दूसरे व्यक्तिका उसके उत्तरमें लड़ने झगड़नेके लिये तय्यार होना अथवा वादकी घोषणा करना शिष्टता और सभ्यताका व्यवहार कहला सकता है? और क्या समंतभद्र जैसे महान् पुरुषोंके द्वारा ऐसे उत्तरकी कल्पना की जा सकती है? कभी नहीं। पहले पद्यके चतुर्थ चरणमें यदि वादकी घोषणा न होती तो वह पद्य इस अवसरपर उत्तरका एक अंग बनाया जा सकता था; क्यों कि उसमें अनेक स्थानोंपर समंतभद्रके अनेक वेष धारण करनेकी बातका उल्लेख है*। परंतु दूसरा पद्य तो यहाँ पर कोरा अप्रासंगिक ही है—वह पद्य तो 'करहाटक' नगरके राजाकी सभामें कहा हुआ पद्य है, जैसा कि पहले 'गुणादि-परिचय'में बतलाया जा चुका है। उसमें साफ लिखा भी है कि मैं अब उस करहाटक (नगर) को प्राप्त हुआ हूँ जो बहुभटोंसे युक्त है, विद्याका उत्कटस्थान है और जनाकीर्ण है। ऐसी हालतमें पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि बनारसके राजाके प्रश्नके उत्तरमें समंतभद्रसे यह कहलाना कि अब मैं इस करहाटक नगरमें

---

* यह बतलाया गया है कि "कांचीमें मैं नग्नाटक (दिगम्बर साधु) हुआ, वहाँ मेरा शरीर मलसे मलिन था; लाम्बुशमें पाण्डुपिण्ड रूपका धारक (भस्म रमाए शैवसाधु) हुआ; पुण्ड्रोड्रमें बौद्ध भिक्षुक हुआ; दशपुर नगरमें मृष्टभोजी परिव्राजक हुआ, और वाराणसीमें शिवसमान उज्ज्वल पाण्डुर अंगका धारी मैं तपस्वी (शैवसाधु) हुआ हूँ; हे राजन् मैं जैन निर्ग्रंथवादी हूँ, जिस किसीकी शक्ति मुझसे वाद करनेकी हो वह सामने आकर वाद करे।"

आया हूँ कितनी बे सिरपैरकी बात है, कितनी भारी भूल है और उससे कथामें कितनी कृत्रिमता आ जाती है। जान पड़ता है ब्रह्म नेमिदत्त इन दोनों पुरातन पद्योंको किसी तरह कथामें संगृहीत कर देना चाहते थे और उस संग्रहकी धुनमें उन्हें इन पद्योंके अर्थसम्बंधका कुछ भी खयाल नहीं रहा। यही वजह है कि वे कथामें उनको यथेष्ट स्थान पर देने अथवा उन्हें ठीक तौर पर संकलित करनेमें कृतकार्य नहीं हो सके। उनका इस प्रसंग पर, '**स्फुटं काव्यद्वयं चेति योगीन्द्रः समुवाच सः**' यह लिखकर, उक्त पद्योंका उद्धृत करना कथाके गौरव और उसकी अकृत्रिमताको बहुत कुछ कम कर देता है। इन पद्योंमें वादकी घोषणा होनेसे ही ऐसा मालूम देता है कि ब्रह्मनेमिदत्तने, राजामें जैनधर्मकी श्रद्धा उत्पन्न करानेसे पहले, समंतभद्रका एकान्तवादियोंसे वाद कराया है; अन्यथा इतने बड़े चमत्कारके अवसर पर उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। कांचीके बाद समंतभद्रका वह भ्रमण भी पहले पद्यको लक्ष्यमें रखकर ही कराया गया मालूम होता है। यद्यपि उसमें भी कुछ त्रुटियाँ हैं—वहाँ, पद्यानुसार कांचीके बाद, लांबुशमें समंतभद्रके 'पाण्डुपिण्ड' रूपसे (शरीरमें भस्म रमाए हुए) रहनेका कोई उल्लेख ही नहीं है, और न दशपुरमें रहते हुए उनके मृष्टभोजी होनेकी प्रतिज्ञाका ही कोई उल्लेख है—परंतु इन्हें रहने दीजिये; सबसे बड़ी बात यह है कि उस पद्यमें ऐसा कोई भी उल्लेख नहीं है जिससे यह मालूम होता हो कि समंतभद्र उस समय भस्मक व्याधिसे युक्त थे अथवा भोजनकी

१ कुछ जैनविद्वानोंने इस पद्यका अर्थ देते हुए, 'मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः' पदोंका कुछ भी अर्थ न देकर उसके स्थानमें 'शरीरमें रोग होनेसे' ऐसा एक खंडवाक्य दिया है जो ठीक नहीं है। इस पद्यमें एक स्थानपर 'पाण्डु-

यथेष्ट प्राप्तिके लिये ही उन्होंने वे वेष धारण किये थे । बहुत संभव है कि कांचीमें 'भस्मक' व्याधिकी शांतिके बाद समंतभद्रने कुछ अर्सेतक और भी पुनर्जिनदीक्षा धारण करना उचित न समझा हो, बल्कि लगे हाथों शासनप्रचारके उद्देशसे, दूसरे धर्मोंके आन्तरिक भेदको अच्छी तरहसे माळूम करनेके लिये उस तरह पर भ्रमण करना जरूरी अनुभव किया हो और उसी भ्रमणका उक्त पद्यमें उल्लेख हो, अथवा यह भी हो सकता है कि उक्त पद्यमें समंतभद्रके निर्ग्रंथमुनिजीवनसे पहलेकी कुछ घटनाओंका उल्लेख हो जिनका इतिहास नहीं मिलता और इस लिये जिनपर कोई विशेष राय कायम नहीं की जा सकती । पद्यमें किसी क्रमिक भ्रमणका अथवा घटनाओंके क्रमिक होनेका उल्लेख भी नहीं है; कहाँ कांची और कहाँ उत्तर बंगालका पुण्ड्र नगर ! पुंड्रसे वाराणसी निकट, वहाँ न जाकर उज्जैनके पास 'दशपुर' जाना और फिर वापिस वाराणसी आना ये बातें क्रमिक भ्रमणको सूचित नहीं करतीं । हमारी रायमें पहली बात ही ज्यादा संभवनीय माळूम होती है । अस्तु, इन सब बातोंको ध्यानमें रखते हुए, ब्रह्म नेमिदत्तकी कथाके उस अंशपर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता जो कांचीसे बनारस तक भोजनके लिये भ्रमण करने और बनारसमें भस्मक व्याधिकी शांति आदिसे सम्बंध रखता है, खासकर ऐसी हालतमें जब कि 'राजावलिकथे' साफ तौरपर कांचीमें ही

पिण्डः' और दूसरेपर 'पाण्डुरांगः' पद आए हैं जो दोनों एक ही अर्थके वाचक हैं और उनसे यह स्पष्ट है कि समन्तभद्रने जो वेष वाराणसीमें धारण किया है वही लाम्बुशमें भी धारण किया था । हर्षका विषय है कि उन लेखकोंमेंसे प्रधान लेखकने हमारे लिखनेपर अपनी उस भूलको स्वीकार किया है और उसे अपनी उस समयकी भूल माना है ।

भस्मक व्याधिकी शांति आदिका विधान करती है और सेनगणकी पट्टावलीसे भी उसका बहुत कुछ समर्थन होता है ।

जहाँ तक हमने इन दोनों कथाओंकी जाँच की है हमें 'राजावलिकथे' में दी हुई समंतभद्रकी कथामें बहुत कुछ स्वाभाविकता माळूम होती है— मणुवकहल्लि ग्राममें तपश्चरण करते हुए भस्मक व्याधिका उत्पन्न होना, उसकी निःप्रतीकारावस्थाको देखकर समंतभद्रका गुरुसे सल्लेखना व्रतकी प्रार्थना करना, गुरुका प्रार्थनाको अस्वीकार करते हुए मुनिवेष छोड़ने और रोगोपशांतिके पश्चात् पुनर्जिनदीक्षा धारण करनेकी प्रेरणा करना, 'भीमलिंग' नामक शिवालयका और उसमें प्रतिदिन १२ खंडुग परिमाण तंडुलान्नके विनियोगका उल्लेख, शिवकोटि राजाको आशीर्वाद देकर उसके धर्मकृत्योंका पूछना, क्रमशः भोजनका अधिक अधिक बचना, उपसर्गका अनुभव होते ही उसकी निवृत्तिपर्यंत समस्त आहार पानादिकका त्याग करके समंतभद्रका पहलेसे ही जिनस्तुतिमें लीन होना, चंद्रप्रभकी स्तुतिके बाद शेष तीर्थंकरोंकी स्तुति भी करते रहना, महावीर भगवान्की स्तुतिकी समाप्तिपर चरणोंमें पड़े हुए राजा और उसके छोटे भाईको आशीर्वाद देकर उन्हें सद्धर्मका विस्तृत स्वरूप बतलाना, राजाके पुत्र 'श्रीकंठ'का नामोल्लेख, राजाके भाई 'शिवायन'का भी राजाके साथ दीक्षा लेना, और समंतभद्रकी ओरसे भीमलिंग नामक महादेवके विषयमें एक शब्द भी अविनय या अपमानका न कहा जाना, ये सब बातें, जो नेमिदत्तकी कथामें नहीं हैं, इस कथाकी स्वाभाविकताको बहुत कुछ बढ़ा देती हैं—प्रत्युत इसके, नेमिदत्तकी कथासे कृत्रिमताकी बहुत कुछ गंध आती है, जिसका कितना ही परिचय ऊपर दिया जा चुका है । उसके सिवाय, राजाका नमस्कारके लिये आग्रह, समन्तभद्रका उत्तर, और अगले दिन नमस्कार करनेका वादा,

इत्यादि बातें भी उसकी कुछ ऐसी ही हैं जो जीको नहीं लगतीं और आपत्तिके योग्य जान पड़ती हैं । नेमिदत्तकी इस कथापरसे ही कुछ विद्वानोंका यह खयाल हो गया था कि इसमें जिनबिम्बके प्रकट होनेकी जो बात कही गई है वह भी शायद कृत्रिम ही है और वह 'प्रभावकचरित'में दी हुई 'सिद्धसेन दिवाकर'की कथासे, कुछ परिवर्तनके साथ ले ली गई जान पड़ती है—उसमें भी स्तुति पढ़ते हुए, इसी तरह पर पार्श्वनाथका बिम्ब प्रकट होनेकी बात लिखी है । परंतु उनका वह खयाल गलत था और उसका निरसन श्रवणबेलगोलके उस मल्लिषेण-प्रशस्ति नामक शिलालेखसे भले प्रकार हो जाता है, जिसका '**वंद्यो भस्मक**' नामका प्रकृत पद्य ऊपर उद्धृत किया जा चुका है और जो उक्त प्रभावकचरितसे १५९ वर्ष पहलेका लिखा हुआ है—प्रभावकचरितका निर्माणकाल वि० सं० १३३४ है और शिलालेख शक संवत् १०५० (वि० सं० ११८५) का लिखा हुआ है। इससे स्पष्ट है कि चंद्रप्रभ बिम्बके प्रकट होनेकी बात उक्त कथा परसे नहीं ली गई बल्कि वह समंतभद्रकी कथासे खास तौरपर सम्बंध रखती है। दूसरे एक प्रकारकी घटनाका दो स्थानोंपर होना कोई अस्वाभाविक भी नहीं है । हाँ, यह हो सकता है कि नमस्कारके लिये आग्रह आदिकी बात उक्त कथा परसे ले ली गई हो। क्योंकि राजावलिकथे आदिसे उसका कोई समर्थन नहीं

---

१ यदि प्रभाचन्द्रभट्टारकका गद्य कथाकोश, जिसके आधारपर नेमिदत्तने अपने कथाकोशकी रचना की है, 'प्रभावकचरित'से पहलेका बना हुआ है तो यह भी हो सकता है कि उसपरसे ही प्रभावकचरितमें यह बात ले ली गई हो। परंतु साहित्यकी एकतादि कुछ विशेष प्रमाणोंके बिना दोनोंहीके सम्बन्धमें यह कोई लाजिमी बात नहीं है कि एकने दूसरेकी नकल ही की हो; क्योंकि एक प्रकारके विचारोंका दो ग्रंथकर्त्ताओंके हृदयमें उदय होना भी कोई असंभव नहीं है ।

होता, और न समन्तभद्रके सम्बंधमें वह कुछ युक्तियुक्त ही प्रतीत होती है। इन्हीं सब कारणोंसे हमारा यह कहना है कि ब्रह्म नेमिदत्तने 'शिवकोटि' को जो वाराणसीका राजा लिखा है वह कुछ ठीक प्रतीत नहीं होता; उसके अस्तित्वकी संभावना अधिकतर कांचीकी ओर ही पाई जाती है, जो समंतभद्रके निवासादिका प्रधान प्रदेश रहा है। अस्तु।

शिवकोटिने समन्तभद्रका शिष्य होनेपर क्या क्या कार्य किये और कौन कौनसे ग्रंथोंकी रचना की, यह सब एक जुदा ही विषय है जो खास शिवकोटि आचार्यके चरित्र अथवा इतिहाससे सम्बंध रखता है, और इस लिये हम यहाँपर उसकी कोई विशेष चर्चा करना उचित नहीं समझते।

'शिवकोटि' और 'शिवायन' के सिवाय समंतभद्रके और भी बहुतसे शिष्य रहे होंगे, इसमें संदेह नहीं है परंतु उनके नामादिकका अभी तक कोई पता नहीं चला, और इस लिये अभी हमें इन दो प्रधान शिष्योंके नामोंपर ही संतोष करना होगा।

समंतभद्रके शरीरमें 'भस्मक' व्याधिकी उत्पत्ति किस समय अथवा उनकी किस अवस्थामें हुई, यह जाननेका, यद्यपि, कोई यथेष्ट साधन नहीं है, फिर भी इतना जरूर कहा जा सकता है कि वह समय, जब कि उनके गुरु भी मौजूद थे, उनकी युवावस्थाहीका था। उनका बहुतसा उत्कर्ष, उनके द्वारा लोकहितका बहुत कुछ साधन, स्याद्वाद-तीर्थके प्रभावका विस्तार और जैनशासनका अद्वितीय प्रचार, यह सब उसके बाद ही हुआ जान पड़ता है। 'राजावलिकथे'में तपके प्रभावसे उन्हें 'चारण ऋद्धि'की प्राप्ति होना, और उनके द्वारा, 'रत्नकरंडक' आदि ग्रंथोंका रचा जाना भी पुनर्दीक्षाके बाद ही लिखा है। साथ ही, इसी अवसर पर उनका खास तौरपर 'स्याद्वाद-वादी'—स्याद्वाद-

विद्याके आचार्य—होना भी सूचित किया है *। इसीसे एडवर्ड राइस साहब भी लिखते हैं—

It is told of him that in early life he (Samantabhadra) performed severe penance, and on account of a depressing disease was about to make the vow of Sallekhana, or starvation; but was dissuaded by his guru, who foresaw that he would be a great pillar of the Jain faith.

अर्थात्—समन्तभद्रकी बाबत यह कहा गया है कि उन्होंने अपने जीवन (मुनिजीवन) की प्रथमावस्थामें घोर तपश्चरण किया था, और एक अवपीडक या अपकर्षक रोगके कारण वे सल्लेखनाव्रत धारण करनेहीको थे कि उनके गुरुने, यह देखकर कि वे जैनधर्मके एक बहुत बड़े स्तंभ होनेवाले हैं, उन्हें वैसा करनेसे रोक दिया।

यहाँ तकके इस सब कथनसे, हम समझते हैं, पाठकोंको समन्तभद्रके विषयका बहुत कुछ परिचय मिल जायगा और वे इस बातको समझनेमें अच्छी तरहसे समर्थ हो सकेंगे कि स्वामी समन्तभद्र किस टाइपके विद्वान् थे, कैसी उत्तम परिणतिको लिये हुए थे, कितने बड़े योगी अथवा महात्मा थे, और उनके द्वारा देश, धर्म तथा समाजकी कितनी सेवा हुई है। साथ ही, उन्हें अपने कर्तव्यका भी जरूर कुछ बोध होगा, अपनी त्रुटियाँ माळूम पड़ेंगी; वे अपनी असफलताओंके रहस्यको समझेंगे, स्याद्वादमार्गको पहचाननेकी ओर लगेंगे और स्वामी समन्तभद्रके आदर्शको सामने रखकर अपने जीवन, अपने सदुद्देश्यों तथा प्रयत्नोंको सफल बनानेका यत्न करेंगे। और इस तरह पर स्वामीके इस पवित्र जीवनचरित्रसे जरूर कुछ लाभ उठाएँगे।

---

* 'आभाावि तीर्थंकरनू अप्प समन्तभद्रस्वामिगळु पुनर्दीक्षेगोण्डु तपस्सामर्थ्यदिं चतुरंगुल–चारणत्वमं पडेदु रत्नकरण्डकादिजिनागमपुराणमं पेळि स्याद्वाद वादिगळ् आगि समाधिय् ओडेदरु ॥'

समय-निर्णय ।



स्वामी समंतभद्रने अपने अस्तित्वसे किस समय इस भारत-भूमिको भूषित और पवित्र किया, यह एक प्रश्न है जो अभी-तक विद्वानोंद्वारा विचारणीय चला जाता है । यहाँ पर इसी प्रश्नका कुछ विशेष विचार और निर्धार किया जाता है ।

मतान्तरविचार ।

सबसे पहले हम, इस विषयमें, दूसरे विद्वानोंके मतोंका उल्लेख करते हैं और देखते हैं कि उन्होंने अपने अपने मतको पुष्ट करनेके लिये किन किन युक्तियोंका प्रयोग किया है—

१—मिस्टर लेविस राइस साहबने, अपनी 'इंस्क्रिप्शंस ऐट श्रवण-वेलगोल' नामक पुस्तककी प्रस्तावनामें, यह अनुमान किया है कि समंतभद्र ईसाकी पहली या दूसरी शताब्दीमें हुए हैं । साथ ही, यह सूचित किया है कि जैनियोंके परम्परागत कथन (Jain tradition) के अनुसार समन्तभद्रका अस्तित्वसमय शक संवत् ६० (ई० सन् १३८)* के लगभग पाया जाता है, और उसके लिये उस 'पट्टावली' को देखनेकी प्रेरणा की है जो, हस्तलिखित संस्कृत ग्रंथोंके अनुसंधानविषयक, डाक्टर भांडारकरकी सन् १८८३–८४ की रिपोर्टमें, पृष्ठ ३२० पर प्रकाशित हुई है । दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिए कि जैनियोंमें जो यह कहावत प्रचलित है कि समंतभद्र विक्रमकी दूसरी शताब्दीमें हुए हैं उसे राइस साहबने प्रायः ठीक माना है, और उसीकी पुष्टिमें उन्होंने अपने अनुमानको जन्म दिया है । आपके इस अनुमानका आधार, श्रवण-

---

* 'कर्णाटकशब्दानुशासन' की भूमिकामें भी आपने यही समय दिया है ।

बेल्गोलके 'मल्लिषेणप्रशस्ति' नामक शिलालेख (नं० ५४=६७) में, समन्तभद्रका 'सिंहनंदि' से पहले स्मरण किया जाना है। आपकी रायमें यह पूर्व स्मरण इस वातके लिये अत्यंत स्वाभाविक अनुमान है कि समंतभद्र सिंहनंदिसे अधिक अथवा अल्प समय पहले हुए हैं। ये सिंहनंदि मुनि गंगराज्य (गंगवाड़ि) की स्थापनामें विशेषरूपसे कारणीभूत अथवा सहायक थे, गंगवंशके प्रथम राजा कोंगुणिवर्माके गुरु थे, और इस लिये कोंगुदेशराजाक्कळ् (तामिल क्रानिकल) आदिसे कोंगुणिवर्माका जो समय ईसाकी दूसरी शताब्दीका अन्तिम भाग (A. D. 188) पाया जाता है वही सिंहनंदिका अस्तित्व-समय है। सिंहनंदिसे पहले स्मरण किये जानेके कारण समंतभद्र सिंहनंदिसे पहले हुए हैं, और इसी लिये उनका अस्तित्वकाल ईसाकी पहली या दूसरी शताब्दि अनुमान किया गया है। यही सव राइस साहबके अनुमानका सारांश है। *

१ राइस साहबको वादमें कोंगुणिवर्माका एक शिलालेख मिला है, जो शक संवत् २५ (A. D. 103) का लिखा हुआ है और जिसे उन्होंने, सन् १८९४ में, नंजनगूड ताल्लुके (मैसूर) के शिलालेखोंमें नं० ११० पर प्रकाशित कराया है (E. C. III)। उससे कोंगुणिवर्माका स्पष्ट समय ईसाकी दूसरी शताब्दीका प्रारंभिक अथवा पूर्वभाग पाया जाता है; और इस लिये सन् १८८९ में श्रवणवेल्गोलके शिलालेखोंकी उक्त पुस्तकको प्रकाशित कराते हुए जो दूसरे आधारोंपर आपने यह दूसरी शताब्दिका अन्तिम भाग समय माना था उसे ठीक न समझना चाहिये।

* इस सम्बधमें राइस साहबके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं—

Supposing him (समन्तभद्र) to have preceded at a greater or less distance the guru (सिंहनन्दि) next mentioned, and that is the most natural inference, he

हमारी रायमें, राइस साहवका यह अनुमान निरापद अथवा युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता। हो सकता है कि समन्तभद्र सिंहनन्दिसे पहले ही हुए हों, और ईसाकी पहली शताब्दिके विद्वान् हों, परंतु जिस आधार पर राइस साहवने इस अनुमानकी सृष्टि की है वह सुदृढ नहीं है; उसके लिये सबसे पहले, यह सिद्ध होनेकी बड़ी जरूरत है कि उक्त शिलालेखमें जितने भी गुरुओंका उल्लेख है वह सब कालक्रमको लिये हुए है, अथवा उसमें सिंहनन्दिका समंतभद्रके बाद या उनके वंशमें होना लिखा है। परंतु ऐसा सिद्ध नहीं होता—न तो शिलालेख ही उस प्रकृतिका जान पड़ता है और न उसमें 'ततः' या 'तदन्वये' आदि शब्दोंके द्वारा सिंहनन्दिका बादमें होना सूचित किया है—उसमें कितने ही गुरुओंका स्मरण क्रम-रहित आगे पीछे भी पाया जाता है। उदाहरणके लिये '**पात्रकेसरी**' विद्यानंदको लीजिये, जिन्होंने **अकलंकदेवकी** 'अष्टशती' को अपनी 'अष्टसहस्री' द्वारा पुष्ट किया है और जो विक्रमकी प्रायः ९ वीं शताब्दिके विद्वान् हैं। इसका स्मरण अकलंकदेवसे पहले ही नहीं, बल्कि '**श्रीवर्द्धदेव**' से भी पहले किया गया है। श्रीवर्द्धदेवकी स्तुति 'दंडी' नामक कविने भी की है, जो ईसाकी छठी शताब्दीका विद्वान् है और उसकी

---

might, in connection with the remarks made below, be placed in the 1st or 2nd century A. D..............

There is accordingly no reason why Sinha nandi should not be placed at the end of the 2nd century A. D.

१ पात्रकेसरी और विद्यानंद दोनों एक ही व्यक्ति थे इसके लिये देखो 'सम्यक्त्वप्रकाश' ग्रंथ, तथा वादिचन्द्रसूरिका 'ज्ञानसूर्योदय' नाटक अथवा 'जैनहितैषी' भाग ९, अंक ९, पृ० ४३९–४४०। सम्यक्त्वप्रकाशके निम्न वाक्यसे ही दोनोंका एक व्यक्ति होना पाया जाता है—"तथा श्लोकवार्तिके विद्यानन्द्यपरनामपात्र-केसरिस्वामिना यदुक्तं तच्च लिख्यते— ।"

स्तुतिका वह पद्य उक्त शिलालेखमें दिया हुआ है। इससे स्पष्ट है कि श्रीवर्द्धदेव बहुत पुराने आचार्य हुए हैं और वे पात्रकेसरीसे कई सौ वर्ष पहले हो गये हैं। फिर भी पात्रकेसरीका स्मरण उनसे भी पहले किया जाना इस बातको स्पष्ट सूचित करता है कि उक्त शिलालेखमें कालक्रमसे गुरुओंके स्मरणका कोई नियम नहीं रक्खा गया है, और इसलिये शिलालेखमें समन्तभद्रका नाम सिंहनन्दिसे पहले लिये जानेके कारण यह नहीं कहा जा सकता कि समंतभद्र सिंहनन्दिसे पहले ही हुए हैं। रही 'पट्टावली'की बात सो यद्यपि वह हमारे सामने नहीं है फिर भी इतना जरूर कह सकते हैं कि आम तौरपर पट्टावलियाँ प्रायः प्रचलित प्रवादों अथवा दंतकथाओं आदिके आधारपर पीछेसे लिखी गई हैं, उनमें प्रमाणवाक्यों तथा युक्तियोंका अभाव है, और इसलिये केवल उन्हींके आधार पर ऐसे जटिल प्रश्नोंका निर्णय नहीं किया जा सकता —वे अधिक प्राचीन गुरुओंके क्रम और समयके विषयमें प्रायः अपर्याप्त हैं।

२—'कर्णाटक-कवि-चरिते' नामक कनड़ी ग्रंथके रचयिता (मेसर्स आर० एण्ड एस० जी० नरसिंहाचार्य) का अनुमान है कि समंतभद्र शक संवत ६० (ई० सन् १३८) के लगभग हो गये हैं, ऐसा पंडित नाथूरामजीने, अपनी 'कर्णाटक-जैन-कवि' नामक पुस्तकमें सूचित किया है, जो प्रायः उक्त कनड़ी ग्रंथके आधारपर लिखी गई है। परंतु किस आधारपर उनका ऐसा अनुमान है, इसका कोई उल्लेख नहीं किया। जान पड़ता है उक्त पट्टावलीके आधारपर अथवा लेविस राइसके कथनानुसार ही उन्होंने समंतभद्रका वह समय लिख दिया है, उसके लिये स्वयं कोई विशेष अनुसंधान नहीं किया। यही वजह है जो बादको मिस्टर एडवर्ड पी० राइस साहबने, अपने कनड़ी-साहित्यके इतिहास (History of Kanarese literature) में,

जिसे उन्होंने उक्त लेविस राइस साहबके ग्रंथों और 'कर्णाटककविचरिते' के आधारपर लिखा है, समंतभद्रके अस्तित्वकालविषयमें सिर्फ इतना ही सूचित किया है कि जैनियोंकी रिवायत (लोककथा) के अनुसार वे दूसरी शताब्दीके विद्वानोंमेंसे हैं * ।

३—श्रीयुत एम० एस० रामस्वामी आय्यंगर, एम० ए० ने, अपनी 'स्टडीज इन साउथ इन्डियन जैनिज्म' नामकी पुस्तकमें, लिखा है कि "समन्तभद्र उन प्रख्यात दिगम्बर (जैन) लेखकोंकी श्रेणीमें सबसे प्रथम थे जिन्होंने प्राचीन राष्ट्रकूट राजाओंके समयमें महान् प्राधान्य प्राप्त किया है ।" इससे स्पष्ट है कि आपने समन्तभद्रको प्राचीन राष्ट्रकूटोंके समकालीन और उनके राज्यमें विशेषरूपसे लब्धख्याति माना है । परन्तु प्राचीन राष्ट्रकूट राजाओंमेंसे कौनसे राजाके समयमें समंतभद्र हुए हैं, यह कुछ नहीं लिखा और न यही सूचित किया कि आपका यह सब कथन किस आधारपर अवलम्बित है, जिससे उसपर विशेष विचारको अवसर मिलता । आपने प्राचीन राष्ट्रकूट राजाओंके नाम भी नहीं दिये और न यही प्रकट किया कि उनका काल कबसे कबतक रहा है । राष्ट्रकूटोंके जिस कालका आपने उल्लेख किया है और जिसके साथमें 'प्राचीन' (अर्ली) विशेषणका भी कोई प्रयोग नहीं किया गया वह ईसवी सन् ७५० से प्रारंभ होकर ९७३ पर समाप्त

---

* Samanta-bhadra is by Jain tradition placed in the second century.

१ This Samantabhadra was the first of a series of celebrated Digambara writers who acquired considerable predominance, in the early Rashtrakut period.

होता है । यह काल, इतिहासमें, राष्टकूट राजा 'दन्तिदुर्ग' से प्रारंभ होता है और यहींसे राष्ट्रकूटोंके विशेष उदयका उल्लेख मिलता है। इससे पहले इन्द्र (द्वितीय), कर्क (प्रथम), और गोविन्द (प्रथम) नामके तीन राजा और भी हो गये हैं, जिनके राज्यकालादिकका कोई विशेष पता नहीं चलता । माॡम होता है उनका राज्य एक ही क्रमसे नहीं रहा और न वे कोई विशेष प्रभावशाली राजा ही हुए हैं । डाक्टर आर० जी० भाण्डारकरने, अपनी 'अर्ली हिस्टरी ऑफ डेक्कन' में, उस वक्त तकके मिले हुए दानपत्रोंके आधार पर उक्त गोविन्द (प्रथम) को इस वंशका सबसे प्राचीन राजा बतलाया है * । साथ ही, यह प्रकट किया है कि 'आइहोले' के रविकीर्तिवाले शिलालेख (शक सं० ५५६) में जिस गोविन्द राजाके विषयमें यह उल्लेख है कि उसने चालुक्यनृप पुलकेशी (द्वितीय) पर आक्रमण किया था वह प्रायः यही गोविन्द प्रथम जान पड़ता है । ऐसी हालतमें—जब कि इस वंशके प्राचीन इतिहासका कोई ठीक पता नहीं है—यह कहना कि समंतभद्रने प्राचीन राष्ट्रकूटोंके राज्यकालमें प्राधान्य प्राप्त किया था अथवा वे उस समय लब्धप्रतिष्ठ हुए थे, युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता । यदि आय्यंगर महाशयके इस कथनका अभिप्राय यह मान लिया जाय कि समंतभद्र दन्तिदुर्गराजाके राज्य-कालमें हुए हैं अथवा यह स्वीकार किया जाय कि वे गोविन्द प्रथमके समकालीन थे और इसलिये उनका अस्तित्वसमय, भांडारकर महोदयकी सूचनानुसार, वही शक संवत्

१ द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ६२, 'गवर्नमेंट सेंट्रल प्रेस,' बम्बईद्वारा सन् १८९५ सन १८९५ का छपा हुआ ।

* The earliest prince of the dynasty mentioned in the grants hitherto discovered is Govinda I.

५५६ (ई० सन् ६३४) है जो रविकीर्तिके उक्त शिलालेखका समय है, तो यह बात आपके उस कथनके विरुद्ध पड़ती है जिसमें आपने, पुस्तकके पृष्ठ ३०–३१ पर, यह सूचित करते हुए कि समंतभद्रके बाद बहुतसे जैन मुनियोंने अन्यधर्मावलम्बियोंको स्वधर्मानुयायी बनानेके कार्य (the work of proselytism) को अपने हाथमें लिया है, उन मुनियोंमें, प्रधान उदाहरणके तौर पर, सबसे पहले गंगवाड़ि (गंगराज्य) के संस्थापक 'सिंहनंदि' मुनिका और उसके बाद 'पूज्यपाद,' 'अकलंकदेव'के नामोंका उल्लेख किया है। क्योंकि सिंहनंदिमुनिका अस्तित्वसमय जैसा कि पहले जाहिर किया जा चुका है, कोंगुणिवर्माके साथ साथ ईसाकी दूसरी शताब्दीका प्रारंभिक अथवा पूर्व* भाग माना जाता है और पूज्यपाद भी गोविन्द प्रथमके उक्त समयसे प्रायः एक शताब्दी पहले हुए हैं। इसलिये या तो यही कहना चाहिये कि समंतभद्र सिंहनंदिसे पहले (ईसाकी पहली या दूसरी शताब्दीमें) हुए हैं और या यही प्रतिपादन करना चाहिये कि वे प्राचीन राष्ट्रकूटोंके समकालीन (ईसाकी प्रायः सातवीं शताब्दीके पूर्वार्ध अथवा आठवीं शताब्दीके उत्तरार्धवर्ती) थे। दोनों बातें एकत्र नहीं बन सकतीं। जहाँ तक हम समझते हैं आय्यंगर महाशयने भी लेविस राइस साहबके अनुसार, समंतभद्रका अस्तित्वसमय सिंहनंदिसे पहले ही माना है और प्राचीन राष्ट्रकूटोंके समकालीनवाला उनका उल्लेख किसी गलती अथवा भूल पर अवलम्बित है। यही वजह है जो उन्होंने वहाँ पर शक संवत ६० वाले जैनियोंके साम्प्रदायिक कथनको भी बिना किसी प्रतिवादके स्थान दिया है। यदि ऐसा नहीं है, बल्कि-

* देखो पिछला वह 'फुट नोट' जिसमें कोंगुणिवर्माका समय शक सं० २५ दिया है।

सिंहनंदि और पूज्यपादसे पहले समंतभद्रको स्थापित करनेवाली वात ही उनकी गलत है, और उन्होंने वास्तवमें समंतभद्रको ईसवी सन् ७५० या उसके वादका विद्वान् माना है तो हमें इस कहनेमें जरा भी संकोच नहीं हो सकता कि आपकी यह मान्यता विलकुल ही निराधार है, जिसका कहींसे भी कोई समर्थन नहीं हो सकता।

४—मध्यकालीन भारतीय न्यायके इतिहास (हिस्टरी ऑफ दि मिडियावल स्कूल ऑफ इंडियन लॉजिक') में, डाक्टर सतीशचंद्र विद्याभूषण, एम० ए० ने अपना यह अनुमान प्रकट किया है कि समंतभद्र ईसवी सन् ६०० के करीव हुए हैं *। परंतु आपके इस अनुमानका क्या आधार है-अथवा किन युक्तियोंके वल पर आप ऐसा अनुमान करनेके लिये वाध्य हुए हैं, यह कुछ भी सूचित नहीं किया। हाँ, इससे पहले, इतना जरूर सूचित किया है कि समंतभद्रका उल्लेख हिन्दू-तत्त्ववेत्ता 'कुमारिल' ने भी किया है और उसके लिये डाक्टर भांडारकरकी संस्कृतग्रंथविषयक उस रिपोर्टके पृष्ठ ११८ को देखनेकी प्रेरणा की है जिसका उल्लेख हम नं० १ में कर चुके हैं। साथ ही यह प्रकट किया है कि 'कुमारिल' वौद्ध तार्किक विद्वान् धर्मकीर्तिका समकालीन था और उसका जीवनकाल आमतौर पर ईसाकी ७ वीं शताब्दी माना गया है। शायद इतने परसे ही—कुमारिलके ग्रंथमें समंतभद्रका उल्लेख मिल जानेसे ही—आपने समंतभद्रको कुमारिलसे कुछ ही पहलेका विद्वान् मान लिया है। यदि ऐसा है तो

---

* Samantabhadra is supposed to have flourished about 600 A. D.

१ सूचित करनेकी खास जरूरत थी; क्योंकि दूसरे विद्वान् समंतभद्रका अस्तित्व समय ईसाकी पहली या दूसरी शताब्दी मान रहे थे।

आपका यह मान लेना जरा भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। समंतभद्र कुमारिलसे अधिक समय पहले न होकर अल्पसमय पहले ही हुए हैं, इस वातकी उक्त उल्लेख मात्रमें क्या गारंटी है? इस वातको सिद्ध करनेके लिये तो विशेष प्रमाणोंकी आवश्यकता थी, जिनका उक्त पुस्तकमें अभाव पाया जाता है।

धर्मकीर्तिके प्रकरणमें, विद्याभूषणजीने धर्मकीर्तिका स्पष्ट समय (संभवतः धर्मकीर्तिके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहनेका समय) ई० सन् ६३५ से ६५० के लगभग वतलाया है और इस समयकी पुष्टिमें तीन वातोंका उल्लेख किया है—एक तो यह कि धर्मकीर्तिका गुरु धर्मपाल ई० सन् ६३५ में जीवित था, इसी सन्[1] तक उसके अस्तित्वका पता चलता है, इससे धर्मकीर्ति भी उस समयके करीव मौजूद होना चाहिये; दूसरे यह कि धर्मकीर्ति तिव्वतके राजा 'स्रोण्-त्सन्-गम्पो' का समकालीन था, जिसका अस्तित्व समय ई० सन् ६२७ से ६९८ तक पाया जाता है, और इस समयके साथ धर्मकीर्तिका समय अनुकूल पड़ता है; तीसरे यह कि 'इ-त्सिंग्' नामक चीनी यात्रीने ई० सन् ६७१ से ६९५ के मध्यवर्ती समयमें भारतकी यात्रा की है; वह (अपने यात्रा-वृत्तान्तमें) वड़ी खूवीके साथ इस वातको प्रकट करता है कि किस तरह पर 'दिग्नाग'के वाद "धर्मकीर्तिने तर्कशास्त्रमें और अधिक उन्नति की है।" इसके सिवाय धर्मकीर्तिकी वौद्ध दीक्षाके वाद, विद्याभूषणजीने यह भी प्रकट किया है कि धर्मकीर्तिने तीर्थदर्शन (Tirtha

१ इसी सन् ६३५ में; चीनी यात्री ह्वेनत्संग जव नालंदाके विश्वविद्यालयमें पहुँचा तो वहाँ उक्त धर्मपालकी जगह, प्रधान पदपर, उनका एक शिष्य शीलभद्र प्रतिष्ठित हो चुका था; ऐसा विद्याभूषणजीकी उक्त पुस्तकसे पाया जाता है।

System) के गुप्ततत्त्वका परिचय प्राप्त करनेकी इच्छासे एक गुलामके वेषमें दक्षिणकी यात्रा की, वहाँ यह माळूम करके कि कुमारिल ब्राह्मण इस विषयका अद्वितीय विद्वान् है, अपने आपको उसकी सेवामें रक्खा और अपनी सेवासे उसे प्रसन्न करके उससे उक्त दर्शनके गुप्त सिद्धान्तोंको माळूम किया। इस सब कथनसे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि धर्मकीर्ति ६२५से पहले ही कुमारिलकी सेवामें पहुँच गये थे, और उस समय कुमारिल वृद्ध नहीं तो प्रायः ४० वर्षकी अवस्थाके अवश्य होंगे। ऐसी हालतमें कुमारिलका समय पीछेकी ओर ई० सन् ६००के करीब पहुँच जाता है, और यही समय, ऊपर, समन्तभद्रका बतलाया गया है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि विद्याभूषणजीने, वास्तवमें, समंतभद्र और कुमारिलको प्रायः समकालीन ठहराया है। परंतु कुमारिलने, अपने 'श्लोकवार्तिक' में, अकलंकदेवके 'अष्टशती' ग्रंथ पर, उसके 'आज्ञाप्रधाना हि....' इत्यादि वाक्योंको लेकर, कुछ कटाक्ष किये हैं, ऐसा प्रोफेसर के० बी० पाठक 'दिगम्बरजैनसाहित्यमें कुमारिलका स्थान' नामक अपने निबंधमें, सूचित करते हैं और साथ ही यह प्रकट करते हैं कि कुमारिल अकलंकसे कुछ बाद तक जीवित रहा है, इसीसे जो आक्षेप अष्टशतीके वाक्योंपर कुमारिलने किये उनके निराकरणका अवसर स्वयं अकलंकको नहीं मिल सका, वह काम बादमें अकलंकके शिष्यों (विद्यानंद और प्रभाचंद्र) को करना पड़ा। उक्त 'अष्टशती' ग्रंथ समंतभद्रके 'देवागम' स्तोत्रका भाष्य है, यह पहले जाहिर किया[1] जा चुका है। इससे पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि समंतभद्रके एक ग्रंथके ऊपर कई शताब्दी पीछेके बने हुए भाष्य पर, भाष्यकारकी

---

१ 'अष्टशती' भाष्य कई शताब्दी पीछेका बना हुआ है, यह बात आगे चलकर स्वयं माळूम हो जायगी।

प्रायः वृद्धावस्थामें, जब कुमारिल कटाक्ष करता है तब वह समंतभद्रसे कितने पीछेका विद्वान् है और उसे समंतभद्रके प्रायः समकालीन ठहराना कहाँ तक युक्तिसंगत हो सकता है। जान पड़ता है विद्याभूषणजीको कुमारिलके उक्त 'श्लोकवार्तिक' को देखनेका अवसर ही नहीं मिला। यही वजह है जो वे अकलंकदेवको कुमारिलसे भी पीछेका—ईसवी सन् ७५० के करीबका—विद्वान् लिख गये हैं! यदि उन्होंने उक्त ग्रंथ देखा होता तो वे अकलंकदेवका समय ७५० की जगह ६४० के करीब लिखते, और तब आपका वह कथन 'अकलंकचरित' के निम्न पद्यके प्रायः अनुकूल जान पड़ता, जिसमें लिखा है कि 'विक्रम संवत्[1] ७०० (ई० सन् ६४३) में अकलंक यतिका बौद्धोंके साथ महान् वाद हुआ है—

विक्रमार्क-शकाब्दीय-शतसप्त-प्रमाजुषि ।[2]
कालेऽकलंक-यतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत् ॥

और भी कितने ही जैन विद्वानोंके विषयमें विद्याभूषणजीके समय-निरूपणका प्रायः ऐसा ही हाल है—वह किसी विशेष अनुसंधानको

१ कुछ विद्वानोंने अकलंकदेवके 'राजन्साहसतुंग' इत्यादि पद्यमें आए हुए 'साहसतुंग' राजाका राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज प्रथम (शुभतुंग) के साथ समीकरण करके, अकलंकदेवको उसके समकालीन—ईसाकी आठवीं शताब्दीके प्रायः उत्तरार्धका—विद्वान् माना है; परंतु कुमारिल यदि डा० सतीशचंद्रके कथनानुसार धर्मकीर्तिका समकालीन था तो अकलंकदेवके अस्तित्वका समय यह वि० सं० ७०० ही ठीक जान पड़ता है, और तब यह कहना होगा कि 'साहसतुंग' का कृष्णराजके साथ जो समीकरण किया गया है वह ठीक नहीं है। लेविस राइसने ऐसा समीकरण न करके अपनेको साहसतुंगके पहचाननेमें असमर्थ बतलाया है।

२ यह पद्य, 'इन्स्क्रिप्शन्स ऐट श्रवणबेल्गोल' (एपिग्रेफिया कर्णाटिका जिल्द दूसरी) के द्वितीयसंस्करण, (सन् १९२३) की प्रस्तावनामें, मि० आर० नरसिंहाचार्यके द्वारा उक्त आशयके साथ उद्धृत किया गया है।

लिये हुए मालूम नहीं होता—जिसका एक उदाहरण न्यायदीपिकाके कर्ता 'धर्मभूषण' का समय है । आपने धर्मभूषणका समय ई० सन् १६०० के करीब दिया है परंतु उनकी न्यायदीपिका शक संवत् १३०७ में लिखी गई है, ऐसा प्रो० के० वी० पाठकने, 'साउथ इंडियन इंस्क्रिपशन्स जिल्द १ली, पृष्ठ १५६' के आधार पर अपने उक्त निबंधमें सूचित किया है । ऐसी हालतमें आपको धर्मभूषणका समय ई० सन् १३८५, या '१४०० के करीब' देना चाहिये था; परंतु ऐसा न करके आपने धर्मभूषणको उनके असली समयसे एकदम २०० वर्ष पीछेका विद्वान् करार दिया है और यह लिख दिया है कि करीब ३०० वर्ष (५३२ के स्थानमें) हुए जब उन्होंने न्यायदीपिका लिखी थी ! इससे स्पष्ट है कि विद्याभूषणजीने जैन विद्वानोंका ठीक समय मालूम करनेके लिये कोई विशेष प्रयास नहीं किया और इस लिये इस विषयमें उनका वह कथन, जो विशेष युक्तियोंको साथमें लिये हुए नहीं है, कुछ अधिक विश्वासके योग्य मालूम नहीं होता—कितने ही स्थानों पर तो वह बहुत ही भ्रमोत्पादक जान पड़ता है । समंतभद्रका अस्तित्व-विषयक कथन आपका कितना भ्रमपूर्ण है इस बातका और भी अच्छा अनुभव पाठकोंको आगे चल कर हो जायगा ।

सिद्धसेन और न्यायावतार ।

५—कुछ विद्वानोंका खयाल है कि स्वामी समंतभद्र सिद्धसेन दिवाकरसे पहले हुए हैं । सिद्धसेन यदि विक्रमादित्य राजाकी सभाके नवरत्नोंमेंसे थे और इस लिये विक्रमकी प्रथम शताब्दीके विद्वान् समझे जाते हैं तो समंतभद्र उससे भी पहलेके—ईसाकी पहली शताब्दीसे भी पहलेके—विद्वान् होने चाहियें; क्यों कि समन्तभद्रके 'रत्नकरण्डक' का निम्न पद्य सिद्धसेनके 'न्यायावतार' में उद्धृत पाया जाता है—

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥ ९॥

इसमें संदेह नहीं कि यह पद्य समंतभद्रके 'रत्नकरंडक' नामक उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) का पद्य है, उसमें यथास्थान—यथाक्रम—मूलरूपसे पाया जाता है और उसका एक बहुत ही आवश्यक अंग है। यदि इस पद्यको उक्त ग्रंथसे निकाल दिया जाय तो उसके कथनका सिलसिला ही बिगड़ जाय। क्यों कि ग्रंथमें, जिन आप्त, आगम तपोभृत्के अष्ट अंगसहित और त्रिमूढतादिरहित श्रद्धानको सम्यग्दर्शन बतलाया गया है उनका क्रमशः स्वरूप निर्देश करते हुए इस पद्यसे पहले आप्तका और इसके बाद तपोभृतका स्वरूप दिया है; यह पद्य यहाँ दोनोंके मध्यमें अपने स्थानपर स्थित है, और अपने विषयका एक ही पद्य है। प्रत्युत इसके, न्यायावतारमें इस पद्यकी स्थिति बहुत ही संदिग्ध जान पड़ती है। यह उसका कोई आवश्यक अंग मालूम नहीं होता, और न इसको निकाल देनेसे वहाँ ग्रंथके सिलसिलेमें अथवा उसके प्रतिपाद्य विषयमें ही कोई बाधा आती है। ग्रंथमें परोक्ष प्रमाणके '**अनुमान**' और '**शाब्द**' ऐसे दो भेदोंका कथन करते हुए, स्वार्थानुमानका प्रतिपादन और समर्थन करनेके बाद, इस पद्यसे ठीक पहले 'शाब्द' प्रमाणके लक्षणका यह पद्य दिया हुआ है—

दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात् परमार्थाभिधायिनः।
तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम्॥ ८॥

---

१ यह पद्य दोनों ही ग्रंथोंमें नंबर ९ पर दिया हुआ है, और ऐसा होना आकस्मिक घटनाका परिणाम है।

२ टीकामें इस पद्यसे पहले यह प्रस्तावना वाक्य दिया हुआ है—

इस पद्यकी उपस्थितिमें इसके बादका उपर्युक्त पद्य, जिसमें शास्त्र (आगम) का लक्षण दिया हुआ है, कई कारणोंसे व्यर्थ पड़ता है। प्रथम तो, उसमें शास्त्रका लक्षण आगमप्रमाणरूपसे नहीं दिया—यह नहीं बतलाया कि ऐसे शास्त्रसे उत्पन्न हुआ ज्ञान आगम प्रमाण अथवा शाब्दप्रमाण कहलाता है—बल्कि सामान्यतया आगम पदार्थके रूपमें निर्दिष्ट हुआ है, जिसे 'रत्नकरण्डक' में सम्यग्दर्शनका विषय बतलाया गया है। दूसरे, शाब्दप्रमाणसे शास्त्रप्रमाण कोई भिन्नवस्तु भी नहीं है, जिसको शाब्द प्रमाणके बाद पृथक् रूपसे उल्लेख करनेकी जरूरत होती, बल्कि उसीमें अंतर्भूत है। टीकाकारने भी, शाब्दके 'लौकिक' और 'शास्त्रज' ऐसे दो भेदोंकी कल्पना करके, यह सूचित किया है कि इन दोनोंका ही लक्षण इस आठवें पद्यमें आगया है;*इससे ९ वें पद्यमें शाब्दके 'शास्त्रज' भेदका उल्लेख नहीं, यह और भी स्पष्ट हो जाता है। तीसरे, ग्रंथ भरमें इससे पहले, 'शास्त्र' या 'आगम' शब्दका कहीं प्रयोग नहीं हुआ जिसके स्वरूपका प्रतिपादक ही यह ९ वाँ पद्य समझ लिया जाता, और न 'शास्त्रज' नामके भेदका ही मूल ग्रंथमें कोई निर्देश है जिसके एक अवयव (शास्त्र) का लक्षण प्रतिपादक यह पद्य हो सकता; चौथे यदि यह कहा जाय

"तदेवं स्वार्थानुमानलक्षणं प्रतिपाद्य तद्वतां भ्रान्तताविप्रतिपत्तिं च निराकृत्य अधुना प्रतिपादितपदार्थानुमानलक्षण एवाल्पवक्तव्यत्वात् तावच्छाब्दलक्षणमाह"।

१ स्वपराभासी निर्बाध ज्ञानको ही 'न्यायावतार' के प्रथम पद्यमें प्रमाणका लक्षण बतलाया है, इस लिये प्रमाणके प्रत्येक भेदमें उसकी व्याप्ति होनी चाहिये।

* 'शाब्दं च द्विधा भवति—लौकिकं शास्त्रजं चेति। तत्रेदं द्वयोरपि साधारणं प्रतिपादितम्।

कि ८ वें पद्यमें 'शाब्द' प्रमाणको जिस वाक्यसे उत्पन्न हुआ बतलाया गया है उसीका 'शास्त्र' नामसे अगले पद्यमें स्वरूप दिया गया है तो यह बात भी नहीं बनती; क्यों कि ८ वें पद्यमें ही 'दृष्टेष्टाव्याहत' आदि विशेषणोंके द्वारा वाक्यका स्वरूप दे दिया गया है और वह स्वरूप अगले पद्यमें दिये हुए शास्त्रके स्वरूपसे प्रायः मिलता जुलता है—उसके '**दृष्टेष्टाव्याहत**' का 'अदृष्टेष्टविरोधक' के साथ साम्य है और उसमें 'अनुल्लंघ्य' तथा 'आप्तोपज्ञ' विशेषणोंका भी समावेश हो सकता है, '**परमार्थाभिधायि**' विशेषण 'कापथघट्टन' और 'सार्व' विशेषणोंके भावका द्योतक है, और शाब्दप्रमाणको '**तत्त्वग्राहितयोत्पन्न**' प्रतिपादन करनेसे यह स्पष्ट ध्वनित है कि वह वाक्य 'तत्त्वोपदेशकृत्' माना गया है—इस तरह पर दोनों पद्योंमें परस्पर बहुत कुछ साम्य पाया जाता है । ऐसी हालतमें ग्रंथकारके लिये एक ही बातकी व्यर्थ पुनरुक्ति करनेकी कोई वजह नहीं हो सकती, खासकर ऐसे ग्रंथमें जो सूत्ररूपसे जँचे तुले शब्दोंमें लिखा जाता हो । पाँचवें, ग्रंथकारने स्वयं अगले पद्यमें वाक्यको उपचारसे 'परार्थानुमान' बतलाया है; यथा—

स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनं बुधैः ।
परार्थं मानमाख्यातं वाक्यं तदुपचारतः ॥ १० ॥

इन सब बातों अथवा कारणोंके समुच्चयसे यह स्पष्ट है कि 'न्यायावतार' में 'आप्तोपज्ञ' नामक पद्यकी स्थिति बहुत ही संदिग्ध है, वह मूल ग्रंथकारका पद्य मालूम नहीं होता, उसे मूल ग्रंथकारविरचित ग्रंथका आवश्यक अंग माननेसे पूर्वोत्तर पद्योंके मध्यमें उसकी स्थिति व्यर्थ पड़ जाती है, ग्रंथकी प्रतिपादनशैली भी उसे स्वीकार नहीं करती,

और इस लिये वह अवश्य ही एक उद्धृत पद्य जान पड़ता है। टीकाकारने उसे देनेसे पहले, शब्दके 'लौकिक' और 'शास्त्रज' ऐसे दो भेदोंकी कल्पना करके, प्रस्तावनारूपसे जो यह लिखा है कि 'जिस प्रकारके शास्त्रसे उत्पन्न हुआ शास्त्रज प्रमाण प्रमाणताको प्राप्त होता है उसे अब ग्रंथकार दिखलाते हैं'* वह ग्रंथके अन्य पद्योंके साथ इस पद्यका सामंजस्य स्थापित करनेके लिये टीकाकारका प्रयत्न मात्र है। अन्यथा, मूल ग्रंथकारकी न तो वैसी भेदकल्पना ही माळूम होती है, न उस प्रकारकी कल्पनाके आधारपर ग्रंथमें कथनकी कोई पद्धति ही पाई जाती है और न ८ वें पद्यमें वाक्यका स्वरूप जतला देने पर, उन्हें शास्त्रका अलग स्वरूप देनेकी कोई जरूरत ही थी। वे यदि ऐसा करते तो अन्य ग्रंथोंकी तरह अपने ग्रंथमें उस आप्तका लक्षण भी अवश्य देते जिससे शास्त्र अथवा वाक्य विशेषकी उत्पत्ति होती है और जिसके भेद तथा प्रमाणतापर उस शास्त्र या वाक्यका भेद अथवा प्रामाण्य प्रायः अवलम्बित रहता है; परंतु ग्रंथभरमें आप्तका लक्षण तो क्या, उसके सामान्यस्वरूपका प्रतिपादक मंगलाचरण तक भी नहीं है। इससे स्पष्ट है कि ग्रंथकारने इस प्रकारकी कल्पनाओं और विशेष कथनोंसे

---

१ 'लौकिक' के साथ शास्त्रज नामका भेद कुछ अच्छा तथा संगत भी माळूम नहीं होता, वह 'लोकोत्तर' होना चाहिए था। 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार' नामक श्वेताम्बर ग्रन्थमें जिस आप्तके वचनको आगम बतलाया गया है उसके लौकिक और लोकोत्तर ऐसे दो भेद किये हैं (स च द्वेधा लौकिको लोकोत्तरश्च) और इस लिये आप्तवाक्य तथा आप्तवाक्यसे उत्पन्न होनेवाले शाब्द प्रमाण या आगम प्रमाणके भी वे ही दो भेद लौकिक और लोकोत्तर होने चाहिये थे। यहाँ शास्त्रज ऐसा नामभेद केवल अगले पद्यकी ग्रंथके साथ संगति बिठलानेके लिये ही टीकाकारद्वारा कल्पित हुआ जान पड़ता है।

* 'यादृश· शास्त्राज्जातं प्रमाणतामनुभवति तद्दर्शयति।'

अपने ग्रंथको प्रायः अलग रक्खा है, उन्होंने सामान्यरूपसे प्रमाणनय-की उस प्रसिद्ध व्यवस्थाका ही इस ग्रंथमें कीर्तन किया है जिसे सब लोग व्यवहारमें लाते हैं ×, और इस लिये भी यह पद्य ग्रंथमें उद्धृत ही जान पड़ता है। यदि सचमुच ही ग्रंथकारने, ग्रंथके आठवें पद्यमें दिये हुए वाक्यके स्वरूपका समर्थन करनेके लिये इस पद्यको ' उक्तं च ' रूपसे उद्धृत किया हो तो इस कहनेमें कोई संकोच नहीं हो सकता कि सिद्धसेन अवश्य ही समंतभद्रके बाद हुए हैं। परंतु, जहाँ तक हम समझते हैं, सिद्धसेन दिवाकर जिस टाइपके विद्वान् थे और जिस ढंग (पद्धति) से उन्होंने अपने ग्रंथको प्रारंभ और समाप्त किया है उस परसे सिद्धसेन द्वारा इस पद्यके उद्धृत किये जानेकी बहुत ही कम संभावना पाई जाती है—इस बातका खयाल भी नहीं होता कि सिद्धसेन जैसे विद्वानने अपने ऐसे छोटेसे सूत्रग्रंथमें, एक दूसरे विद्वानके वाक्यको 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत करना उचित समझा हो। हमारी रायमें यह पद्य या तो ग्रंथकी किसी दूसरी पुरानी टीकामें, 'वाक्य'की व्याख्या करते हुए, उद्धृत किया गया है और या किसी विद्वानने ८ वें अथवा १० वें पद्यमें आए हुए 'वाक्य' शब्दपर टिप्पणी देते हुए वहाँ उद्धृत किया है, और उसी टीका या टिप्पणवाली प्रतिपरसे मूल ग्रंथकी नकल उतारते हुए, लेखकोंकी असावधानी अथवा नासमझीसे; यह ग्रंथमें प्रक्षिप्त हो गया है और ग्रंथका एक अंग बन गया है। किसी पद्यका इस तरह पर प्रक्षिप्त होना कोई असाधारण बात नहीं है—बहुधा ग्रंथोंमें इस प्रकारसे प्रक्षिप्त हुए पद्योंके कितने ही उदाहरण पाये जाते हैं। इस

×—प्रमाणादिव्यवस्थेयमनादिनिधनात्मिका।
सर्वसंव्यवहर्तॄणां प्रसिद्धापि प्रकीर्तिता ॥ ३२ ॥

लिये, 'न्यायावतार' में इस पद्यकी स्थिति आदिको देखते हुए हमारी यही राय होती है कि यह पद्य वहाँपर क्षेपक है, और ग्रंथकी वर्तमान टीकासे, जिसे कुछ विद्वान् चंद्रप्रभसूरि (वि० सं० ११५९) की और कुछ सिद्धर्षि (सं० ९६२) की बनाई हुई कहते हैं, पहले ही ग्रंथमें प्रक्षिप्त हो चुका है। अस्तु। इस पद्यके 'क्षेपक' करार दिये जानेपर ग्रंथके पद्योंकी संख्या ३१ रह जाती है। इसपर कुछ लोग यह आपत्ति कर सकते हैं कि सिद्धसेनकी बाबत कहा जाता है कि उन्होंने 'द्वात्रिंशतद्वात्रिंशिका' नामसे ३२ स्तुतियाँ लिखी हैं, जिनमेंसे प्रत्येककी श्लोकसंख्या ३२ है, न्यायावतार भी उन्हींमेंसे एक स्तुति है*— द्वात्रिंशिका है—उसकी पद्यसंख्या भी ३२ ही होनी चाहिये और इस लिये उक्त पद्यको क्षेपक माननेसे ग्रंथके परिमाणमें बाधा आती है। परंतु इस प्रकारकी आपत्तिके लिये वास्तवमें कोई स्थान नहीं। प्रथम तो 'न्यायावतार' कोई स्तुतिग्रंथ ही नहीं है, उसमें मंगलाचरण तक भी नहीं और न परमात्माको सम्बोधन करके ही कोई कथन किया गया है; दूसरे, इस बातका कोई प्राचीन (टीकासे पहलेका) उल्लेख नहीं मिलता जिससे यह पाया जाता हो कि न्यायावतार 'द्वात्रिंशिका' है अथवा उसके श्लोकोंकी नियतसंख्या ३२ है; और तीसरे, सिद्धसेनकी जो २० अथवा २१

* "ए शिवाय पण 'द्वात्रिंशतद्वात्रिंशिका' ए स्तुतिसंग्रह ग्रंथ रच्यो छे, तेमांनो न्यायावतार एक स्तुतिरूप ग्रंथ छे।" ऐसा न्यायावतार सटीककी प्रस्तावनामें लेरुभाई भोगीलालजी, सेक्रेटरी 'हेमचंद्राचार्यसभा' पट्टनने प्रतिपादन किया है।

१ सिद्धसेन दिवाकरकी आम तौरपर २० द्वात्रिंशिकाएँ एकत्र मिलती हैं, सिर्फ एक प्रतिमें २१-वीं द्वात्रिंशिका भी साथ मिली है, ऐसा प्रकाशकोंने सूचित किया है; और वह २१ वीं द्वात्रिंशिका अपने साहित्य परसे संदिग्ध जान पड़ती है; इसी लिये यहाँपर 'अथवा' शब्दका प्रयोग किया गया है।

'द्वात्रिंशिकाएँ' मिलती हैं उन सबमें ३२ पद्योंका कोई नियम नहीं देखा जाता—आठवीं द्वात्रिंशिकामें २६, ग्यारहवींमें २८, पंद्रहवींमें ३१, उन्नीसवींमें भी ३१, दसवींमें ३४ और इक्कीसवींमें ३३ पद्य पाये जाते हैं *। ऐसी हालतमें 'न्यायावतार'के लिये ३२ पद्योंका कोई आग्रह नहीं किया जा सकता, और न यही कहा जा सकता है कि ३१ पद्योंसे उसके परिमाणमें कोई बाधा आती है।

अब देखना चाहिये कि सिद्धसेन दिवाकर कब हुए हैं और समंतभद्र उनसे पहले हुए या कि नहीं। कहा जाता है कि सिद्धसेन दिवाकर उज्जयिनीके राजा विक्रमादित्यकी सभाके नवरत्नोंमेंसे एक रत्न थे, और उन नवरत्नोंके नामोंके लिये 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रंथका निम्न पद्य पेश किया जाता है—

धन्वंतरिः क्षपणकोऽमरसिंहशंकुर्वेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः ।
ख्यातो वाराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव-
विक्रमस्य ॥

इस पद्यमें, यद्यपि, 'सिद्धसेन' नामका कोई उल्लेख नहीं है परन्तु 'क्षपणक' नामके जिस विद्वानका उल्लेख है उसीको 'सिद्धसेन दिवाकर' बतलाया जाता है। डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण तो, इस विषयमें अपनी मान्यताका उल्लेख करते हुए, यहाँ तक लिखते हैं कि 'जिस क्षपणक (जैनसाधु) को हिन्दूलोग विक्रमादित्यकी सभाको भूषित करनेवाले नवरत्नोंमेंसे एक रत्न समझते हैं वह सिद्धसेनके सिवाय

---

* देखो 'श्रीसिद्धसेनदिवाकरकृत ग्रंथमाला' जिसे 'जैनधर्मप्रसारक सभा' भावनगरने वि० सं० १९६५ में छपाकर प्रकाशित किया।

दूसरा कोई विद्वान् नहीं था' * । साथ ही, प्रकट करते हैं कि बौद्ध ग्रंथोंमें भी जैनसाधुओंको 'क्षपणक' नामसे नामांकित किया है, प्रमाणके लिये 'अवदानकल्पलता' के दो पद्य + भी उद्धृत किये हैं, और इस तरह पर यह सूचित किया है कि उक्त 'क्षपणक' नामका विद्वान् बौद्ध-भिक्षु नहीं था। इसमें संदेह नहीं कि 'क्षपणक' जैन-साधुको कहते हैं। यदि वास्तवमें सिद्धसेन विक्रमादित्यकी सभाके ये ही क्षपणक विद्वान् थे और इस लिये वराहमिहिरके समकालीन थे तो उनका समय ईसाकी प्रायः छठी शताब्दी जान पड़ता है। क्यों कि वराहमिहिरका अस्तित्व समय ई० सन् ५०५ से ५८७ तक पाया जाता है—उसने अपनी ज्योतिषगणनाके लिये शक सं० ४२७ (ई० सन् ५०५) को अब्दपिण्डके तौरपर पसंद किया था ×

---

* I am inclined to believe that Sidhasen was no other than Kshapnaka (a jain sage) who is traditionally known to the Hindus to have been one of the nine gems that adorned the court of Vikramaditya, (H. M. S. Indian Lojic p. 15.)

+ वे पद्य इस प्रकार हैं—

भगवद्भाषितं तत्तु सुभद्रेण निवेदितम् ।
श्रुत्वा क्षपणकः क्षिप्रमभूद्द्वेषविपाकुलः ॥ ९ ॥
तस्य सर्वज्ञतां वेत्ति सुभद्रो यदि मद्गिरा ।
तदेष क्षपणश्रद्धां त्यक्ष्यति श्रमणादरात् ॥

—अ०, ज्योतिष्कावदान ।

× देखो डा० सतीशचन्द्रकी न्यायावतारकी प्रस्तावना और 'हिस्टरी आफ इंडियन लाजिक,' जिनमें आपने वराहमिहिरकी 'पंचसिद्धान्तिका' का यह पद्य भी उद्धृत किया है—

और ई० सन् ५८७ में उसका देहान्त हो चुका था। इसी लिये डाक्टर सतीशचंद्रने, अपनी 'मध्यकालीन न्याय' के इतिहासकी पुस्तकमें, सिद्धसेनको ई० सन् ५३३ के करीबका और न्यायावतारकी प्रस्तावनामें, सन् ५५० के करीबका विद्वान् माना है, और उज्जयिनीके विक्रमादित्यके विषयमें, उन विद्वानोंकी रायको स्वीकार किया है जिन्होंने विक्रमादित्य * का समीकरण मालवाके उस राजा यशोवर्मदेवके साथ किया है जिसने, अल्बेरूनीके कथनानुसार, ई० सन् ५३३ में कोरूर (Korur) स्थान पर हूणोंको परास्त किया था। ऐसी हालतमें, यह स्पष्ट है कि सिद्धसेन दिवाकर विक्रमकी पहली शताब्दीके विद्वान् नहीं थे, बल्कि उसकी छठी शताब्दी अथवा ईसाकी पाँचवीं और छठी शताब्दीके विद्वान् थे। इस विषयमें, मुनि जिनविजयजी जैनसाहित्यसंशोधक—द्वितीय अंकके पृष्ठ ८२ पर, लिखते हैं—

"सिद्धसेन ईसाकी ६ ठी शताब्दीसे बहुत पहले हो गये हैं। क्योंकि विक्रमकी पांचवीं शताब्दीमें हो जानेवाले आचार्य मल्लवादीने सिद्धसेनके सम्मतितर्क ऊपर टीका लिखी थी। हमारे विचारसे सिद्धसेन विक्रमकी प्रथम शताब्दिमें हुए हैं।"

सप्ताक्षिवेदसंख्यं शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ।
अर्द्धास्तमिते भानौ यवनपुरे सौम्यदिवसाद्ये ॥ ८ ॥

१ देखो विन्सेण्ट स्मिथकी 'अर्ली हिस्टरी आफ इंडिया' तृ० सं०, पृ० ३०५.

* 'विक्रमादित्य' नामके–इस उपाधिके धारक–कितने ही राजा हो गये हैं। गुप्तवंशके चंद्रगुप्त द्वितीय और स्कन्दगुप्त खास तौर पर 'विक्रमादित्य' प्रसिद्ध थे। इनके और इनके मध्यवर्ती कुमारगुप्तके राज्यकालमें ही–ईसाकी पाँचवीं शताब्दीमें–' कालिदास ' नामके उन सुप्रसिद्ध विद्वान्का होना, पिछली तहकीकातसे, पाया जाता है जिन्हें विक्रमादित्यकी सभाके नवरत्नोंमें परिगणित किया गया है (वि० ए० स्मिथकी अर्ली हिस्टरी ऑफ इंडिया, तृ० संस्करण,

यह ठीक है कि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें आचार्य मल्लवादीको वीर-संवत् ८८४ का विद्वान् लिखा है+और उसीको लेकर मुनिजीने उन्हें विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीका विद्वान् प्रतिपादन किया है। परन्तु आचार्य मल्लवादीने बौद्धाचार्य 'धर्मोत्तर'की 'न्यायविन्दु-टीका' पर 'धर्मोत्तर-टिप्पणक' नामका एक टिप्पण लिखा है, और आचार्य धर्मोत्तर ईसाकी ९ वीं शताब्दी (ई० सन् ८३७–८४७ के करीब) के विद्वान् थे, इस लिये मल्लवादीका वीरसंवत ८८४ में होना असंभव है; ऐसा डाक्टर सतीशचंद्र अपने मध्यकालीन न्यायके इतिहासमें, सूचित करते हैं। साथ ही, यह प्रकट करते हैं कि यह संवत् ८८४, वीर संवत् न होकर, या तो विक्रम संवत् है और या शकसंवत्। विक्रम संवत् (ई० सन् ८२७) की हालतमें मल्लवादी धर्मोत्तरके समकालीन थे और शक संवत् (ई० स० ९६२) की हालतमें वे धर्मोत्तरसे एक

पृ० ३०४) और मुनि जिनविजयजीने जिनको 'सिद्धसेनके समकालीन और सहवासी महाकवि' वतलाया है (जैनहितैषी, नवम्बर सन् १९१९)।

+—" श्रीवीरवत्सरादथशताष्टके चतुरशीतिसंयुक्ते।
जिग्ये स मल्लवादी बौद्धांस्तद्व्यन्तरांश्चापि ॥ "

यह पद्य 'न्यायावतार–वृत्ति'की प्रस्तावनामें 'प्रभावकचरित'के नामसे उद्धृत किया है।

१ मूल ग्रंथ 'न्यायबिन्दु' आचार्य 'धर्मकीर्ति' का लिखा हुआ है जो ईसाकी सातवीं शताब्दीके विद्वान् थे। देखो सतीशचन्द्रकी हिस्टरी आफ इंडियन लाजिक।

२ इस 'धर्मोत्तर-टिप्पणक' की एक प्रति ताड़पत्रोंपर अन्हिलवाड़ पाटनमें सुरक्षित है और सं० १३३१ की लिखी हुई वतलाई जाती है। उसके अन्तमें लिखा है—"इति धर्मोत्तरटिप्पनके श्रीमल्लवाद्याचार्यकृते तृतीयः परिच्छेदः समाप्तः मङ्गलं महाश्रीः ॥" (History of M. S. of Indian Logic P. 34)

शताब्दी पीछेके विद्वान् समझे जाने चाहिये * । इससे, मल्लवादीके समयके आधार पर मुनिजीने जो यह प्रतिपादन किया है कि सिद्धसेन विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीसे पहले हुए हैं सो ठीक प्रतीत नहीं होता । और भी कोई दूसरा प्रवल प्रमाण अभी तक ऐसा उपलब्ध नहीं हुआ जिससे सिद्धसेनका समय ईसाकी पाँचवीं छठी शताब्दीसे पहले स्थिर किया जा सके, और छठी अथवा पाँचवीं शताब्दीका समय मानने पर हमें यह कहनेमें जरा भी संकोच नहीं हो सकता कि समंतभद्र सिद्धसेन दिवाकरसे बहुत पहले हुए हैं, जैसा कि पाठकोंको आगे चलकर मालूम होगा ।

यहाँ पर इतना और भी प्रकट कर देना उचित मालूम होता है कि सिद्धसेनको विद्याभूषणजीने श्वेताम्बर संप्रदायका विद्वान् लिखा है । हमारी रायमें आपका यह लिखना केवल एक सम्प्रदायकी मान्यताका उल्लेख मात्र है, और दूसरे सम्प्रदायकी मान्यतासे अनभिज्ञताको सूचित करता है; इससे अधिक उसे कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता । अन्यथा, जब दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें सिद्ध-

---

* देखो उक्त इतिहास (History of the Mediaeval School of Indian Logic) के पृष्ठ ३५, १३१ ।

१ वराहमिहिरके एक ग्रंथमें जब शक सं० ४२७ (ई० सन् ५०५) का उल्लेख है तो वे उसकी रचनासे प्रायः २०–२५ वर्ष पहले और भी जीवित रहे होंगे, यह स्वाभाविक है, और इस लिये उनका अस्तित्व समय ईसाकी पाँचवीं शताब्दीका चतुर्थ चरण भी जान पड़ता है । इसके सिवाय यह भी संभव है कि वराहमिहिरकी युवावस्थाका जो प्रारंभ काल हो वह क्षपणककी वृद्धावस्थाका समय हो, इसी लिये यहाँपर पाँचवीं शताब्दीको भी सिद्धसेनके अस्तित्वके लिये ग्रहण कर लिया गया है ।

सेनकी मान्यता है, दिगम्बरोंकी पट्टावली—गुरुपरम्पराओंमें[1][2] भी सिद्ध-सेनका नाम है, कितने ही दिगम्बर आचार्योंद्वारा[3] सिद्धसेन खास तौर पर स्तुति किये गये हैं और अपने ग्रन्थोंके साहित्य परसे भी वे खसू-सियतके साथ कोई श्वेताम्बर मालूम नहीं होते तब, वैसा लिखनेके लिये आप कुछ युक्तियोंका प्रयोग जरूर करते अथवा, इस विषयमें, दोनों ही सम्प्रदायोंकी मान्यताका उल्लेख करते; परंतु इन दोनों ही बातोंका वहाँ एकदम अभाव है, और इसी लिये हमारी उपर्युक्त राय है। रहा 'क्षपणक' शब्द, वह सामान्यरूपसे जैनसाधुका बोधक होने पर भी खास तौर पर श्वेताम्बर साधुका कोई द्योतक नहीं है; प्रत्युत इसके वह बहुत प्राचीन कालसे दिगम्बर साधुओंके लिये व्यवहृत होता आया है, हिन्दुओं तथा बौद्धोंके प्राचीन ग्रंथोंमें निर्ग्रंथ—दिगम्बर साधुओंके लिये उसका प्रयोग पाया जाता है और खुद श्वेताम्बर ग्रंथोंमें भी वह दिगम्बरोंके लिये प्रयुक्त हुआ है, जिसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

---

१ 'सेनगण' की पट्टावलीमें 'सिद्धसेन' का निम्न प्रकारसे उल्लेख पाया जाता है—

(स्वस्ति) श्रीमदुज्जयिनीमहीकालसंस्थापनमहाकाललिंगमहीधरवाग्वज्रदण्डविष्ट्याविष्कृतश्रीपार्श्वतीर्थेश्वरप्रतिद्वन्द्वश्रीसिद्धसेनभट्टारकाणां ।

—जैन सि० भा०, प्रथम किरण।

२ हरिवंशपुराणके कर्ता श्रीजिनसेनाचार्यने, अपनी गुरुपरम्पराका उल्लेख करते हुए उसमें, 'सिद्धसेन'का नाम भी दिया है। यथा—

'सुसिद्धसेनोऽभयभीमसेनकौ गुरू परौ तौ जिन-शांतिषेणकौ ।'

—हरिवंशपुराण ।

३ दिगम्बराचार्योंद्वारा की हुई स्तुतियोंके कुछ पद्य इस प्रकार हैं—

खोमाणराजकुलजोऽपिसमुद्रसूरि—
र्गच्छं शशास किल दप्रवणप्रमाण (?)।
जित्वा तदा क्षपणकान्स्ववशं वितेने
नागेंद्रदे (?) भुजगनाथनमस्य तीर्थे (?)॥

यह पद्य तपगच्छकी पट्टावलिमें, जो जैन श्वेताम्वर कान्फरेन्स हेरॅल्ड, जिल्द ११, अंक ७-१० में मुद्रित हुई है, समुद्रसूरिके वर्णनमें दिया है। इसमें जिन क्षपणकोंको जीतनेकी वात लिखी है

जगत्प्रसिद्धबोधस्य वृषभस्येव निस्तुषाः।
बोधयन्ति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः॥

—हरिवंशपुराणे, श्रीजिनसेनः।

कवयः सिद्धसेनाद्याः वयं तु कवयो मताः।
मणयः पद्मरागाद्याः ननु काचोऽपि मेचकः॥ ३२॥
प्रवादिकरियूथानां केशरी नयकेशरः।
सिद्धसेनकविर्जीयाद्विकल्पनखराङ्कुरः॥ ४२॥

—आदिपुराणे, भगवज्जिनसेनः।

सिद्धान्तोद्धवश्रीधवंसिद्धसेनं तर्काब्जार्कं भट्टपूर्वाकलंकं।
शब्दाब्धीन्दुं पूज्यपादं च वंदे तद्विद्याढ्यं वीरनन्दिं व्रतीन्द्रम्॥

नियमसारटीकायां, पद्मप्रभः।

सद्वावदातमहिमा सद्ध्यानपरायणः।
सिद्धसेनमुनिर्जीयात् भट्टारकपदेश्वरः॥

—रत्नमालायां, शिवकोटिः।

(ये 'शिवकोटि' समन्तभद्रस्वामीके शिष्य 'शिवकोटि' आचार्यसे भिन्न ।)

मदुक्तिकल्पलतिकां सिंचन्तः करुणामृतैः।
कवयः सिद्धसेनाद्या वर्द्धयन्तु हृदि स्थिताः॥

—यशोधरचरित्रे, कल्याणकीर्ति

उन्हें गुजराती परिचयमें 'दिगम्बर जती' प्रकट किया है । 'क्षपणकान्' पदसे अभिप्राय यहाँ दिगम्बर यतियोंका ही है, यह बात मुनिसुन्दर सूरिकी 'गुर्वावली' के निम्न पद्यसे और भी स्पष्ट हो जाती है, जिसमें इसी पद्यका अर्थ अथवा भाव दिया हुआ है और 'क्षपणकान्' की जगह साफ तौरसे 'दिग्वसनान्' पदका प्रयोग किया गया है—

खोमाणभूभृत्कुलजस्ततोऽभूत्
समुद्रसूरिः स्ववशं गुरुर्यः ।
चकार नागह्रदपार्श्वतीर्थं
विद्याम्बुधिर्दिग्वसनान्विजित्य ॥ ३९ ॥

इसी तरह पर 'प्रवचनपरीक्षा' आदि और भी श्वेताम्बर ग्रंथोंमें दिगम्बरोंको 'क्षपणक' लिखा है । अब एक उदाहरण दिगम्बर ग्रंथोंका भी लीजिये—

तरुणउ बूढउ रुयडउ सूरउ पंडिउ दिव्वु ।
खवणउ वंदउ सेवडउ मूढउ मण्णइ सव्वु ॥ ८३ ॥

यह योगीन्द्रदेवकृत 'परमात्मप्रकाश' का पद्य है। इसमें निश्चय नयकी दृष्टिसे यह बतलाया गया है कि 'वह मूढात्मा है जो (तरुण वृद्धादि अवस्थाओंके स्वरूपसे भिन्न होने पर भी विभाव परिणामोंके आश्रित होकर) यह मानता है, कि मैं तरुण हूँ, बूढा हूँ, रूपवान् हूँ, शूर हूँ, पंडित हूँ, दिव्य हूँ, क्षपणक (दिगम्बर) हूँ, वंदक (बौद्ध) हूँ, अथवा श्वेतपट (श्वेताम्बर) हूँ । यहाँ क्षपणक, वंदक और श्वेतपट, तीनोंका एक साथ उल्लेख होनेसे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि 'क्षपणक' शब्द दिगम्बरोंके लिये खास तौरसे व्यवहृत होता है ।

१ तरुणः वृद्धः रूपस्वी शूरः पंडितः दिव्यः ।
क्षपणकः वंदकः श्वेतपटः मूढः मन्यते सर्वम् ॥

इसके सिवाय श्वेताम्बराचार्य हेमचंद्र और दिगम्बराचार्य श्रीधरसेनने अपने अपने कोशग्रंथोंमें 'नग्न' शब्दका एक अर्थ 'क्षपणक' दिया है—

' नग्नो विवाससि मागधे च क्षपणके ' । (हेमचंद्रः)

' नग्नस्त्रिषु विवस्त्रे स्यात्पुंसि क्षपणवन्दिनोः । ' (श्रीधरसेनः)

और इससे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि ' क्षपणक ' शब्द जब किसी साधुके लिये प्रयुक्त किया जाता है तो उसका अभिप्राय ' नग्न ' अथवा दिगम्बर साधु होता है ।

' क्षपणक ' शब्दकी ऐसी हालत होते हुए, विक्रमादित्यकी सभाके ' क्षपणक ' रत्नको श्वेताम्बर बतलाना बहुत कुछ आपत्तिके योग्य जान पड़ता है, और संदेहसे खाली नहीं है ।

वास्तवमें सिद्धसेन दिगम्बर थे या श्वेताम्बर, यह एक जुदा ही विषय है और उसे हम एक स्वतंत्र लेखके द्वारा स्पष्ट कर देना चाहते हैं; अवसर मिलने पर उसके लिये जरूर यत्न किया जायगा ।

पूज्यपाद-समय ।

दूसरे विद्वानोंकी युक्तियोंकी आलोचनाके बाद, अब हम देखते हैं कि स्वामी समन्तभद्र कब हुए हैं । समन्तभद्र जैनेंद्रव्याकरण और सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रंथोंके कर्ता ' देवनन्दि ' अपरनाम ' पूज्यपाद ' आचार्यसे पहले हुए हैं, यह बात निर्विवाद है । श्रवणबेलगोलके शिलालेखमें भी समन्तभद्रको पूज्यपादसे पहलेका विद्वान् लिखा है । ४० वें शिलालेखमें समन्तभद्रके परिचय-पद्यके बाद ' ततः ' शब्द लिख-

---

१ टीकांशः—' खवणउ वंदउ सेवडउ' क्षपणको दिगम्बरोऽहं वंदको बौद्धोहं श्वेतपटादिलिंगधारकोहमिति मूढात्मा सर्वं मन्यत इति ।.........।—ब्रह्मदेवः ।

२ समन्तभद्रके परिचयका यह पद्य और १०८ वें शिलालेखका पद्य भी, दोनों, ' गुणादिपरिचय ' में उद्धृत किये जा चुके हैं ।

कर ' **यो देवनन्दिप्रथमाभिधानः** ' इत्यादि पद्योंके द्वारा पूज्यपादका परिचय दिया है, और १०८ वें शिलालेखमें समन्तभद्रके बाद पूज्यपादके परिचयका जो प्रथम[1] पद्य दिया है उसीमें ' **ततः** ' शब्दका प्रयोग किया है, और इस तरहपर पूज्यपादको समन्तभद्रके बादका विद्वान् सूचित किया है। इसके सिवाय, स्वयं पूज्यपादने, अपने ' जैनेन्द्र ' व्याकरणके निम्न सूत्रमें समन्तभद्रका उल्लेख किया है—

' **चतुष्टयं समन्तभद्रस्य** ।' ५–४–१४० ॥

इन सब उल्लेखोंसे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि समन्तभद्र पूज्यपादसे पहले हुए हैं। पूज्यपादने 'पाणिनीय' व्याकरण पर ' **शब्दावतार**[2] ' नामका न्यास लिखा था और आप गंगराजा 'दुर्विनीत' के शिक्षागुरु (Preceptor) थे; ऐसा ' हेव्बूर ' के ताम्रलेख, ' एपिग्रेफिया कर्णाटिका ' की कुछ जिल्दों, ' कर्णाटककविचरिते ' और ' हिस्टरी ऑफ कनडीज लिटरेचर'से पाया जाता है। साथ ही यह भी माल्रम होता है कि ' दुर्विनीत ' राजाका राज्यकाल ई० सन् ४८२ से ५२२ तक रहा है। इसलिये पूज्यपाद ईसवी सन् ४८२

१ पूज्यपादके परिचयके तीन पद्योंमें प्रथम पद्य इस प्रकार है—

श्रीपूज्यपादोद्धृतधर्म्मराज्यस्ततो सुराधीश्वरपूज्यपादः ।
यदीय-वैदुष्यगुणानिदानीं वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि ॥

२ पूज्यपाद द्वारा 'शब्दावतार' नामक न्यासके रचे जानेका हाल 'नगर' ताल्लुकेके ४६ वें शिलालेख (E. C. VIII,) के निम्न वाक्यसे भी पाया जाता है—

न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो—
न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा ।
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह तां भात्यसौ पूज्यपाद—
स्वामी भूपालवंद्यः स्वपरहितवचः पूर्णदृग्बोधवृत्तः ॥

से भी कुछ पहलेके विद्वान् थे, यह स्पष्ट है। डॉक्टर बूल्हरने[1] जो आपको ईसाकी पाँचवीं शताब्दीका विद्वान् लिखा है वह ठीक ही है। पूज्यपादके एक शिष्य 'वज्रनन्दी' ने वि० सं० ५२६ (ई० स० ४७०) में 'द्राविड' संघकी स्थापना की थी, जिसका उल्लेख देवसेनके 'दर्शनसार'[2] ग्रंथमें मिलता है * और इससे यह माल्म होता है कि पूज्यपाद 'दुर्विनीत' राजाके पिता 'अविनीत[3] के राज्यकालमें भी मौजूद थे, जो ई० सन् ४३० से प्रारंभ होकर ४८२ तक पाया जाता है। साथ ही, यह भी माल्म पड़ता है कि द्राविड़ संघकी स्थापना जब पूज्यपादके एक शिष्यके द्वारा हुई है तब उसकी स्थापनाके समय पूज्यपादकी अवस्था अधिक नहीं तो ४० वर्षके करीब जरूर होगी और उन्होंने अपने ग्रंथोंकी रचनाका कार्य ई० सन् ४५० के करीब प्रारंभ किया होगा। ऐसी हालतमें, समन्तभद्र प्रायः ई० सन् ४५० से पहले हुए हैं, यह कहनेमें कुछ भी संकोच नहीं होता। परंतु कितने पहले हुए हैं, यह बात अभी विचारणीय है। इस प्रश्नका समुचित और यथार्थ एक उत्तर देनेमें बड़ी ही कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। यथेष्ट साधनसामग्रीकी कमी यहाँपर बहुत ही खलती है। और इसलिये, यद्यपि, इस विषयका कोई निश्चयात्मक एक

---

१ Ind. Ant., XIV, 355.

२ यह ग्रंथ वि० सं० ९९० का बना हुआ है।

*—सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महा सत्तो ॥ २४ ॥
पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो ॥ २८ ॥

३ अविनीत राजाका एक ताम्रलेख शक सं० ३८८ (ई० सन् ४६६) का लिखा हुआ पाया जाता है जिसे मर्करा प्लेट नं० १ कहते हैं।

उत्तर अभी नहीं दिया जा सकता, फिर भी विचार करते हुए इस सम्बधमें जो जो घटनाएँ सामने उपस्थित हुई हैं और उनसे जिस जिस समयका, जिस प्रकारसे अथवा जो कुछ बोध होता है उस सबको पाठकोंके सामने रख देना ही उचित माऌम देता है, जिससे पाठकजन वस्तुस्थितिको समझकर विशेष अनुसंधानद्वारा ठीक समयको माऌम करनेमें समर्थ हो सकें, अथवा लेखकको ही विशेष निर्णयके लिये कोई खास सूचना दे सकें ।

उमास्वाति-समय ।

(क) श्रवणबेल्गोलके शिलालेखपरसे समन्तभद्रका परिचय देते हुए, यह बात पहले जाहिर की जा चुकी है कि समन्तभद्र 'उमास्वाति' आचार्य और उनके शिष्य 'बलाकपिच्छ' के बाद हुए हैं। यदि उमास्वातिका या उनके शिष्यका निश्चित समय माऌम होता तो उस परसे समन्तभद्रका आसन्न समय आसानीसे बतलाया जा सकता था, अथवा इतना तो सहजहीमें कहा जा सकता था कि समन्तभद्र उस समयके बाद और ई० सन् ४५० के पहले—दोनोंके मध्यवर्ती किसी समयमें—हुए हैं। परन्तु उमास्वातिका समय अभीतक पूरी तौरसे निश्चित नहीं हो सका—उसकी भी हालत प्रायः समन्तभद्रके समय जैसी ही है और इस लिये उमास्वातिके संदिग्ध समयके आधार पर समन्तभद्रके यथार्थ समयकी बाबत कोई जँची तुली बात नहीं कही जा सकती।

(ख) नन्दिसंघकी पट्टावलीमें, उमास्वातिके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होनेका समय वि० सं० १०१ दिया है। साथ ही, यह भी लिखा है कि वे ४० वर्ष ८ महीने आचार्य पद पर रहे, उनकी आयु ८४ वर्षकी थी और सं० १४२ में उनके पट्टपर लोहाचार्य

द्वितीय प्रतिष्ठित हुए । श्रवणवेल्गोलके कितने ही शिलालेखोंमें उमास्वातिके प्रधान शिष्य रूपसे 'वलाकपिच्छ'का ही नाम दिया है, वलाकपिच्छकी शिष्यपरम्पराका भी उल्लेख किया है और यहाँपर उसकी जगह लोहाचार्यका नाम पाया जाता है। इसकी वाबत, यद्यपि, यह कहा जा सकता है कि वलाकपिच्छ लोहाचार्यका ही नामान्तर होगा,—जैसे उमास्वातिका नामान्तर 'गृध्रपिच्छ'—अथवा लोहाचार्य उमास्वातिके कोई दूसरे ही शिष्य होंगे परंतु फिर भी इस पट्टावलीपर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता। इसमें प्राचीन आचार्योंका समय और क्रम वहुत कुछ गड़वड़में पाया जाता है। उदाहरणके लिये पूज्यपाद (देवनन्दी) के समयको ही लीजिये, पट्टावलीमें वह वि० सं० २५८ से ३०८ तक दिया है। दूसरे शव्दोंमें यों कहना चाहिये कि पट्टावलीमें पूज्यपादके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होनेका समय ई० सन् २०० के करीव वतलाया है; परन्तु इतिहाससे जैसा कि ऊपर जाहिर किया गया है, वह ४५० के करीव पाया जाता है, और इस लिये दोनोंमें करीव अढ़ाईसौ (२५०) वर्षका भारी अन्तर है। इतिहासमें पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दिका उल्लेख मिलता है और यह भी उल्लेख मिलता है कि उन्होंने वि० सं० ५२६ में 'द्राविड' संघकी स्थापना की, परन्तु पट्टावलीमें पूज्यपादके वाद दो आचार्यों (जयनन्दी और गुणनन्दी) का उल्लेख करके चौथे (१३) नम्बर पर वज्रनन्दीका नाम दिया है और साथ

---

१ देखो, शिलालेख नं० ४०, ४२, ४३, ४७, ५०, १०५ और १०८।

२ यह असली नाम मालूम भी नहीं होता; जान पड़ता है वलाक (वक, सारस) की पीछी रखनेके कारण इनका यह नाम प्रसिद्ध हुआ है। इनके गुरु गृध्रकी पीछी रखते थे। इससे मयूरकी पीछीका उस समय कोई खास आग्रह मालूम नहीं पड़ता।

हीं उनका समय भी वि० सं० ३६४ से ३८६ तक बतलाया है । क्रम-भेदके साथ साथ इन दोनों समयोंमें भी परस्पर बहुत बड़ा अन्तर जान पड़ता है । इतिहाससे वसुनन्दीका समय विक्रमकी १२ वीं शताब्दी माळूम होता है परन्तु पट्टावलीमें ६ ठी शताब्दी (५२५–५३१) दिया है। इस तरह जाँच करनेसे बहुतसे आचार्योंका समयादिक इस पट्टावलीमें गलत पाया जाता है, जिसे विस्तारके साथ दिखलाकर यहाँ इस निबन्धको तूल देनेकी जरूरत नहीं है । ऐसी हालतमें पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि यह पट्टावली कितनी संदिग्धावस्थामें है और केवल इसीके आधार पर किसीके समयादिकका निर्णय कैसे किया जा सकता है । प्रोफेसर हर्नल[1], डाक्टर पिटर्सन[2] और डा० सतीशचंद्र[3]ने इस पट्टावलीके आधार पर ही उमास्वातिको ईसाकी पहली शताब्दीका विद्वान् लिखा है और उससे यह माळूम होता है कि उन्होंने इस पट्टावलीकी कोई विशेष जाँच नहीं की—वैसे ही उसके रंग-ढंगपरसे उसे ठीक मान लिया है । अस्तु; यदि पट्टावलीमें दिया हुआ उमास्वातिका समय ठीक हो तो समन्तभद्रका अस्तित्व-समय उससे प्रायः ४० वर्षके फासले पर अनुमान किया जा सकता है—यह ४० वर्षका अन्तर एकके समयारंभसे दूसरेके समयारंभ तक अथवा एककी समय-समाप्तिसे दूसरेकी समय-समाप्ति तक भी हो सकता है—और तब डा० भाण्डार-

---

१. Ind. ant., XX, P. 341, 351.

२. Peterson's fourth report on Sanskrit manuscripts P. XVI.

३. History of the Mediaeval school of Indian Logic, P. 8, 9.

करकी रिपोर्टमें समन्तभद्रका समय जो शक सं० ६० (वि० सं० १९५) के करीब बतलाया गया है अथवा आम तौर पर विक्रमकी दूसरी शताब्दी माना जाता है उसे भी ठीक कहा जा सकता है।

(ग) ' विद्वज्जनबोधक ' में निम्न श्लोकको उमास्वाति (उमास्वामी) के समयवर्णनका प्रसिद्ध श्लोक लिखा है और उसके द्वारा यह सूचित किया है कि उमास्वाति आचार्य वीरनिर्वाणसे ७७० वर्ष बाद हुए हैं अथवा ७७० वर्ष तक उनके समयकी मर्यादा है—

वर्षे सप्तशते चैव सप्तत्या च विस्मृतौ ।
उमास्वामिमुनिर्जातः कुन्दकुन्दस्तथैव च ॥

यदि इस समय जो वीरनिर्वाणसंवत् (२४५१) प्रचलित है उसे ठीक मान लिया जाय तो इस श्लोकके आधार पर उमास्वातिका समय वि० सं० ३०० या ३०० तक होता है और वह पट्टावलीके समयसे डेढ़सौ वर्षसे भी अधिक पीछे पड़ता है। इस समयको ठीक मान लेने पर समन्तभद्र वि० सं० ३४० (ई० सन् २८३) या ३४० तकके करीबके विद्वान् ठहरते हैं।

वीरनिर्वाण, विक्रम और शक संवत् ।

परन्तु वीरनिर्वाण संवत्का अभीतक कोई ठीक निश्चय नहीं हुआ। इस संवत्से विक्रम संवत्का जो ४७० वर्ष (४६९ वर्ष ५ महीने) बाद प्रचलित होना माना जाता है उसकी बाबत कुछ विद्वानोंका कहना है कि वह ठीक नहीं है; क्योंकि वीरनिर्वाणसे

१ हस्तलिखित संस्कृत ग्रंथोंके अनुसंधान–विषयक सन् १८८३–८४ की रिपोर्ट ।

२ इस पिछले अर्थकी संभावना अधिक प्रतीत होती है। कुन्दकुन्दका बादमें उल्लेख भी उसे पुष्ट करता है।

३ मालूम नहीं यह पद्य विद्वज्जनबोधकमें कहाँसे उद्धृत किया गया है और कौनसे ग्रंथका है।

४७० वर्ष वाद विक्रम राजाका जन्म हुआ है—न कि उसका सम्वत् प्रचलित हुआ, और इसके लिये वे नन्दिसंघकी दूसरी[1] प्राकृत पट्टावलीका निम्न वाक्य पेश करते हैं—

सत्तरि[2] चदुसदजुत्तो तिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो ।
अठवरस वाललीला सोडसवासेहि भम्मिए देसे ॥१८॥

उनके विचारसे विक्रमकी १८ वर्षकी अवस्था हो जाने पर, वीर-निर्वाणसे ४८८ वर्ष ५ महीने वाद, विक्रम संवत् प्रारम्भ हुआ है, और यह विक्रमके राज्यकालका सम्वत् है । श्रीयुत वावू काशीप्रसादजी जायसवाल, वार-ऐट-ला, पटना, तथा मास्टर विहारीलालजी वुलन्द-शहरी इसी मतको पुष्ट करते हैं और डा० हर्मन जैकोवीका भी अव ऐसा ही मत माल्रूम होता है* । नन्दिसंघकी पट्टावलीमें भी

१ यह पट्टावली जैनसिद्धान्तभास्करकी ४ थी किरणमें भी मुद्रित हुई है ।

२ यह गाथा 'विक्रम-प्रवन्ध' में भी पाई जाती है, (जै० सि० भा०, किरण ४ थी, पृ० ७५ ।)

*यह वात डा० हर्मन जॅकोवीके एक पत्रके निम्न अंशसे माल्रुम होती है जो उन्होंने 'भगवान महावीर' नामक पुस्तककी पहुँच देते हुए, हालमें लिखा है और जिसके इस अंशको वा० कामताप्रसादजीने 'वीर' के दिसम्वर सन् १९२४ के अंकमें मुद्रित किया है—

In the 32nd chapter you show that according to Digambara tradition, the Nirvâna of Mahâvira took place 470 before Vikrama. Now I found in Gurvavali from Jaipur that Vikrama's birth occurred 470 years after Mahavira's Nirvana सत्तरि चदुसदजुत्तो तिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो. But the Vikrama era does not date from the जन्म of Vikrama, but from the राज्य of Vikrama, or from the 18 th year after his birth. By this reckoning the Nirvana should be placed 18 years earlier or 545 B. C.

आचार्योंके पट्टारोहणके जो सम्वत् दिये हैं उनकी गणना विक्रमके राज्याभिषेक समयसे ही की गई है;* अन्यथा, उक्त पट्टावलीमें भद्रबाहु द्वितीयके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होनेका जो समय वि० सं० ४ दिया है वह नंदिसंघकी दूसरी प्राकृतपट्टावलीके विरुद्ध पड़ता है; क्योंकि उस पट्टावलीमें भद्रबाहु (द्वितीय) का वीरनिर्वाणसे ४९२ वर्ष वाद होनेका उल्लेख किया है और यह समय विक्रमके जन्मसे २२ वर्ष वाद बैठता है। पट्टावलीमें सं० २२ न देकर ४ का दिया जाना इस बातको साफ वतलाता है कि वह विक्रमके राज्यकालका संवत् है और उसके जन्मसे १८ वर्षके वाद प्रारंभ हुआ है। अस्तु; यदि प्रचलित विक्रम संवत्को विक्रमके जन्मका संवत् न मानकर राज्यका संवत् मानना ही ठीक हो और साथ ही यह भी माना जाय कि विक्रमका जन्म वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष वाद हुआ है तो आजकल जो वीरनिर्वाण सं० २४५१ बीत रहा है उसे २४७० मानना पड़ेगा; उमास्वातिका समय तव, उक्त पद्यके आधार पर, वि० सं० २८१ या २८१ तक ठहरेगा, और तदनुसार समन्तभद्रका समय भी १८ वर्ष और पहले (ई० सन् २६५ या २६५ तकके करीब) हो जायगा।

विक्रमसंवत्के सम्बंधमें एक मत और भी है और वह प्रचलित संवत्को विक्रमकी मृत्युका संवत् प्रतिपादन करता है। इस मतके प्रधान पोषक हमारे मित्र पं० नाथूरामजी प्रेमी हैं। आपने, 'दर्शनसार' की विवेचनामें, अपने इस मतका बहुत स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख किया है और साथ ही कुछ प्रमाणवाक्योंके द्वारा उसे पुष्ट करनेका भी यत्न

* देखो 'जैनसिद्धान्तभास्कर' किरण ४ थी, पृष्ठ ७८।

किया है *। दर्शनसारकी कई गाथाओंमें, कुछ संघोंके उत्पत्ति-समयका निर्देश करते हुए, '**विक्रमरायस्स मरणपत्तस्स**' शब्दोंका प्रयोग किया गया है। इसपरसे प्रेमीजीको यह खयाल पैदा हुआ कि इस ग्रंथमें जो कालगणना की है वह क्या खास तौरपर विक्रमकी मृत्युसे की गई है अथवा प्रचलित विक्रम संवत्का ही उसमें उल्लेख है और वह विक्रमकी मृत्युका संवत् है। खोज करनेपर आपको अमितगति आचार्यका निम्नवाक्य उपलब्ध हुआ और उसपरसे प्रचलित विक्रम संवत्को मृत्यु संवत् माननेके लिये आपको एक आधार मिल गया——

> **समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे**
> **सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पंचाशदधिके।**
> **समाप्तं पंचम्यामवति धरिणीं मुंजनृपतौ**
> **सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम्॥**

यह 'सुभाषितरत्नसंदोह'का पद्य है। इसमें स्पष्ट रूपसे लिखा है कि विक्रम राजाके स्वर्गारोहणके बाद जब १०५० वाँ वर्ष (सम्वत्) बीत रहा था और राजा मुंज पृथ्वीका पालन कर रहा था उस समय पौष शुक्ल पंचमीके दिन यह शास्त्र समाप्त किया गया है। अमितग-

---

* यथा——"बहुतोंका खयाल है कि वर्तमानमें जो विक्रमसंवत् प्रचलित है वह विक्रमके जन्मसे या राज्याभिषेकसे शुरू हुआ है; परन्तु हमारी समझमें यह मृत्युका ही संवत् है। इसके लिये एक प्रमाण लीजिये।"

१ देखो गाथा नं० ११, २८ और ३८ जिनके प्रथम चरण क्रमशः 'छत्तीसे वरिससए' 'पंचसए छब्बीसे,' 'सत्तसए तेवण्णे' हैं और द्वितीय चरण सबका वही 'विक्रमरायस्स मरणपत्तस्स' दिया है। और इन गाथाओंमें क्रमशः श्वेताम्बर, द्राविड तथा काष्ठासंघोंकी उत्पत्तिका समय निर्देश किया है।

तिने अपने दूसरे ग्रंथ 'धर्मपरीक्षा'की समाप्तिका समय इस प्रकार दिया है—

संवत्सराणां विगते सहस्रे ससप्ततौ विक्रमपार्थिवस्य।
इदं निषिध्यान्यमतं समाप्तं जैनेन्द्रधर्मामितयुक्तिशास्त्रं॥

इस पद्यमें, यद्यपि, विक्रमसंवत् १०७० में ग्रंथकी समाप्तिका उल्लेख है और उसे स्वर्गारोहण अथवा मृत्युका संवत् ऐसा कुछ नाम नहीं दिया; फिर भी इस पद्यको पहले पद्यकी रोशनीमें पढ़नेसे इस विषयमें कोई संदेह नहीं रहता कि अमितगति आचार्यने प्रचलित विक्रम संवत्का ही अपने ग्रंथोंमें प्रयोग किया है और वे उसे विक्रमकी मृत्युका संवत् मानते थे—संवत्के साथमें विक्रमकी मृत्युका उल्लेख किया जाना अथवा न किया जाना एक ही बात थी, उससे कोई भेद नहीं पड़ता था। पहले पद्यमें मुंजके राज्यकालका उल्लेख इस विषयका और भी खास तौरसे समर्थक है; क्योंकि इतिहाससे प्रचलित वि० सं० १०५० में मुंजका राज्यासीन होना पाया जाता है। और इस लिये यह नहीं कहा जा सकता कि अमितगतिने प्रचलित विक्रम संवत्से भिन्न किसी दूसरे ही विक्रम संवतका उल्लेख अपने उक्त पद्योंमें किया है। ऐसा कहने पर मृत्यु सं० १०५० के समय जन्मसं० ११३० अथवा राज्यसं० १११२ का प्रचलित होना ठहरता है और उस वक्त तक मुंजके जीवित रहनेका इतिहासमें कोई प्रमाण नहीं मिलता। मुंजके उत्तराधिकारी राजा भोजका भी वि० सं० १११२ से पूर्व ही देहावसान होना पाया जाता है।

यद्यपि, विक्रमकी मृत्युके बाद प्रजाके द्वारा उसका मृत्युसंवत् प्रचलित किये जानेकी बात जीको कुछ कम लगती है, और यह हो सकता है कि अमितगति आदिको उसे मृत्युसंवत् समझनेमें कुछ

गलती हुई हो, फिर भी ऊपरके उल्लेखोंसे इतना तो स्पष्ट है कि प्रेमी-जीका यह मत नया नहीं है—आजसे हजार वर्ष पहले भी उस मत-के माननेवाले मौजूद थे और उनमें **देवसेन** तथा **अमितगति** जैस आचार्य भी शामिल थे * । यदि यही मत ठीक हो और वीरनिर्वाण-से ४७० वर्ष वाद विक्रमका शरीरतः जन्म होना भी ठीक हो तो यह मानना पड़ेगा कि विक्रम सवंत् वीरनिर्वाणसे प्रायः ५५० (४७०+८०) वर्ष वाद प्रारंभ हुआ है आर वीर निवार्णको हुए आज प्रायः २५३१ (५५०+१९८१) वर्ष वीत गये हैं; क्योंकि विक्रमकी आयु ८० वर्षके करीव वतलाई जाती है। ऐसी हालतमें उमास्वातिका समय उक्त पद्य परसे वि० सं० २२० या २२० तक निकलता है, और तव समन्तभद्र भी विक्रमकी तीसरी शताव्दीके या ईसाकी दूसरी और तीसरी शताव्दीके विद्वान् ठहरते हैं ।

इस तरह विक्रम संवत्के जन्म, राज्य और मृत्यु ऐसे तीन विकल्प होनेसे वीरनिर्वाणसंवत्के भी तीन विकल्प हो जाते हैं, और उसक आधार पर निर्णय होनेवाले आचार्योंके समयमें भी अन्तर पड़ जाता है ।

जॉर्ल चारपेंटियर नामके एक विद्वानने, जून, जुलाई और अगस्त सन् १९१४ के इंडियन 'एण्टिक्वेरी' के अंकोंमें, एक विस्तृत लेख[1]के

---

* देवसेन आचार्यने अपने ' भावसंग्रह ' में भी विक्रमके मृत्युसंवतका उल्लेख किया है और पं० वामदेवके भावसंग्रहमें भी उसका उल्लेख निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

सषट्त्रिंशे शतेऽब्दानां मृते विक्रमराजनि ।
सौराष्ट्रे वल्लभीपुर्यामभूत्तत्कथ्यते मया ॥ १८८ ॥

१ यह लेख और इसके खंडनवाला लेख दोनों अभी तक हमें देखनेको नहीं मिल सके ।

द्वारा यह प्रतिपादन किया है कि महावीरका निर्वाण विक्रमसंवत्से ४७० वर्ष पहले नहीं किन्तु ४१० वर्ष पहले हुआ है और इसलिये प्रचलित वीरनिर्वाणसंवत्मेंसे ६० वर्ष कम करने चाहियें। आपकी रायमें महावीरनिर्वाणसे ४७० वर्षबाद विक्रम नामके किसी राजाका अस्तित्व ही इतिहासमें नहीं मिलता। आपकी युक्तियोंका यद्यपि मिस्टर के० पी० जायसवालने खंडन किया है, ऐसा जैनसाहित्यसंशोधक, प्रथमखंडके ४ थे अंकसे माळूम होता है, फिर भी यह विषय अभी तक विवादग्रस्त चला जाता है।

वीरनिर्वाणका विषय आजकल ही कुछ विवादग्रस्त हुआ हो सो नहीं, बल्कि आजसे प्रायः १५०० वर्ष पहले भी, अथवा उससे भी कुछ वर्ष पूर्व, वह विवाद-ग्रस्त था, ऐसा जान पड़ता है। यही वजह है जो 'तिलोयपण्णत्ति' (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) नामक प्राकृत ग्रंथमें इस विषयके चार विभिन्न मतोंका उल्लेख किया गया है*। यथा—

वीरजिणं सिद्धिगदे चउसद-इगसट्ठिवासपरिमाणो।
कालंमि अदिक्कंते उप्पण्णो एत्थ सगराओ॥ ८६॥
अह वा वीरे सिद्धे सहस्सणवकंमि सगसयब्भहिये।
पणसीदिंमि यतीदे पणमासे सगणिओ जादो॥ ८७॥
चोद्दस सहस्स सगसय ते-णउदी-वासकालविच्छेदे।
वीरेसरसिद्धीदो उप्पण्णो सगणिओ अह वा॥ ८८॥
णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु।
पणमासेसु गदेसुं संजादो सगणिओ अहवा॥ ८९॥

अर्थात्—वीर जिनेन्द्रकी सिद्धिपदप्राप्तिके बाद जब ४६१ वर्ष बीत गये तब यहाँ पर शक नामक राजा उत्पन्न हुआ। अथवा वीर

* देखो जैनहितैषी, भाग १३, अंक १२, पृष्ठ ५३३।

भगवानके सिद्ध होनेके बाद ९७८५ वर्ष ५ महीने बीतने पर शक राजा हुआ । अथवा वीरेश्वरकी मुक्तिसे १४७९३ वर्षके अन्तरसे शक राजा उत्पन्न हुआ । अथवा वीरजिनेन्द्रकी निर्वाण-प्राप्तिको जब ६०५ वर्ष ५ महीने हो गये तब शक राजा हुआ ।

इस कथनसे स्पष्ट है कि उस वक्त वीरनिर्वाणका होना एक मत तो शक राजासे ४६१ वर्ष पहले, दूसरा ९७८५ वर्ष ५ महीने पहले, तीसरा १४७९३ वर्ष पहले और चौथा ६०५ वर्ष ५ महीने पहले मानता था । इन चारों मतोंमें पहला मत नया है—उन मतोंसे भिन्न है जिनका इससे पहले उल्लेख किया गया है—और वही त्रिलोकप्रज्ञप्तिके कर्त्ताको इष्ट जान पड़ता है । यदि यही मत ठीक हो तो कहना चाहिये कि विक्रम राजा वीरनिर्वाणसे ३२६(४६१—१३५) वर्ष बाद हुआ है, न कि ४७० वर्ष बाद, और इस समय वीरनिर्वाणसंवत् २३०७ बीत रहा है । साथ ही, यह भी कहना चाहिये कि उमास्वातिका समय उक्त पद्यके आधारपर वि० सं० ४४४ (७७०—३२६) या ४४४ तक होता है और समन्तभद्रका समय भी तब विक्रमकी ५ वीं शताब्दीका प्रायः अन्तिम भाग ठहरता है; अथवा यों कहिये कि वह पूज्यपादके समयके इतना निकट पहुँच जाता है कि पूज्यपादको अपने प्रारंभिक मुनि-जीवनमें समन्तभद्रके सत्समागमसे लाभ उठानेकी बहुत कुछ संभावना रहती है ।

दूसरा और तीसरा दोनों मत एकदम नये ही नहीं, बल्कि इतने अद्भुत और विलक्षण मालूम होते हैं कि आजकल उनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती । मालूम नहीं ये दोनों मत किस आधारपर अवलम्बित हैं और उनका क्या रहस्य है । इनके रहस्यको शायद कोई महान् शास्त्री ही जैनग्रंथोंके बहुत गहरे अध्ययनके बाद उद्घाटन कर सके ।

उस रहस्यके उद्घाटित होनेपर जैनशास्त्रोंकी बहुतसी लम्बी चौड़ी कालगणनापर अच्छा प्रकाश पड़ सकता है, इसमें जरा भी संदेह नहीं है।

रहा चौथा मत, वह वही है जो आजकल प्रचलित है और जिसके अनुसार इस समय वीरनिर्वाण संवत् २४५१ माना जाता है। त्रिलोकसारकी निम्न गाथामें भी इसी मतका उल्लेख है—

पणछस्सयवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो[1]।
सगराजो तो कक्की चदुनवतियमहियसगमासं ॥ ८५० ॥

इस मतके विषयमें यद्यपि, यह बात अभी निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती कि इसके अनुसार वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद शक राजाका देह-जन्म माना गया है या राज्यजन्म अथवा उसके राज्यकालकी समाप्ति ही उससे अभिप्रेत है; फिर भी इतना जरूर कहा जा सकता है कि यदि शक राजाका राज्यकाल वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष बाद प्रारंभ हुआ है तो राजा विक्रमका राज्यकाल भी वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद प्रारंभ हुआ है—४८८ वर्ष बाद नहीं;—क्योंकि दोनोंके राज्यकालमें अथवा सम्वतोंमें १३५ वर्षका अन्तर प्रसिद्ध है, जो ४८८ वर्ष बाद विक्रमराज्यका प्रारंभ होना मानने पर नहीं बन सकता। और इस लिये प्राकृत पट्टावली आदिमें जो वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका जन्म होना लिखा है वह उसका राजारूपसे जन्म होना हो सकता है—देहरूपसे नहीं। देहरूपसे जन्म होना तभी समझा जा सकता है जब कि शक संवत्का प्रारंभ भी शक राजाके जन्मसे माना गया हो।

---

1 इस गाथामें वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद शक राजाका और शकसे ३९४ वर्ष ७ महीने बाद कल्किका होना बतलाया गया है।

एक वात और भी यहाँ प्रकट कर देने योग्य है, और वह यह कि त्रिलोकसारकी उक्त गाथामें 'सगराजो'के वाद 'तो' शब्दका प्रयोग किया गया है जो 'ततः' (तत्पश्चात्) का वाचक है—माधवचंद्र त्रैविद्यदेवविरचित संस्कृतटीकामें भी उसका अर्थ 'ततः' ही किया गया है—और उससे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि शक राजाकी सत्ता न रहने पर अथवा उसकी मृत्युसे ३९४ वर्ष ७ महीने वाद कल्कि राजा हुआ; और चूंकि त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदि ग्रंथोंसे कल्किकी मृत्युका वीरनिर्वाणसे एक हजार वर्ष वाद होना पाया जाता है * इस लिये उक्त ३९४ वर्ष ७ महीनेमें कल्किका राज्यकाल भी शामिल है, जो त्रिलोकप्रज्ञप्तिके अनुसार ४२ वर्ष परिमाण कहा जाता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि इस गाथामें शक और कल्किका जो समय दिया है वह अलग अलग उनके राज्यकालकी समाप्तिका सूचक है। और इस लिये यह नहीं कहा जा सकता है कि शक राजाका राज्यकाल वीर निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने वाद प्रारंभ हुआ और उसकी समाप्तिके वाद ३९४ वर्ष ७ महीने वीतनेपर कल्किका राज्यारंभ हुआ। ऐसा कहने पर कल्किका अस्तित्वसमय वीरनिर्वाणसे एक हजार वर्षके भीतर न रहकर ११०० वर्षके करीब हो जाता है और उससे एक हजारकी नियत संख्यामें वाधा आती है। अस्तु। वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने पर शक राजाके राज्यकालकी समाप्ति मान लेनेपर यह स्वतः मानना पड़ता है कि विक्रम राजाका राज्यकाल भी वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष-के अनन्तर ही समाप्त हो गया था, और इस लिये वीरनिर्वाणसे ४७०

* देखो जैनहितैषी भाग १३, अंक १२ में ' लोकविभाग और त्रिलोक-प्रज्ञप्ति ' नामका लेख।

वर्ष बाद विक्रम राजाका जन्म होनेकी जो बात कही जाती है वह ठीक नहीं बैठती, अथवा यह कहना पड़ता है कि दोनोंके समयोंमें जो १३५ वर्षका अन्तर माना जाता है वही ठीक नहीं है। ऐसी हालतमें, विक्रमसंवत्को विक्रमका मृत्यु-संवत् न मानकर यदि यह माना जाय कि वह विक्रमकी १८ या २० वर्षकी अवस्थामें उसके राज्याभिषेक समयसे प्रारंभ हुआ है तो, ४७० मेंसे विक्रमके राज्यकाल (६६—६२ वर्षों) को घटाकर यह कहना होगा कि वह वीरनिर्वाणसे प्रायः ४०८ अथवा जार्ल चार्पेंटियरके कथनानुसार, ४१० वर्ष बाद प्रारंभ हुआ है। साथ ही, यह भी कहना होगा कि इस समय वीरनिर्वाण संवत् २३८९ या २३९१ बीत रहा है; और इस लिये उमास्वातिका समय, उक्त पद्यके आधार पर, वि० सं० ३६० या ३६२ होना चाहिये अथवा इनमेंसे किसी संवत्को ही उनके समयकी अन्तिम मर्यादा कहना चाहिये, और तदनुसार समन्तभद्रका समय भी वि० सं० ४०० या ४०० तकके करीब बतलाना चाहिये।

इस सब कथनसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि वीरनिर्वाण संवत्का विषय और विक्रम तथा शक संवतोंके साथ उसका सम्बंध कितनी अधिक गड़बड़ तथा अनिश्चितावस्थामें पाया जाता है, और इसलिये, उसके आधारपर—उसकी गुत्थीको सुलझाये बिना उसकी किसी एक बातको लेकर—किसीके समयका निर्णय कर बैठना कहाँ तक युक्तियुक्त और निरापद हो सकता है। इसमें संदेह नहीं कि वीर-निर्वाण-काल जैसे विषयका अभी तक अनिश्चित रहना जैनियोंके लिये एक बड़े ही कलंक तथा लज्जाकी बात है, और इसलिये जितना शीघ्र बन सके विद्वानोंको उसे पूरी तौर पर निश्चित कर डालना चाहिये। परंतु यह सब काम अधिक परिश्रम और समय-साध्य होनेके साथ

साथ प्रचुर अथवा यथेष्ट साधनसामग्रीके सामने मौजूद होनेकी खास अपेक्षा रखता है, जिसका इस समय अभाव है, और इसी लिये इस प्रबंधमें हम उसका कोई ठीक निर्णय नहीं कर सके। अवसरादिक मिलने पर उसके लिये जुदा ही प्रयत्न किया जायगा।

कुन्दकुन्द-समय।

(घ) ऊपर—'ग' भागमें—उमास्वातिका समय-सूचक जो पद्य 'विद्वज्जनबोधक'से उद्धृत किया गया है उसमें कुन्दकुन्दाचार्यको भी उसी समयका विद्वान् बतलाया है जिसका उमास्वाति मुनिको, और इस तरह पर दोनोंको समकालीन विद्वान् सूचित किया है। परंतु इस पद्यके अनुसार दोनोंको समकालीन मान लेने पर भी इनमें वृद्धत्वका मान कुन्दकुन्दाचार्यको प्राप्त था, इसमें संदेह नहीं है। नान्दिसंघकी पट्टावलीमें तो कुन्दकुन्दके अनन्तर ही उमास्वातिका आचार्य-पदपर प्रतिष्ठित होना लिखा है और उससे ऐसा माळूम पड़ता है मानो उमास्वाति कुन्दकुन्दके शिष्य ही थे। परन्तु श्रवणबेलगोलके शिलालेखमें उमास्वातिका कुन्दकुन्दसे ठीक बादमें उल्लेख करते हुए भी उन्हें कुन्दकुन्दका शिष्य सूचित नहीं किया, बल्कि '**तदन्वये**' और '**तदीयवंशे**' शब्दोंके द्वारा कुंदकुंदका 'वंशज' प्रकट किया है *। फिर भी यह वंशजत्व कुछ दूरवर्ती माळूम नहीं होता। हो सकता है

---

* श्रवणबेलगोलके शिलालेखों—नं० ४०, ४२, ४३, ४७ और ५० में—'तदन्वये' पदको लिये हुए यह श्लोक पाया जाता है—

> अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छः।
> तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी ॥

और १०८ वें शिलालेखका पद्य निम्न प्रकार है—

> अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
> सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन ॥

कि उमास्वाति कुन्दकुन्दके शिष्य न होकर प्रशिष्य रहे हों और इसीसे ' तदन्वये ' आदि पदोंके प्रयोगकी जरूरत पड़ी हो। इस तरह भी दोनों कितने ही अंशोंमें समकालीन हो सकते हैं और उमास्वातिके समयकी समाप्तिको प्रकारान्तरसे कुन्दकुन्दके समयकी समाप्ति भी कहा जा सकता है। शायद यही वजह हो जो उक्त पद्यमें उमास्वातिका समय बतलाकर पीछेसे ' कुन्दकुन्दस्तथैव च ' शब्दोंके द्वारा यह सूचित किया गया है कि कुन्दकुन्दका भी यही समय है, अर्थात् कुन्दकुन्द भी इसी समयके भीतर हो गये हैं। अस्तु, उक्त पट्टावलीमें उमास्वातिकी आयु ८४ वर्ष दी है और साथ ही यह सूचित किया है कि वे ४० वर्ष ८ महीने आचार्यपद पर प्रतिष्ठित रहे। यदि यह उल्लेख ठीक हो तो कहना चाहिये कि उमास्वाति प्रायः ४३ वर्ष कुन्दकुन्दके समकालीन रहे हैं। ऐसी हालतमें यदि कुन्दकुन्दका ही निश्चित समय माऌम हो जाय तो उसपरसे भी समन्तभद्रके आसन्न समयका बहुत कुछ यथार्थ बोध हो सकता है। परन्तु कुन्दकुन्दका समय भी अभी तक पूरी तौरसे निश्चित नहीं हो पाया। नन्दिसंघकी पट्टावलीमें जो आपका समय वि० सं० ९४ से १०१ तक दिया है उस पर तो, पट्टावलीकी हालतको देखते हुए सहसा विश्वास नहीं होता, और उक्त पद्यमें जो समय दिया है वह उन सब विकल्पों अथवा संदेहोंका पात्र बना हुआ है जो ऊपर 'ग' भागमें उपस्थित किये गये हैं; और इसलिये इन दोनों आधारों परसे प्रकृत विषयके निर्णयार्थ यहाँ किसी विशेषताकी उपलब्धि नहीं होती—समन्तभद्रके समयसम्बन्धमें जो कल्पनाएँ ऊपर की गई हैं वे ही ज्योंकी त्यों कायम रहती हैं। अब देखना चाहिये दूसरे किसी मार्गसे भी कुन्दकुन्दका कोई ठीक समय उपलब्ध होता है या कि नहीं।

इन्द्रनंदि आचार्यके 'श्रुतावतार'से माळूम होता है कि भगवान् महावीरकी निर्वाण-प्राप्तिके बाद ६२ वर्षके भीतर तीन केवली, उसके बाद १०० वर्षके भीतर पाँच श्रुतकेवली, फिर १८३ वर्षके भीतर ग्यारह मुनि दशपूर्वके पाठी, तदनंतर २२० वर्षके भीतर पाँच एकादशांगधारी और तत्पश्चात् ११८ वर्षमें चार आचारांगके धारी मुनि हुए। इस तरह वीर-निर्वाणसे ६८३ वर्ष पर्यंत अंगज्ञान रहा। इसके बाद चार आरातीय मुनि अंग और पूर्वोंके एकदेशज्ञानी हुए, उनके बाद 'अर्हद्वलि,' अर्हद्वलिके अनन्तर 'माघनन्दि' और माघनन्दिके पश्चात् 'धरसेन' नामके आचार्य हुए, जो 'कर्मप्राभृत'के ज्ञाता थे। इन मुनिराजने अपनी आयु अल्प जानकर और यह खयाल करके कि हमारे पीछे कर्मप्राभृत श्रुतका ज्ञान व्युच्छेद न होने पावे, वेणाक तटके मुनिसंघसे दो तीक्ष्णबुद्धि मुनियोंको बुलवाया, जो बादमें 'पुष्पदन्त' और 'भूतवलि' नामसे प्रसिद्ध हुए और उन्हें वह समस्त श्रुत अच्छी तरहसे व्याख्या करके पढ़ा दिया। तत्पश्चात् पुष्पदन्त और भूतवलिने कर्मप्राभृतको संक्षिप्त करके षट्खण्डागमका रूप दिया और उसे द्रव्य-पुस्तकारूढ किया-अर्थात्, लिपिवद्ध करा दिया। उधर गुणधर आचार्यने 'कषायप्राभृत' अपरनाम 'दोषप्राभृत'के गाथासूत्रोंकी रचना करके उन्हें 'नागहस्ति' और 'आर्यमंक्षु' नामक मुनियोंको पढ़ाया, उनसे 'यतिवृषभ'ने पढ़कर उन गाथाओंपर चूर्णिसूत्र रचे और यतिवृषभसे 'उच्चारणाचार्य' ने अध्ययन करके चूर्णिसूत्रोंपर वृत्तिसूत्र लिखे। इस प्रकार गुणधर, यतिवृषभ और उच्चारणाचार्यके द्वारा कषायप्राभृतकी रचना होकर वह भी द्रव्यपुस्तकारूढ हो गया। जब कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत दोनों सिद्धान्त द्रव्यभावरूपसे पुस्तकारूढ हो गये तब कोण्डकुन्दपुरमें पद्मनन्दि (कुंदकुंद) नामके

आचार्य गुरुपरिपाटीसे दोनों सिद्धान्तोंके ज्ञाता हुए और उन्होंने ' षट्खण्डागम 'के प्रथम तीन खण्डोंपर बारह हजार श्लोकपरिमाण एक टीका लिखी।

इस कथनसे स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दाचार्य वीरनिर्वाण सं० ६८३ से पहले नहीं हुए, किन्तु पीछे हुए हैं। परन्तु कितने पीछे, यह अस्पष्ट है। यदि अन्तिम आचारांगधारी ' लोहाचार्य ' के बाद होनेवाले विनयधर आदि चार आरातीय मुनियोंका एकत्र समय २० वर्षका और अर्हद्वलि, माघनंदि, धरसेन, पुष्पदंत, भूतवलि तथा कुन्दकुन्दके गुरुका स्थूल समय १०-१० वर्षका ही मान लिया जाय, जिसका मान लेना कुछ अधिक नहीं है, तो यह सहजहीमें कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्द उक्त समयसे ८० वर्ष अथवा वीरनिर्वाणसे ७६३ (६८३+२०+६०) वर्ष बाद हुए हैं और यह समय उस समय (७७०) के करीब ही पहुँच जाता है जो विद्वज्जनबोधकसे उद्धृत किये हुए उक्त पद्यमें दिया है, और इस लिये इसके द्वारा उसका बहुत कुछ समर्थन होता है। श्रुतावतारमें, वीरनिर्वाणसे अन्तिम आचारांगधारी लोहाचार्यपर्यंत, ६८३ वर्षके भीतर केवलि-श्रुतकेवलियों आदिके होनेका जो कथन जिस क्रम और जिस समयनिर्देशके साथ किया है वह त्रिलोकप्रज्ञप्ति, जिनसेनकृत हरिवंशपुराण और भगवज्जिनसेनप्रणीत आदिपुराण जैसे प्राचीन ग्रंथोंमें भी पाया जाता है। हाँ, त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें इतना विशेष जरूर है कि आचारांगधारियोंकी ११८ वर्षकी संख्यामें अंग और पूर्वोंके एकदेशधारियोंका भी समय शामिल किया है *; इससे विनयधर आदि चार आरातीय मुनियोंका जो

* पढमो सुभद्दणामो जसभद्दो तह य होदि जसबाहू।
तुरियो य लोहणामो एदे आयार अंगधरा ॥ ८० ॥

पृथक् समय २० वर्षका मान लिया गया था उसे गणनासे निकाल दिया जा सकता है और तब कुन्दकुन्दका वीरनिर्वाणसे ७४३ वर्ष बाद होना कहा जा सकता है । इससे भी उक्त पद्यके समयसमर्थनमें कोई बाधा न आती; क्योंकि उस पद्यमें प्रधानतासे उमास्वातिका समय दिया है—उमास्वातिके समकालीन होनेपर भी, वृद्धत्वके कारण, कुन्दकुन्दका अस्तित्व २७ वर्ष पहले और भी माना जा सकता है और उसका मान लिया जाना बहुत कुछ स्वाभाविक है । सेनगणकी पट्टावलीमें भी ६८३ वर्षकी गणना 'श्रुतावतार' के सदृश ही की गई है । परंतु नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलीमें वह गणना कुछ विसदृशरूपसे पाई जाती है । उसमें दशपूर्वधारियों तकका समय तो वही दिया है जिसका ऊपर उल्लेख किया है । उसके बाद एकादशांगधारी पाँच मुनियोंका समय, २२० वर्ष न देकर, १२३ वर्ष दिया है और शेष ९७ वर्षोंमें सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु और लोहाचार्य नामके उन चार मुनियोंका होना लिखा है और उन्हें दश नव तथा अष्ट अंगका पाठी बतलाया है, जिन्हें 'श्रुतावतार' आदि ग्रंथोंमें एकादशां-

---

सेसेक्करसंगाणि चोद्दसपुव्वाणमेकदेसधरा ।
एक्कसयं अट्ठारसवासजुदं ताण परिमाणं ॥ ८१ ॥
तेसु अदीदेसु तदा आचारधरा ण होंति भरहंमि ।
गोदममुणिपहुदीणं वासाणं छस्सदाणि तेसी दो ॥ ८२ ॥

१ जैनहितैषी, भाग ६ ठा, अंक ७–८ में पं० नाथूरामजीने आठके बाद सात संख्याका भी उल्लेख किया है और लिखा है कि, "जिस ग्रंथके आधार पर हमने यह पट्टावली प्रकाशित की है, उसमें इन्हें क्रमशः दश, नौ, आठ और सात अंगका पाठी बतलाया है" । ऐसा होना जीको भी लगता है, परंतु हमारे सामने जो पट्टावली है उसमें 'दसंग नव अंग अट्ठधरा' और 'दसनवअट्ठंगधरा' पाठ हैं । संभव है कि पहला पाठ कुछ अशुद्ध छप गया हो और वह 'दसंग णवअट्ठसत्तधरा' हो ।

गधारियोंकी २२० वर्षकी संख्याके बाद ११८ वर्षके भीतर होनेवाले प्रतिपादन किया है और साथ ही 'आचारांग' नामक प्रथम अंगके ज्ञाता लिखा है। इन चारों मुनियोंके अनन्तर अर्हद्वलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतवलि नामके पाँच आचार्योंको 'एकांगधारी' लिखा है और उनका समय ११८ वर्ष दिया है*। इस तरह पर वीरनिर्वाणसे भूतवलिपर्यंत ६८३ वर्षकी गणना की गई है। यह गणना श्रुतावतार, त्रिलोकप्रज्ञप्ति, हरिवंशपुराण, आदिपुराण और सेनगणकी पट्टावलीसे कितनी भिन्न है और इसके द्वारा पुष्पदंत भूतवलि तक आचार्योंकी समयगणनामें कितना अन्तर पड़ जाता है इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। परन्तु यदि इसीको ठीक मान लिया जाय और यह स्वीकार किया जाय कि भूतवलिका अस्तित्व वीरनिर्वाण संवत् ६८३ तक रहा है तो भूतवलिके बाद कुंदकुंदकी प्रादुर्भूतिके लिये कमसे कम २०—३० वर्षकी कल्पना और भी करनी होगी; क्योंकि कुन्दकुन्दको दोनों सिद्धान्तोंका ज्ञान गुरु-परिपाटी द्वारा प्राप्त हुआ था † और पुष्पदंत, भूतवलि या उच्चारणा-

---

* यथा—पंचसये पणसट्ठे अन्तिमजिणसमयजादेसु।
उपपण्णा पंचजणा इयंगधारी मुणेयव्वा ॥ १५ ॥
अहिवल्लिमाघणंदिय धरसेणं पुप्फयंतभूतवली।
अडवीसे इगवीसं उगणीसं तीस वीस वास पुणो ॥ १६ ॥
इगसयअठारवासे इयंगधारी य मुणिवरा जादा।
छसयतिरासियवासे णिव्वाणा अंगदित्ति कहियजिणे ॥ १७ ॥

† एवं द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगतः समागच्छन्।
गुरुपरिपाट्या ज्ञातः सिद्धान्तः कुण्डकुन्दपुरे ॥ १६० ॥
श्रीपद्मनन्दिमुनिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाणः।
ग्रन्थपरिकर्मकर्ता षट्खण्डाद्यत्रिखण्डस्य ॥ १६१ ॥

चार्यमेंसे किसीको आपका गुरु नहीं लिखा है; इस लिये इन आचार्योंके बाद कमसे कम एक आचार्यका आपके गुरुरूपसे होना जरूरी मालूम पड़ता है, जिसके लिये उक्त समय अधिक नहीं है। इस तरह पर कुन्दकुन्दके समयका प्रारंभ वीरनिर्वाणसे ७०३ या ७१३ के करीब हो जाता है। परन्तु इस अधिक समयकी कल्पनाको भी यदि छोड़ दिया जाय और यही मान लिया जाय कि वीरनिर्वाणसे ६८३ वर्षके अनन्तर ही कुन्दकुन्दाचार्य हुए हैं तो यह कहना होगा कि वे विक्रम संवत् २१३ (६८३–४७०) के बाद हुए हैं उससे पहले नहीं। यही पं० नाथूरामजी प्रेमी * आदि अधिकांश जैन विद्वानोंका मत है। इसमें हम इतना और भी जोड़ देना चाहते हैं कि वीर निर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका देहजन्म मानते हुए, उसका विक्रमसंवत् यदि राज्यसंवत् है तो उससे १९५ (६८३–४८८) वर्ष बाद और यदि मृत्युसंवत् है तो उससे १३३ (६८३–५५०) वर्ष बाद कुंदकुंदाचार्य हुए हैं। साथ ही, इतना और भी कि, यदि शक राजाका अस्तित्वसमय वीरनिर्वाणसे ४६१ वर्ष पर्यंत रहा है, उसीकी मृत्युका वर्तमान शक संवत् (१८४६) प्रचलित है और विक्रम तथा शक संवतोंमें १३५ वर्षका वास्तविक अन्तर है तो कुन्दकुन्दाचार्य वि० सं० से ३५७ (६८३–३६१+१३५) वर्ष बाद हुए हैं।

ऊपर उमास्वातिके समयसे समन्तभद्रके समयकी कल्पना प्रायः ४० वर्ष बाद की गई है, कुन्दकुन्दके समयसे वह ६० वर्ष बाद की जा सकती है और कुछ अनुचित प्रतीत नहीं होती। ऐसी हालतमें समन्तभद्रको क्रमशः वि० सं० २७३, २५५, १९३ या ४१७ के करीबके विद्वान् कह सकते हैं। और यदि शक संवत् शक राजाकी

* देखो जैनहितैषी भाग १० वाँ, अंक ६–७, पृ० २७९।

मृत्युका संवत् न होकर उसके राज्य अथवा जन्मका संवत् हो तो पिछले ४१७ संवतमेंसे शकराज्यकाल अथवा उसकी आयुके वर्ष भी कम किये जा सकते हैं।

राजा शिवकुमार ।

'पंचास्तिकाय' सूत्रकी जयसेनाचार्यकृत टीकामें लिखा है कि श्रीकुण्डकुन्दाचार्यने इस शास्त्रको अपने शिष्य शिवकुमार महाराजके प्रतिबोधनार्थ रचा है, और वही राजा इस शास्त्रकी उत्पत्तिका निमित्त है। यथा—

"....श्रीमत्कुण्डकुन्दाचार्यदेवैः........शिवकुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पंचास्तिकायप्राभृतशास्त्रे........"

"अथ प्राभृतग्रंथें शिवकुमारमहाराजो निमित्तं अन्यत्र द्रव्यसंग्रहादौ सोमश्रेष्ठ्यादि ज्ञातव्यम्। इति संक्षेपेण निमित्तं कथितं।"

ग्रंथकी कनड़ी टीकामें भी, जो 'बालचंद्र' मुनिकी बनाई हुई है, इसी प्रकारका उल्लेख बतलाया जाता है। प्रोफेसर के० बी० पाठकने इन शिवकुमार महाराजका समीकरण कदम्बवंशके राजा 'शिवमृगेशवर्मा'के साथ किया है—उन्हींको उक्त शिवकुमार बतलाया है—और शिवमृगेशका समय, चालुक्य चक्रवर्ती 'कीर्तिवर्मा' महाराजके द्वारा बादामी स्थानपर शक सं० ५०० में प्राचीन कदम्बवंशके ध्वस्त किये जानेसे ५० वर्ष पहलेका निश्चित करके, यह प्रतिपादन किया है कि कुन्दकुन्दाचार्य शक सं० ४५० (वि० सं० ५८५ या ई० सन् ५२८) के विद्वान् सिद्ध होते हैं। पाठक महाशयके इस मतको पं० गजाधरलालजी न्यायशास्त्रीने,

'समयसारप्राभृत' की प्रस्तावनामें, अपना यह मत पुष्ट करनेके लिये उद्धृत किया है कि कुन्दकुन्दका उत्पत्तिसमय वि० सं० २१३ से पहले वनता ही नहीं; और साथ ही यह प्रतिपादन किया है कि उसे स्वीकार कर लेनेमें कोई भी हानि नहीं है * । परंतु हमें तो उसके स्वीकारनेमें हानि ही हानि नजर पड़ती है—लाभ कुछ भी नहीं—और वह जरा भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता । इस मतको मान लेनेसे समन्तभद्र तो समन्तभद्र पूज्यपाद भी कुन्दकुन्दसे पहलेके विद्वान् ठहरते हैं; और तब कुन्दकुन्दके वंशमें उमास्वाति हुए, उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की, उस तत्त्वार्थसूत्र पर पूज्यपादने 'सर्वार्थसिद्धि' नामकी टीका लिखी, इत्यादि कथनोंका कुछ भी अर्थ अथवा मूल्य नहीं रहता, और पचासों शिलालेखों तथा ग्रंथादिकोंमें पूज्यपाद तथा उनसे पहले होनेवाले कितने ही विद्वानोंके विषयमें जो यह सुनिश्चित उल्लेख मिलता है कि वे कुंदकुंदके वंशमें अथवा उनके वाद हुए हैं मिथ्या और व्यर्थ ठहरता है†,

---

* '२१३ तमवैक्रमसंवत्सरात्पूर्वं तु साधयितुमेव नार्हति भगवत्कुन्दकुन्दोत्पत्तिसमयः ।'............

'ततो युक्त्यानयापि भगवत्कुन्दकुन्दसमयः तस्य शिवमृगेशवर्मसमानकालीनत्वात् ४५० तम शकसंवत्सर एव सिद्ध्यति स्वीकारे चास्मिन् क्षतिरपि नास्ति कापीति ।'

† उदाहरणके लिये देखो मर्कराका ताम्रपत्र जो शक संवत् ३८८ का लिखा हुआ है और जिसमें कुन्दकुन्दाचार्यके वंशमें होनेवाले आचार्योंका उल्लेख निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

'.......श्रीमान् कोंगणि—महाधिराज अविनीतनामधेयदत्तस्य देसिगगणं कौण्डकुन्दान्वय—गुणचंद्रभटार-शिष्यस्य अभयणंदिभटार तस्य शिष्यस्य शीलभद्रभटार-शिष्यस्य जनाणंदिभटार-शिष्यस्य गुणणंदिभटार-शिष्यस्य वन्दणन्दिभटारगें अष्ट अशीति-त्रयो-शतस्य सम्वत्सरस्य माघमासं......'

—कुर्ग इन्स्क्रिप्शन्स (E. C. I.)

यह सव क्या कुछ कम हानि है? समझमें नहीं आता कि न्यायशास्त्री-जीने विना पूर्वापर सम्बन्धोंका विचार किये ऐसा क्यों लिख दिया। अस्तु; हमारी रायमें, प्रथम तो जयसेनादिका यह लिखना ही कि 'कुन्दकुन्दने शिवकुमार महाराजके सम्बोधनार्थ अथवा उनके निमित्त इस पंचास्तिकायकी रचना की' वहुत कुछ आधुनिक * मत जान पड़ता है, मूल ग्रंथमें उसका कोई उल्लेख नहीं और न श्रीअमृतचंद्राचार्यकृत प्राचीन टीकापरसे ही उसका कोई समर्थन होता है। स्वयं कुन्दकुन्दाचार्यने ग्रंथके अन्तमें यह सूचित किया है कि उन्होंने इस 'पंचास्तिकायसंग्रह' सूत्रको प्रवचनभक्तिसे प्रेरित होकर मार्गकी प्रभावनार्थ रचा है। यथा—

---

* १३ वीं १४ वीं शताब्दीके करीवका; क्योंकि वालचंद्रमुनि विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान् थे। उनके गुरु नयकीर्तिका शक सं० १०९९ (वि० सं० १२३४) में देहान्त हुआ है। और जयसेनाचार्य विक्रमकी प्रायः १४ वीं शताब्दीके विद्वान् माल्रम होते हैं। उन्होंने प्रवचनसारटीकाकी प्रशस्तिमें जिन 'कुमुदेन्दु' को नमस्कार किया है वे उक्त वालचंद्र मुनिके समकालीन विद्वान् थे। आपकी प्राभृतत्रयकी टीकाओंमें गोम्मटसार, चारित्रसार, द्रव्यसंग्रह आदि ११ वीं १२ वीं शताब्दियोंके वने हुए ग्रंथोंके कितने ही उल्लेख पाये जाते हैं। ऐसी हालतमें पंचास्तिकायटीकाके अन्तमें 'पंचास्तिकायः समाप्तः' के वाद जो 'विक्रम संवत् १३६९ वर्षेराश्विन शुद्धि १ भौम दिने' ऐसा समय दिया हुआ है वह आश्चर्य नहीं जो टीकाकी समाप्तिका ही समय हो।

१ प्रो० ए० चक्रवर्ती, 'पंचास्तिकाय' की प्रस्तावनामें लिखते हैं कि प्राभृतत्रयके सभी टीकाकारोंने इस वातका उल्लेख किया है कि इन तीनों ग्रंथोंको कुन्दकुन्दाचार्यने अपने शिष्य शिवकुमारके हितार्थ रचा है; परंतु अमृतचंद्राचार्यकी किसी भी टीकामें ऐसा कोई उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया। नहीं माल्रम प्रो० साहवने किस आधार पर ऐसा कथन किया है।

२ 'मार्गो हि परमवैराग्यकरणप्रवणा पारमेश्वरी परमाज्ञा।' (अमृतचन्द्र)।

मग्गप्पभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया
भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं सुत्तं ॥ १७३ ॥

इससे स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दने अपना यह ग्रंथ किसी व्यक्तिविशेष-के उद्देश्यसे अथवा उसकी प्रेरणाको पाकर नहीं लिखा, बल्कि इसका खास उद्देश्य '**मार्गप्रभावना**' और निमित्तकारण '**प्रवचनभक्ति**' है। यदि कुन्दकुन्दने शिवकुमार महाराजके सम्बोधनार्थ अथवा उनकी खास प्रेरणासे इस ग्रंथको लिखा होता तो वे इस पद्यमें या अन्यत्र कहीं उसका कुछ उल्लेख जरूर करते, जैसे कि भट्टप्रभाकरके निमित्त 'परमात्मप्रकाश' की रचना करते हुए योगीन्द्रदेवने जगह जगह पर ग्रंथमें उसका उल्लेख किया है। परंतु यहाँ मूल ग्रंथमें ऐसा कुछ भी नहीं, न प्राचीन टीकामें ही उसका उल्लेख मिलता है और न कुन्दकुन्दके किसी दूसरे ग्रंथसे ही शिवकुमारका कोई पता चलता है। इस लिये यह ग्रंथ शिवकुमार महाराजके संबोधनार्थ रचा गया ऐसा माननेके लिये मन सहसा तय्यार नहीं होता। संभव है कि एक विद्वानने किसी किम्वदंतीके आधार पर उसका उल्लेख किया हो और फिर दूसरेने भी उसकी नकल कर दी हो। इसके सिवाय, जयसेनाचार्यने 'प्रवचनसार' की टीकामें प्रथम प्रस्तावनावाक्यके द्वारा, 'शिवकुमार' का जो निम्न प्रकारसे उल्लेख किया है उससे शिवकुमार महाराजकी स्थिति और भी संदिग्ध हो जाती है—

अथ[1] कश्चिदासन्नभव्यः शिवकुमारनामा स्वसंवित्तिसमुत्पन्नपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतविपरीतचतुर्गतिसंसारदुःखभयभीतः समुत्पन्नपरमभेदविज्ञानप्रकाशातिशयः समस्तदुर्नयैकान्तनिराकृ-

१ देखो, रायचंद्रजैनशास्त्रमालामें प्रकाशित 'प्रवचनसार' का वि० सं० १९६९ का संस्करण ।

तदुराग्रहः परित्यक्तसमस्तशत्रुमित्रादिपक्षपातेनात्यन्तमध्यस्थो भूत्वा धर्मार्थकामेभ्यः सारभूतामत्यन्तात्महितामविनश्वरां पंचपरमेष्ठिप्रसादोत्पन्नां मुक्तिश्रियमुपादेयत्वेन स्वीकुर्वाणः श्रीवर्द्धमानस्वामितीर्थंकरपरमदेवप्रमुखान् भगवतः पंचपरमेष्ठिनो द्रव्यभावनमस्काराभ्यां प्रणम्य परमचारित्रमाश्रयामीति प्रतिज्ञां करोति—

इस प्रस्तावनाके बाद मूल ग्रंथकी मंगलादिविषयक पाँच गाथाएँ एक साथ दी हैं जिनमेंसे पिछली दो गाथाएँ इस प्रकार हैं—

किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं ।
अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव सव्वेसिं ॥ ४ ॥
तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज ।
उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ॥ ५ ॥

इन गाथाओंमें श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने बतलाया है कि 'मैं अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुओं (पंचपरमेष्ठियों) को नमस्कार करके और उनके विशुद्ध दर्शनज्ञानरूपी प्रधान आश्रमको प्राप्त होकर (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानसे सम्पन्न होकर) उस साम्यभाव (परम-वीतराग-चारित्र) का आश्रय लेता हूँ—अथवा उसे सम्पादन करता हूँ—जिससे निर्वाणकी प्राप्ति होती है ।' और इस प्रकारकी प्रतिज्ञाद्वारा उन्होंने अपने ग्रंथके प्रतिपाद्य विषयको सूचित किया है । अब इसके साथ टीकाकारकी उक्त प्रस्तावनाको देखिये, उसमें यही प्रतिज्ञा शिवकुमारसे कराई गई है, और इस तरह पर शिवकुमारको मूलग्रंथका कर्ता अथवा प्रकारान्तरसे कुन्दकुन्दका ही नामान्तर सूचित किया है । साथ ही शिवकुमारके जो विशेषण दिये हैं वे एक राजाके विशेषण नहीं हो सकते—वे उन महामुनिराजके विशेषण हैं जो सरागचारित्रसे भी उपरत

होकर वीतरागचरित्रकी ओर प्रवृत्त होते हैं । ऐसी हालतमें पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि शिवकुमार महाराजकी स्थिति कितनी संदिग्ध है ।

दूसरे, शिवकुमारका ' शिवमृगेशवर्मा' के साथ जो समीकरण किया गया है उसका कोई युक्तियुक्त कारण भी माळूम नहीं होता । उससे अच्छा समीकरण तो प्रोफेसर ए० चक्रवर्ती नायनार, एम० ए०, एल० टी०, का जान पड़ता है जो कांचीके प्राचीन पल्लवराजा 'शिवस्कन्दवर्मा ' के साथ किया गया है*; क्योंकि ' स्कन्द ' कुमारका पर्याय नाम है और एक दानपत्रमें उसे ' युवामहाराज ' भी लिखा है जो ' कुमार-महाराज ' का वाचक है; इस लिये अर्थकी दृष्टिसे शिवकुमार और शिवस्कन्द दोनों एक जान पड़ते हैं । इसके सिवाय शिवस्कन्दका ' मयिदावोलु ' वाला दानपत्र, अन्तिम मंगल पद्यको छोड़ कर, प्राकृत भाषामें लिखा हुआ है और उससे शिवस्कन्दकी दरबारी भाषाका प्राकृत होना पाया जाता है जो इस ग्रंथकी रचना आदिके साथ शिव-स्कन्दका सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये ज्यादा अनुकूल जान पड़ती है । साथ ही, शिवस्कन्दका समय भी शिवमृगेशासे कई शताब्दियों पहलेका अनुमान किया गया है† । इसलिये पाठक महाशयका उक्त समीकरण

---

* देखो ' पंचास्तिकाय ' के अंग्रेजी संस्करणकी प्रो० ए० चक्रवर्ती द्वारा लिखित ' ऐतिहासिक प्रस्तावना ' (Historical Introduction), सन् १९२० ।

† चक्रवर्ती महाशयने, कुन्दकुन्दका अस्तित्वसमय ईसासे कई वर्ष पहलेसे प्रारंभ करके, उन्हें ईसाकी पहली शताब्दीके पूर्वार्धका विद्वान् माना है, और इस लिये उनके विचारसे शिवस्कंदका समय ईसाकी पहली शताब्दी होना चाहिये; परन्तु एक जगह पर उन्होंने ये शब्द भी दिये हैं—

It is quite possible therefore that this Sivaskanda of Conjeepuram or one of the predecessor of the

किसी तरह भी ठीक मालूम नहीं होता । जान पड़ता है उन्होंने इस समीकरणको लेकर ही दो ताम्रपत्रोंमें उल्लेखित हुए तोरणाचार्यको, कुन्दकुन्दान्वयी होनेके कारण, केवल डेढ़सौ वर्ष पीछेका ही विद्वान् कल्पित किया है; अन्यथा, वैसी कल्पनाके लिये दूसरा कोई भी आधार नहीं था । हम कितने ही विद्वानोंके ऐसे उल्लेख देखते हैं जिनमें उन्हें कुन्दकुन्दान्वयी सूचित किया है और वे कुन्दकुन्दसे हजार वर्षसे भी पीछेके विद्वान् हुए हैं । उदाहरणके लिये शुभचंद्राचार्यकी पट्टावलीको लीजिये, जिसमें सकलकीर्ति भट्टारकके गुरु 'पद्मनन्दि'को कुन्दकुन्दाचार्यके बाद **'तदन्वयधरणधुरीण'** लिखा है और जो ईसाकी प्रायः १५ वीं शताब्दीके विद्वान् थे । इसलिये उक्त ताम्रपत्रोंके आधारपर तोरणाचार्यको शक सं० ६०० का और कुन्दकुन्दको उनसे १५० वर्ष पहले—शक सं० ४५०—का विद्वान् मान लेना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता और वह उक्त समीकरणकी मिथ्या कल्पना पर ही अवलम्बित जान पड़ता है । ४५० से पहलेका तो शक सं० ३८८ का लिखा हुआ

Same name was the contemporary and deciple of Sri Kundakunda.

इन शब्दोंसे यह ध्वनि निकलती है कि इस शिवस्कंदका ईसाकी पहली शताब्दीके पूर्वार्धमें होना चक्रवर्ती महाशयको शायद कुछ संदिग्ध जान पड़ा है, वे उसका कुछ बादमें होना भी संभव समझते हैं, और इस लिये उन्होंने इस शिवस्कंदसे पहले उसी नामके एक और पूर्वजकी कल्पनाको भी कुन्दकुन्दकी समकालीनता और शिष्यताके लिये स्थान दिया है ।

१ ये ताम्रपत्र राष्ट्रकूट वंशके राजा तृतीय गोविन्दके समयके हैं और तोरणाचार्यके प्रशिष्य प्रभाचन्द्रसे सम्बंध रखते हैं । इनमें एक शक सं० ७१९ और दूसरा ७२४ का है । देखो, समयप्राभृतकी प्रस्तावना और षट्प्राभृतादि-संग्रहकी भूमिका । २ देखो जैनसिद्धान्तभास्करकी ४ थी किरण, पृष्ठ ४३ ।

सर्कराका ताम्रपत्र है, जिसमें कुन्दकुन्दका नाम है, गुणचंद्राचार्यको कुन्द-कुन्दके वंशमें होनेवाले प्रकट किया है और फिर ताम्रपत्रके समय तक उनकी पाँच पीढ़ियोंका उल्लेख किया है ।

एलाचार्य ।

प्रो० ए० चक्रवर्तीने, पंचास्तिकायकी अपनी 'ऐतिहासिक प्रस्तावना' में, प्रो० हर्नलद्वारा संपादित नन्दिसंघकी पट्टावलियोंके आधार पर, कुन्दकुन्दको विक्रमकी पहली शताब्दीका विद्वान् माना है—यह सूचित किया है कि वे वि० सं० ४९ में (ईसासे ८ वर्ष पहले) आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए, ४४ वर्षकी अवस्थामें उन्हें आचार्य पद मिला, ५१ वर्ष १० महीने तक वे उस पदपर प्रतिष्ठित रहे और उनकी कुल आयु ९५ वर्ष १० महीने १५ दिनकी वतलाई है। साथ ही, यह प्रकट करते हुए कि कुन्दकुन्दका एक नाम 'एलाचार्य' भी था और तामिल भाषाके 'कुरल' काव्यकी वावत कहा जाता है कि उसे 'एलाचार्य' ने रचकर अपने शिष्य थिरुवल्लुवरको दिया था जिसकी कृतिरूपसे वह प्रसिद्ध है और जिसने उसको मदुरासंघ (मदुराके कविसम्मेलन) के सामने पेश किया था, यह सिद्ध करनेका यत्न किया है कि उक्त एलाचार्य और कुन्दकुन्द दोनों एक ही व्यक्ति थे और इसलिये 'कुरल' का समय भी ईसाकी पहली शताब्दी ठहरता है * । परंतु 'कुरल' का समय ईसाकी पहली शताब्दी ठहरो या कुछ और, और वह एलाचार्यका वनाया हुआ हो या न हो, हमें इस चर्चामें जानेकी जरूरत नहीं है; क्योंकि उसके आधारपर कुन्दकुन्दका

* This identification of E'lâchârya the author of Kural with Elâchârya or Kund Kund would place the Tamil work in the 1st century of the Christian era.

समय निर्णय नहीं किया गया है। हमें यहाँपर सिर्फ इतना ही देखना है कि चक्रवर्ती महाशयने कुन्दकुन्दके जिस समयका प्रतिपादन किया है वह कहाँ तक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। रही यह बात कि 'एलाचार्य' कुन्दकुन्दका नामान्तर था या कि नहीं, इस विषयमें हम सिर्फ इतना ही कहना चाहते हैं कि जहाँ तक हमने जैन-साहित्यका अवगाहन किया है, हमें नन्दिसंघकी पट्टावली अथवा गुर्वावलीको छोड़कर, दूसरे किसी भी ग्रंथ अथवा शिलालेख परसे यह माळूम नहीं होता कि 'एलाचार्य' कुन्दकुन्दका नामान्तर था। अनेक शिलालेखों आदि परसे उनका दूसरा नाम 'पद्मनन्दि' ही उपलब्ध होता है और वही उनका दीक्षासमयका नाम अथवा प्रथम नाम था *; 'कौण्डकुन्दाचार्य' नामसे वे बादमें प्रसिद्ध हुए हैं जिसका श्रुतिमधुररूप 'कुन्दकुन्दाचार्य' बन गया है और यह उनका देशप्रत्यय नाम था क्योंकि वे कोण्डकुन्दपुरके रहनेवाले थे और इस लिये कोण्डकुन्दाचार्य का अर्थ 'कोण्डकुन्दपुरके आचार्य' होता है। उस समय इस प्रकारके नामोंकी परिपाटी थी, अनेक नगर-ग्रामोंमें मुनिसंघ स्थापित थे—मुनियोंकी टोलियाँ रहती थीं—और उनमें जो बहुत बड़े आचार्य होते थे वे कभी कभी उस नगरादिकके नामसे ही प्रसिद्ध होते थे। श्रवण-

---

* जैसा कि श्रवणबेल्गोलके शिलालेखोंके निम्न वाक्योंसे पाया जाता है—

तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दि-प्रथमाभिधानः।
श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यः सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः॥

—शि० ले० नं० ४०।

श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्दः।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसंजातसुचारणर्द्धिः॥

—नं० ४२,४३,४७,५०।

बेलगोलके शिलालेखों आदिमें ऐसे बहुतसे नामोंका उल्लेख पाया जाता है। पट्टावलीमें 'गृध्रपिच्छ' और 'वक्रग्रीव' ये दो नाम जो और दिये हैं उनकी भी कहींसे उपलब्धि नहीं होती। उन नामोंके दूसरे ही विद्वान् हुए हैं—गृध्रपिच्छ उमास्वातिका दूसरा नाम था, जिसका उल्लेख कितने ही शिलालेखों तथा ग्रंथोंमें पाया जाता है, और 'वक्रग्रीव' नामके भिन्न आचार्यका उल्लेख भी श्रवणबेलगोलके ५४ वें शिलालेख आदिमें मिलता है। इसी तरहपर 'एलाचार्य' नामके भी दूसरे ही विद्वान् हुए हैं, जिनसे भगवज्जिनसेनके गुरु श्रीवीरसेनाचार्यने सिद्धान्त-शास्त्रोंको पढ़कर उन पर 'धवला' और 'जयधवला' नामकी टीकाएँ लिखी थीं, जिन्हें धवल और जयधवल सिद्धान्त भी कहते हैं। 'धवला' टीकाको वीरसेनने शक सं० ७३८ में बनाकर समाप्त किया था; इससे 'एलाचार्य' विक्रमकी ९ वीं शताब्दीके विद्वान् थे। चक्रवर्तीमहाशयके कथनानुसार, डाक्तर जी० यू० पोपने 'कुरल' का समय ईसाकी ८ वीं शताब्दीसे कुछ पीछेका बतलाया है और वह समय इन एलाचार्यके समयके अनुकूल पड़ता है। आश्चर्य नहीं, यदि 'कुरल' का यही समय हो तो उसकी रचनामें इन एलाचार्यने कोई

---

१ "काले गते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी ।
श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्त्वज्ञः ॥ १७७ ॥
तस्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरुः ।" इत्यादि
—इन्द्रनन्दिश्रुतावतार ।

२ 'धवला' टीकाकी प्रशस्तिमें, स्वयं वीरसेन आचार्यने एलाचार्यका निम्नप्रकारसे उल्लेख किया है—

" जस्स सेसाणमये सिद्धंतमिदि हि अहिलहुंदो— ।
महु सो एलाइरिओ पसियउ वरवीरसेणस्स" ॥ १ ॥

खास सहायता प्रदान की हो । परन्तु उसे बिलकुल ही स्वयं रचकर दे देनेकी बात कुछ जीको नहीं लगती; क्योंकि थिरुवल्लुवर यदि इतने अयोग्य थे कि वे स्वयं वैसी कोई रचना नहीं कर सकते थे तो वे कवि-संघके सामने उसे अपने नामसे पेश करनेके योग्य भी नहीं हो सकते थे—वे तब 'कुरल' को एलाचार्यके नामसे ही उपस्थित करते, जिनके नामसे उपस्थित करनेमें कोई बाधा मालूम नहीं होती—और यदि वे खुद भी वैसी रचना करनेके लिये समर्थ थे तो यह नहीं हो सकता कि उन्होंने साराका सारा ग्रंथ दूसरे विद्वानसे लिखा कर उसे अपने नामसे प्रकट किया हो अथवा उसमें अपनी कुछ भी कलम न लगाई हो । इस विषयमें हिन्दुओंका यह परम्पराकथन ज्यादा वजनदार मालूम होता है कि थिरुवल्लुवरने 'एलालसिंह' की सहायतासे स्वयं-ही इस ग्रंथकी रचना की है; परंतु उनका ग्रंथकर्ताको शैवधर्मानुयायी बतलाना कुछ ठीक नहीं जँचता । बहुत संभव है कि हिन्दुओंका यह 'एलालसिंह' एलाचार्य ही हो अथवा एलाचार्यके गृहस्थ जीवनका ही यह कोई नाम हो । वस्तुस्थितिकी ऐसी हालत होते हुए, बिना किसी प्रबल प्रमाणकी उपलब्धि अथवा योग्य समर्थनके पट्टावलीके प्रकृत कथनपर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता । और न एक मात्र उसीके आधारपर यह कहा जा सकता है कि एलाचार्य कुन्दकुन्दका नामान्तर था ।

पट्टावलिप्रतिपादित समय ।

अब समयविचारको लीजिये । जिस पट्टावलीके आधारपर चक्रवर्ती महाशयने कुन्दकुन्दके उक्त समयका प्रतिपादन किया है वह वही पट्टावली है जिसे ऊपर 'ख' भागमें बहुत कुछ संदिग्ध और अविश्वसनीय बतलाया जा चुका है । और इसलिये जबतक उसपर होनेवाले संदेहों

तथा आक्षेपोंका अच्छी तरहसे निरसन न कर दिया जाय तब तक केवल उसीके आधार पर किसी आचार्यके समयको दृढताके साथ सत्य प्रतिपादन नहीं किया जासकता; फिर भी उसमें उल्लेखित अनेक समयोंके सत्य होनेकी संभावना है, और इसलिये हमें यह देखना चाहिये, कि कुन्दकुन्दके उक्त समयकी सत्यतामें प्रकारान्तरसे कोई बाधा आती है या कि नहीं—

यह बात मानी हुई है और इसमें कोई मतभेद भी नहीं पाया जाता कि वीरनिर्वाणसे ६८३ वर्षतक अंगज्ञान रहा, उसके बाद फिर कोई अंगज्ञानी—एक भी अंगका पाठी—नहीं हुआ, और कुन्दकुन्दाचार्य अंगज्ञानी नहीं थे । इन्द्रनन्दिश्रुतावतारके कथनानुसार कुन्दकुन्द अन्तिम आचारांगधारी लोहाचार्यकी कई पीढ़ियोंके बाद हुए हैं जिन पीढ़ियोंके लिये ६०–८० वर्षके समयकी कल्पना कर लेना कुछ बेजा नहीं है । और प्राकृत पट्टावलीके अनुसार, भूतबलिको अन्तिम एकांगधारी मान लेनेपर कुन्दकुन्दका समय ६८३ से २०–३० वर्ष बादका ही रह जाता है । परन्तु दोनों ही दृष्टियोंको संक्षिप्त करके यदि यही मान लिया जाय कि कुन्दकुन्द अन्तिम एकांगधारी (लोहाचार्य या भूतबलि) के ठीक बाद हुए हैं तो यह मानना होगा कि वे वीरनिर्वाणसे ६८३ वर्ष बाद हुए हैं । और ऐसी हालतमें, जैसा कि ऊपर जाहिर किया गया है, कुन्दकुन्द किसी तरह भी विक्रमकी पहली शताब्दीके विद्वान् सिद्ध नहीं होते । हाँ यदि यह मान लिया जावे कि कुन्दकुन्द, अंगधारी न होते हुए भी, एकांगधारियोंसे पहले हुए हैं तो उनका समय विक्रमकी पहली शताब्दी बन सकता है । महाशय चक्रवर्ती भी ऐसा ही मानकर चले माळूम होते हैं, जिसका खुलासा इस प्रकार है—

आपने एकादशांगधारियों तक ४६८ वर्षकी गणना की है। इस गणनामें एकादशांगधारियोंका एकत्र समय २२० की जगह १३३ वर्ष माना गया हैं और वह प्राकृत पट्टावलीके अनुसार है। इसी पट्टावलीको लेकर आपने अन्तिम एकादशांगधारी कंसके वाद सुभद्र और यशोभद्रका समय क्रमशः ६ वर्ष और १८ वर्षका वतलाया है। इसके वाद, भद्रवाहु द्वितीयके २३ वर्ष समयका नन्दिसंघकी दूसरी पट्टावलीके साथ मेल देखकर कुन्दकुन्दके समयके लिये उस पट्टावलीका आश्रय लिया है; और पट्टावलीमें भद्रबाहुके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होनेका समय विक्रमराज्य सं० ४ दिया हुआ होनेसे यह प्रतिपादन किया है कि विक्रमका जन्म सुभद्रके उक्त समयारंभसे दूसरे वर्षमें हुआ है—अथवा इस उल्लेखके द्वारा यह सूचित किया है कि विक्रम प्रायः १८ वर्षकी अवस्थामें राज्यासनपर अभिषिक्त हुआ था और उस वक्त यशोभद्रके समयका १५ वाँ वर्ष वीत रहा था। साथ ही, इस पिछली पट्टावलीके आधारपर कुन्दकुन्दसे पहले होनेवाले आचार्योंका जो समय आपने दिया है उससे माल्म होता है कि यशोभद्रके वाद भद्रबाहु द्वितीय, गुप्तिगुप्त, माघनन्दी प्रथम और जिनचंद्र, ये चारों आचार्य ४५ वर्ष ८ महीने ९ दिनके भीतर हुए हैं; और चूंकि भद्रवाहु द्वितीयका आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होना चैत्रसुदी १४ के दिन लिखा है, इससे यह भी माल्म होता है कि वे वीरनिर्वाणसे ४९२ (४६८+६+१८) वर्ष ५ महीने १३ दिन वाद आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए थे। इस तरह पर वीरनिर्वाणसे ५३८ वर्ष १ महीना २२ दिन (४९२ वर्ष ५ महीने

१ वीरनिर्वाण कार्तिक वदी १५ के दिन हुआ था, उसके वाद चैत्रसुदी १४ से पहले ५ महीने १३ दिनका समय और वैठता है।

१३ दिन+४५ वर्ष ८ महीने ९ दिन) वाद, पौपवदी ८ के दिन, आचार्य पद पर कुन्दकुन्दके प्रतिष्टित होनेका विधान किया गया है; अथवा दूसरे शब्दोंमे यों कहना चाहिये कि प्राकृत पट्टावलीके अनुसार जब ७–८ अंगोंके पाठी लोहाचार्यका समय चल रहा था, या श्रुताव-तार और त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदिके अनुसार एकादशांगधारियोंका ही–संभवतः कंसाचार्यका—समय वीत रहा था उस समय कुन्दकुन्दाचार्य-के अस्तित्वका प्रतिपादन किया गया है ।

यद्यपि, अंगज्ञानी न होने पर भी कुन्दकुन्दका अंगज्ञानियोंके समय-में होना कोई असंभव या अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता;—उस समय भी दूसरे ऐसे विद्वान् जरूर होते रहे हैं जो एक भी अंगके पाठी नहीं थे—परन्तु ऐसा मान लेनेपर नीचे लिखी आपत्तियाँ खड़ी होती हैं जिनका अच्छी तरहसे निरसन अथवा समाधान हुए विना कुन्द-कुन्दका यह समय नहीं माना जा सकता, जो कि एक वहुत ही सशं-कित और आपत्तियोग्य पट्टावलीपर अवलम्बित है—

(१) दोनों पट्टावलियोंके आधारपर अर्हद्बलि कुन्दकुन्दके प्रायः समकालीन और शेष माघनन्दि (द्वितीय), धरसेन, पुष्पदन्त तथा भूत-बलि नामके चारों आचार्य कुन्दकुन्दसे एकदम पीछेके विद्वान् पाये जाते हैं, और यह वात इन्द्रनन्दिश्रुतावतारके विरुद्ध पड़ती है ।

(२) गुणधर, नागहस्ति, आर्यमंक्षु, यतिवृपभ और उच्चारणाचार्य भी कुन्दकुन्दसे कितने ही वर्ष वादके विद्वान् ठहरते हैं, और यह वात भी 'श्रुतावतार' के विरुद्ध पड़ती है ।

१ लोहाचार्यका समय वीरनिर्वाणसे ५१५ वर्षके वाद प्रारंभ होता है और वह ५० वर्षका वतलाया गया है । इसलिये कुन्दकुन्दके आचार्य होनेके वाद २७ वर्ष तक और भी लोहाचार्यका समय रहा है ।

(३) किसी भी ग्रंथ अथवा शिलालेखादिमें ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता जिससे यह साफ तौरपर विदित होता हो कि उक्त माघनंदी, धरसेन, पुष्पदंत, भूतबलि, तथा गुणधर, नागहस्ति, आर्यमंक्षु, यतिवृषभ और उच्चारणाचार्य, ये सब अथवा इनमेंसे कोई भी—कुन्दकुन्दकी आचार्यसंततिमें अथवा उनके बाद हुए हैं। कुन्द-कुन्दके बाद होनेवाले आचार्योंकी जगह जगह अनेक नाममालाएँ मिलती हैं, उनमेंसे किसीमें भी इन आचार्योंका कोई नाम न होनेसे इन आचार्योंका कुन्दकुन्दके बाद होना जरूर खटकता है। हाँ एक स्थानपर—श्रवणबेलगोलके १०५ (२५४) नम्बरके शिलालेखमें—ये वाक्य जरूर पाये जाते हैं—

यः पुष्पदन्तेन च भूतबल्याख्येनापि शिष्यद्वितयेन रेजे।
फलप्रदानाय जगज्जनानां प्राप्तोङ्कुराभ्यामिवकल्पभूजः॥
अर्हद्बलिस्संघचतुर्विधं स श्रीकोण्डकुन्दान्वयमूलसंघं।
कालस्वभावादिह जायमान-द्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे॥
सिताम्बरादौ विपरीतरूपेऽखिले विसंघे वितनोतु भेदं।
तत्सेन-नन्दि-त्रिदिवेश-सिंहस्संघेषु यस्तं मनुते कुदृक्षः॥

इन वाक्योंमें यह बतलाया गया है कि "पुष्पदन्त और भूतबलि दोनों अर्हद्बलिके शिष्य थे और उनसे अर्हद्बलि ऐसे राजते थे मानों जगज्जनोंको फल देनेके लिये कल्पवृक्षने दो नये अंकुर ही धारण किये हैं। इन्हीं अर्हद्बलिने कालस्वभावसे उत्पन्न होनेवाले रागद्वेषोंको घटानेके लिये कुन्दकुन्दान्वयरूपी मूलसंघको चार भागोंमें विभाजित किया था और वे विभाग सेन, नन्दि, देव तथा सिंह नामके चारसंघ हैं ....इन चारों संघोंमें जो वास्तविक भेद मानता है वह कुदृष्टि है।"

इस कथनमें मूलसंघका जो ' कुन्दकुन्दान्वय ' विशेषण दिया गया है और उसी कुन्दकुन्दान्वयविशेषित मूलसंघका अर्हद्बलिद्वारा चार संघोंमें विभाजित होना लिखा है उससे, यद्यपि, यह ध्वनि निकलती है कि कुन्दकुन्दान्वय अर्हद्बलिसे पहले प्रतिष्ठित हो चुका था और इस-लिये कुन्दकुन्द अर्हद्बलिसे पहले हुए हैं परंतु यह शिलालेख शक सं० १३२० का लिखा हुआ है जब कि कुन्दकुन्दान्वय बहुत प्रसिद्धिको प्राप्त था और मुनिजनादिक अपनेको कुन्दकुन्दान्वयी कहनेमें गर्व मानते थे। इसलिये यह भी हो सकता है कि वर्तमान कुन्दकुन्दान्वयको मूलसंघसे अभिन्न प्रकट करनेके लिये ही यह विशेषण लगाया गया हो और ऐति-हासिक दृष्टिसे उसका कोई सम्बंध न हो। अर्हद्बलि, जैसा कि ऊपर जाहिर किया जा चुका है पट्टावलियोंके अनुसार कुन्दकुन्दके समकालीन थे—वे कुन्दकुन्दसे प्रायः तीन वर्ष बाद तक ही और जीवित रहे हैं *। ऐसी हालतमें उनके द्वारा कुन्दकुन्दान्वयके इस तरहपर विभाजित किये जानेकी संभावना कम पाई जाती है। इसके सिवाय, अर्हद्बलिद्वारा इस चतुर्विधसंघकी कल्पनाका विरोध श्रवणबेलोलके निम्न शिलावा-क्योंसे होता है—

ततः परं शास्त्रविदां मुनीनामग्रेसरोऽभूदकलंकसूरिः ।
मिथ्यान्धकारस्थगिताखिलार्थाः प्रकाशिता यस्य वचोमयूखैः ॥

---

* प्राकृत पट्टावलीमें अर्हद्बलिका समय वीरनिर्वाणसे ५६५ वर्षके बाद प्रारंभ करके ५९३ तक दिया है, और नन्दिसंघकी दूसरी पट्टावलीसे मालूम होता है कि कुन्दकुन्द ५१ वर्ष १० महीने १० दिन तक आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे जिससे उनका जीवनकाल वीरनि० सं० ५९० तक पाया जाता है और इस तरह पर अर्हद्बलिका कुन्दकुन्दसे कुल तीन वर्ष बाद तक जीवित रहना ठहरता है।

तस्मिन्गते स्वर्गभुवं महर्षौ दिवःपतीन्नर्तुमिव प्रकृष्टान्।
तदन्वयोद्भूतमुनीश्वराणां बभूवुरित्थं भुवि संघभेदाः॥
स योगिसंघश्चतुरः प्रभेदानासाद्य भूयानविरुद्धवृत्तान्।
बभावयं श्रीभगवान्जिनेन्द्रश्चतुर्मुखानीव मिथः समानि॥
देव-नन्दि-सिंह-सेन-संघभेदवर्तिनां
देशभेदतः प्रबोधभाजि देवयोगिनां।
वृत्तितस्समस्ततोऽविरुद्धधर्मसेविनां
मध्यतः प्रसिद्ध एष नन्दि-संघ इत्यभूत्॥

—शिलालेख नं० १०८ (२५८)।

इन वाक्यों द्वारा यह सूचित किया गया है कि अकलंकदेव (राजवार्तिकादि ग्रंथोंके कर्ता) की दिवःप्राप्तिके बाद, उनके वंशके मुनियोंमें, यह चार प्रकारका संघभेद उत्पन्न हुआ जिसका कारण देश-भेद है और जो परस्पर अविरुद्ध रूपसे धर्मका सेवन करनेवाला है। अकलंकसे पहलेके साहित्यमें इन चार प्रकारके संघोंका कोई उल्लेख भी अभीतक देखनेमें नहीं आया जिससे इस कथनके सत्य होनेकी बहुत कुछ संभावना पाई जाती है।

(४) 'षट्खण्डागम'के प्रथम तीन खंडोंपर कुन्दकुन्दने १२ हजार श्लोकपरिमाण एक टीका लिखी, यह उल्लेख भी मिथ्या ठहरता है।

(५) उपलब्ध जैनसाहित्यमें कुन्दकुन्दके ग्रंथ ही सबसे अधिक प्राचीन ठहरते हैं और यह उस सर्वसामान्य मान्यताके विरुद्ध पड़ता है जिसके अनुसार कर्म-प्राभृत और कषाय-प्राभृत नामके वे ग्रंथ ही प्राचीनतम माने जाते हैं जिन पर धवलादि टीकाएँ उपलब्ध हैं।

(६) विद्वज्जनबोधकके उस पद्यमें कुन्दकुन्दका जो समय दिया है और जिसका ' श्रुतावतार ' आदि ग्रंथोंसे समर्थन होना भी ऊपर बतलाया गया है उसे भी असत्य कहना होगा; क्योंकि इस समय और उस समयमें करीब २०० वर्षका अन्तर पाया जाता है ।

(७) इसके सिवाय, पट्टावलीमें कुन्दकुन्दसे पहले ' गुप्तिगुप्त ' और ' जिनचन्द्र ' नामके जिन आचार्योंका उल्लेख है उनकी स्थितिको स्पष्ट करनेकी भी जरूरत होगी; क्योंकि श्रुतसागरसूरिने, बोधपाहुड़की टीकामें ' सीसेणय भद्रबाहुस्स ' का अर्थ देते हुए, 'गुप्तिगुप्त' को दशपूर्वधारी ' विशाखाचार्य'का नामान्तर बतलाया है—

" भद्रबाहुशिष्येण अर्हद्बलि-गुप्तिगुप्तापरनामद्वयेन विशाखाचार्यनाम्ना दशपूर्वधारिणामेकादशानामाचार्याणा मध्ये प्रथमेन......।"

और डाक्टर फ्लीटने उसका समीकरण चंद्रगुप्त (मौर्य) के साथ किया है * । इन दोनों उल्लेखोंसे 'गुप्तिगुप्त' भद्रबाहु श्रुतकेवलीके शिष्य ठहरते हैं परन्तु पट्टावलीमें उन्हें भद्रबाहु द्वितीयका शिष्य अथवा उत्तराधिकारी सूचित किया है । और शिलालेखोंमें 'गुप्तिगुप्त' नामका कोई उल्लेख ही नहीं मिलता । इसी तरहपर 'जिनचन्द्र'की स्थिति भी संदिग्ध है । जिनचंद्र कुन्दकुन्दके गुरु थे, ऐसा किसी भी समर्थ प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता; शिलालेखोंमें कुन्दकुन्दके गुरुरूपसे जिनचंद्रका तो क्या, दूसरे भी किसी आचार्यका नाम नहीं मिलता । हाँ, कुछ शिलालेखोंमें इतना उल्लेख जरूर पाया जाता है कि कुन्दकुन्द भद्रबाहु श्रुतकेवलीके

* देखो 'साउथ इंडियन जैनिज्म,' पृ० २१ ।

शिष्य 'चंद्रगुप्त'के वंशमें हुए हैं ×। इसके सिवाय, जयसेनाचार्यने, पंचास्तिकायकी टीकामें, जहाँ शिवकुमार महाराजके लिये मूल ग्रंथके रचे जानेका विधान किया है वहाँ कुन्दकुन्दको 'कुमारनन्दिसिद्धान्तदेव'का शिष्य भी लिखा है; इससे जिनचंद्रकी स्थितिको स्पष्ट करनेकी और भी ज्यादा जरूरत थी जिसको चक्रवर्ती महाशयने नहीं किया।

ऐसी हालतमें, चक्रवर्ती महाशयने कुन्दकुन्दका जो समय प्रतिपादन किया है वह निरापद, सुनिश्चित और सहसा ग्राह्य माळूम नहीं होता। और इसलिये, उसके आधार पर समंतभद्रका समय निश्चित नहीं किया जा सकता। यदि किसी तरह पर कुन्दकुन्दका यही (विक्रमकी १ ली शताब्दी) समय ठीक सिद्ध हो तो समन्तभद्रका समय इससे ५०-६० वर्ष पीछे माना जा सकता है।

भद्रबाहु-शिष्य कुन्दकुन्द।

यहाँ पर इतना और भी प्रकट कर देना उचित माळूम होता है कि 'बोधप्राभृत' के अन्तमें एक गाथा निम्न प्रकारसे पाई जाती है—

× उदाहरणके लिये देखो श्रवणवेलगोलके ४० वें शि० लेखका वह अंश जो 'पितृकुल और गुरुकुल' प्रकरणमें उद्धृत किया गया है, अथवा १०८ वें शि० लेखका निम्न अंश—

तदीय-शिष्योऽजनि चंद्रगुप्तः समग्र-शीलानत-देववृद्धः।
विवेश यत्तीव्रतपःप्रभाव-प्रभूतकीर्तिर्भुवनान्तराणि ॥
तदीयवंशाकरतः प्रसिद्धादभूददोषा यतिरत्नमाला।
बभौ यदन्तर्मणिवान्मुनीन्द्रस्सकुन्दकुन्दोदितचण्डदण्डः ॥

१ 'अथ श्रीकुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यैः...श्रीमत्कोण्डकुन्दाचार्यदेवैः... विरचिते पंचास्तिकायप्राभृतशास्त्रे...।'

इन कुमारनन्दिका भी कहींसे कोई समर्थन नहीं होता।

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं ।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥ ६१

इस गाथामें यह बतलाया गया है कि जिनेंद्रने—भगवान महावीरने—अर्थरूपसे जो कथन किया है वह भाषासूत्रोंमें शब्दविकारको प्राप्त हुआ है—अनेक प्रकारके शब्दोंमें गूँथा गया है—भद्रबाहुके मुझ शिष्यने उन भाषासूत्रों परसे उसको उसी रूपमें जाना है और (जानकर इस ग्रंथमें) कथन किया है।

इस उल्लेखपरसे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि 'भद्रबाहुशिष्य' का अभिप्राय यहाँ ग्रंथकर्तासे भिन्न किसी दूसरे व्यक्तिका नहीं है, और इसलिये कुन्दकुन्द भद्रबाहुके शिष्य जान पड़ते हैं। उन्होंने इस पद्यके द्वारा—यदि सचमुच ही यह इस ग्रंथका पद्य है तो—अपने कथनके आधारको स्पष्ट करते हुए उसकी विशेष प्रामाणिकताको उद्घोषित किया है। अन्यथा, कुन्दकुन्दसे भिन्न भद्रबाहुके शिष्यद्वारा जाने जाने और कथन किये जानेकी बातका यहाँ कुछ भी सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता। टीकाकार श्रुतसागर भी उस सम्बंधको स्पष्ट नहीं कर सके; उन्होंने 'भद्रबाहु-शिष्य' के लिये जो 'विशाखाचार्य' की कल्पना की है वह भी कुछ युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती। जान पड़ता है टीकाकारने भद्रबाहुको श्रुतकेवली समझकर वैसे ही उनके एक प्रधान शिष्यका उल्लेख कर दिया है और प्रकरणके साथ कथनके सम्बन्धादिकी ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया, इसीसे उसे पढ़ते हुए गाथाका कोई सम्बन्ध स्पष्ट नहीं होता। अब देखना चाहिये कि ये भद्रबाहु कौन हो सकते हैं जिनका कुन्दकुन्दने अपनेको शिष्य सूचित किया है। श्रुतकेवली तो ये प्रतीत नहीं होते; क्योंकि भद्रबाहुश्रुतकेवलीके शिष्य माने जानेसे कुन्दकुन्द विक्रमसे प्रायः ३०० वर्ष पह-

लेके विद्वान् ठहरते हैं और उस वक्त दशपूर्वधारियों जैसे महाविद्वान् मुनिराजोंकी उपस्थितिमें 'कुन्दकुन्दान्वय'के प्रतिष्ठित होनेकी बात कुछ जीको नहीं लगती। इस लिये कुन्दकुन्द उन्हीं भद्रबाहु द्वितीयके शिष्य होने चाहिये जिन्हें प्राचीन ग्रंथकारोंने 'आचारांग' नामक प्रथम अंगके धारियोंमें तृतीय विद्वान् सूचित किया है और पट्टावलीमें जिनके अनन्तर गुप्तिगुप्त, माघनंदी और जिनचंद्रकी कल्पना की गई है। परन्तु पट्टावलीमें इनके आचार्यपदपर प्रतिष्ठित होनेका जो समय वि० सं० ४ दिया है वह कुछ युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता—वह उस कालगणनाको लेकर कायम किया गया माळूम होता है जिसके अनुसार एकादशांगधारियोंका समय २२० वर्षकी जगह १२३ वर्ष माना गया है और जिसका किसी प्राचीन ग्रंथसे कोई समर्थन नहीं होता। उस समय पट्टोंकी ऐसी कोई व्यवस्था भी नहीं थी जैसी कि वह बादकी परिपाटीको लक्ष्यमें लेकर लिखी हुई पट्टावलियों अथवा गुर्वावलियोंसे पाई जाती है; और न ऐसा कोई नियम था जिससे एक आचार्यकी मृत्युपर उनके शिष्यको चाहे वह योग्य हो या न हो—विरासतमें आचार्य पद दिया जाता हो; बल्कि उस समयकी स्थितिका ऐसा बोध होता है कि जब कोई मुनि आचार्यपदके योग्य होता था तभी उसको आचार्यपद दिया जाता था और इस तरह पर एक आचार्यके समयमें उनके कई शिष्य भी आचार्य हो जाते थे और पृथक् रूपसे अनेक मुनिसंघोंका शासन करते थे; अथवा कोई कोई आचार्य अपने जीवनकालमें ही आचार्य पदको छोड़ देते थे और संघका शासन अपने किसी योग्य शिष्यके सपुर्द करके स्वयं उपाध्याय या साधु परमेष्ठिका पद धारण कर लेते थे। इस लिये बहुत प्राचीन आचार्योंके सम्बंधमें पट्टावलियोंमें दिये हुए उनके आचार्यपद पर प्रतिष्ठित होनेके समय

और क्रम पर एकाएक विश्वास नहीं किया जा सकता । उपलब्ध जैन-साहित्यमें, प्रकृत विषयका उल्लेख करनेवाले प्राचीनसे प्राचीन ग्रंथोंपर-से एकादशांगधारियोंका समय वीरनिर्वाणसे ५६५ वर्ष पर्यंत पाया जाता है । इसके बाद ११८ वर्षमें चार एकांगधारी तथा कुछ अंग-पूर्वोंके एकदेशधारी भी हुए हैं और इन्हींमें तीसरे नम्बर पर भद्रबाहु द्वितीयका नाम है । इन चारों आचार्योंका, प्राकृत पट्टावलीमें, जो पृथक् पृथक् समय क्रमशः ६,१८,२३, और ५० वर्ष दिया है उसकी एकत्र संख्या ९७ वर्ष होती है । हो सकता है कि इन मुनियोंके कालपरिमा-णकी यह संख्या ठीक ही हो और बाकी २१(११८–९७) वर्ष तक प्रधानतः अंगपूर्वोंके एकदेशपाठियोंका समय रहा हो । इस हिसाबसे भद्रबाहु (द्वितीय) का समय वीरनिर्वाणसे ५८९ (५६५+६+१८) वर्षके बाद प्रारंभ हुआ और ६१२ वें वर्ष तक रहा माल्रूम होता है । अब यदि यह मान लिया जावे—जिसके मान लेनेमें कोई खास बाधा माल्रूम नहीं होती—कि भद्रबाहुकी समय-समाप्तिसे करीब पाँच वर्ष पहले—वी० नि० से ६०७ वर्षके बाद—ही कुन्दकुन्द उनके शिष्य हुए थे, और साथ ही, पट्टावलीमें जो यह उल्लेख मिलता है कि 'कुन्दकुन्द' ११ वर्षकी अवस्था हो जाने पर मुनि हुए, ३३ वर्ष तक साधारण मुनि रहे और फिर ५१ वर्ष १० महीने १० दिन तक आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे' उसे भी प्रायः सत्य स्वीकार किया जावे, तो कुन्दकुन्दका समय वीरनिर्वाण ६०८ से ६९२ के करीबका हो जाता है । इस समयके भीतर—वीर नि० से ६६२ वर्ष तक—अन्तिम आचारांगधारी 'लोहाचार्य'का समय भी बीत जाता है, और उसके बाद २१ वर्ष तकका अंगपूर्वैकदेशधारियों-अथवा अंगपूर्वपदांशवेदियोंका समय भी निकल जाता है, जिसमें अर्ह-

द्वलि, माघनंदि और धरसेनादिकका समय भी शामिल किया जा-सकता है; क्योंकि त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें अंगपूर्वैकदेशधारियोंके कोई खास नाम नहीं दिये, प्राकृत पट्टावलीमें इनके समयकी गणना एकांगधारियों-के समय (५६६ से ६८३ तक) में ही की गई है—अथवा यों कहिये कि इन्हें ही एकांगधारी वतलाया है—, नन्दिसंघकी 'गुर्वावली'में माघनन्दीको 'पूर्वपदांशवेदी' लिखा है * और 'श्रुतावतार' में अर्हद्वलि, माघनन्दी तथा धरसेन नामके आचार्योंको अंगपूर्वोंके एक-देशज्ञाता सूचित किया है × । इसके सिवाय, श्रवणवेलगोलके शिला-लेख नं० १०५ से, जिसके पद्य ऊपर उद्धृत किये गये हैं, मालूम होता है कि पुष्पदन्त और भूतवलि अर्हद्वलिके शिष्य थे। इन्हीं पुष्प-दन्त और भूतवलिको धरसेनने अपनी मृत्यु निकट देखकर वुलाया था और कर्मप्राभृत शास्त्रका ज्ञान कराया था। इससे अर्हद्वलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतवलि, ये सव प्रायः एक ही समयके विद्वान् मालूम होते हैं। यह दूसरी वात है कि इनमेंसे कोई कोई एक दूसरेसे कुछ वर्ष पीछे तक भी जीवित रहे हैं, और समकालीन विद्वानोंमें ऐसा प्रायः हुआ ही करता है। वाकी 'ततः' 'तदनन्तर' आदि शब्दोंके द्वारा जो इन्हें कहीं कहीं एक दूस-

---

* यथा—'श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन्वलात्कारगणोतिरम्यः।
तत्राभवत्पूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववंद्यः ॥

× यथा—"सर्वांगपूर्वदेशैकदेशवित्पूर्वदेशमध्यगते ।
श्रीपुण्ड्रवर्धनपुरे मुनिरजनि ततोऽर्हद्वल्याख्यः" ॥ ८५ ॥
"तस्यानन्तरमनगारपुंगवो माघनन्दिनामाभूत् ।
सोप्यंगपूर्वदेशं प्रकाश्य समाधिना दिवं यातः" ॥ १०२ ॥
"अग्रायणीयपूर्वस्थितपंचमवस्तुगतचतुर्थमहा—
कर्मप्राभृतकज्ञः सूरिर्धरसेननामाभूत्" ॥ १०४ ॥

ऐसे वादका विद्वान् सूचित किया है उसका अभिप्राय एकके मरण और दूसरेके जन्मसे नहीं बल्कि इनकी आचार्यपदप्राप्ति, ज्ञानप्राप्ति आदिके समयसे या बड़ाई छोटाईके खयालसे समझना चाहिये अथवा उसे ग्रंथकर्ताओंकी क्रमशः कथन करनेकी एक शैली भी कह सकते हैं। अस्तु, कुन्दकुन्दके इस समयके प्रतिष्ठित होनेपर उनके द्वारा 'षट्खण्डागम' सिद्धान्तकी टीकाका लिखा जाना बन सकता है * और पट्टावलीकी उक्त बातको छोड़कर, और भी कितनी ही बातोंपर अच्छा प्रकाश पड़ सकता है।

वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका जन्म मानने और विक्रम संवत्को राज्यसंवत्—जन्मसे १८ वर्ष बाद प्रचलित हुआ—स्वीकार करनेपर कुन्दकुन्दका संपूर्ण मुनिजीवनकाल वि० सं० १२० से २०४ तक आ जाता है। और यदि प्रचलित विक्रम संवत् मृत्युसंवत् हो या जन्मसंवत् तो इस कालमें ६० वर्षकी कमी या १८ वर्षकी वृद्धि करके उसे क्रमशः ६० से १४४ अथवा १३८ से २२२ तक भी कहा जा सकता है। कुन्दकुन्दके इस लम्बे मुनिजीवनमें, जिसमें करीब ५२ वर्षका उनका आचार्य-काल शामिल है, कुन्दकुन्दकी दो तीन पीढ़ियोंका बीत जाना—उनके समयमें मौजूद होना—कोई अस्वाभाविक नहीं है। आश्चर्य नहीं जो समन्तभद्रका मुनिजीवन उनकी वृद्धावस्थामें ही प्रारंभ हुआ हो और इस तरह पर दोनोंके समयमें प्रायः ६० वर्षका अन्तर हो। ऐसी हालतमें समन्तभद्र क्रमशः विक्रमकी दूसरी तीसरी, दूसरी, या

---

* यदि कुन्दकुन्दने वास्तवमें 'षट्खण्डागम' की कोई टीका न लिखी हो तो उनका दीक्षाकाल १०–१५ वर्ष और भी पहले माना जासकता है; और तब उनके पिछले समयको १०–१५ वर्ष कम करना होगा।

तीसरी शताब्दीके विद्वान् ठहरते हैं और यह समय डाक्टर भांडारकरकी रिपोर्टमें उल्लेखित उस पट्टावलीके समयके प्रायः अनुकूल पड़ता है जिसमें समन्तभद्रको शक संवत् ६० (वि० सं० १९५) के करीबका विद्वान् बतलाया गया है और जिसे लेविस राइस आदि विद्वानोंने भी प्रमाण माना है।

यदि किसी तरह पर प्राकृत पट्टावलीकी गणना ही दूसरे प्राचीन ग्रंथोंकी गणनाके मुकाबलेमें ठीक सिद्ध हो, और उसके अनुसार भद्रबाहु द्वितीयका वि० सं० ४ में ही आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होना करार दिया जावे; साथ ही, यह मान लिया जावे कि कुन्दकुन्दने वि० सं० १७ में उनसे दीक्षा ली थी, तो इससे कुन्दकुन्दका मुनिजीवनकाल वि० सं० १७ सं० १०१ तक हो जाता है, और यह वही समय है जो नन्दिसंघकी दूसरी पट्टावलीमें दिया है और जिसपर चक्रवर्ती महाशयके कथन-सम्बंधमें ऊपर विचार किया जा चुका है। इस समयको मान लेने पर समन्तभद्र तो विक्रमकी दूसरी शताब्दीके विद्वान् ठहरते ही हैं परन्तु उन सब आपत्तियोंके समाधानकी भी जरूरत रहती है जो ऊपर खड़ी की गई हैं, अथवा यह मानना पड़ता है कि कुन्दकुन्दाचार्य अर्हद्बलि, माघनंदी, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि और गुणधर आदि आचार्योंसे पहले हुए हैं और उन्होंने पुष्पदन्त-भूतबलिके 'पट्खण्डागम' पर कोई[1] टीका नहीं लिखी।

तुम्बुलूराचार्य और श्रीवर्द्धदेव।

(ङ) श्रुतावतारमें, समन्तभद्रसे पहले और पद्मनन्दि (कुन्दकुन्द) मुनि तथा शामकुण्डाचार्यके बाद, सिद्धान्तग्रंथोंके टीकाकार-

१ कुन्दकुन्दाचार्यकी बनाई हुई 'पट्खण्डागम' सिद्धान्त ग्रंथपर कोई टीका उपलब्ध नहीं है।

रूपसे ' तुम्बुलूराचार्य ' नामके एक विद्वानका उल्लेख किया है जो ' तुम्बुलूर ' ग्रामके रहनेवाले थे और इसीसे ' तुम्बुलूराचार्य ' कहलाते थे । साथ ही, यह बतलाया है कि उन्होंने वह टीका कर्णाट भाषामें लिखी है, ८४ हजार श्लोकपरिमाण है और उसका नाम 'चूडामणि' है * । तुम्बुलूराचार्यका असली नाम 'श्रीवर्द्धदेव' बतलाया जाता है—लेविस राइस, एडवर्ड राइस और एस० जी० नरसिंहाचार्यादि विद्वानोंने अपने अपने ग्रंथोंमें × ऐसा ही प्रतिपादन किया है—परन्तु इस बतलानेका क्या आधार है, यह कुछ स्पष्ट नहीं होता । राजावलिकथेमें 'चूडामणिव्याख्यान' नामसे इस टीकाका उल्लेख है, इसे तुम्बलूराचार्यकी कृति लिखा है और ग्रंथसंख्या भी ८४ हजार दी है; कर्णाटक शब्दानुशासनमें 'चूडामणि' को कनड़ी भाषाका महान् ग्रंथ बतलाते हुए उसे तत्त्वार्थमहाशास्त्रका व्याख्यान सूचित किया है, ग्रंथसंख्या ९६ हजार दी है परंतु ग्रंथकर्ता-का कोई नाम नहीं दिया, और श्रवणबेलगोलके ५४ वें शिलालेखमें श्री-

---

* यथा—अथ तुम्बुलूरनामाचार्योऽभूत्तुम्बुलूरसद्ग्रामे ।
षष्ठेन विना खण्डेन सोऽपि सिद्धान्तयोरुभयोः ॥ १६५ ॥
चतुरधिकाशीतिसहस्रग्रन्थरचनया युक्ताम् ।
कर्णाटभाषयाऽकृत महतीं चूडामणिं व्याख्याम् ॥ १६६ ॥

× देखो 'इंस्क्रिपशंस ऐट श्रवणबेलगोल' पृ० ४४, हिस्टरी आफ कनडीज लिटरेचर' पृ० २४ और 'कर्णाटककविचरिते'के आधारपर पं० नाथूरामजी प्रेमी–लिखित 'कर्णाटकजैनकवि' पृ० ५ ।

१ देखो राजावलिकथेका निम्न अवतरण जिसे राइस साहबने श्रवणबेलगोलके शिलालेखोंकी प्रस्तावनामें उद्धृत किया है—

'तुम्बुलूराचार्यर् एम्भत्त—नाल्कु-सासिर-ग्रन्थ-कर्तृगलागिं कर्णाटकभाषेयिं चूडामणि-व्याख्यानमं माडिदर् ।'

वर्द्धदेवको 'चूडामणि' नामक सेव्य काव्यका कवि बतलाया है और उनकी प्रशंसामें दण्डी कविद्वारा कहा हुआ एक श्लोक भी उद्धृत किया है, यथा—

"चूडामणिः कवीनां चूडामणि-नाम-सेव्यकाव्यकविः।
श्रीवर्द्धदेव एव हि कृतपुण्यः कीर्तिमाहर्त्तुं॥"

य एवमुपश्लोकितो दण्डिना—

"जह्नोः कन्यां जटाग्रेण बभार परमेश्वरः।
श्रीवर्द्धदेव संधत्से जिह्वाग्रेण सरस्वतीं॥"

जान पड़ता है इतने परसे ही—ग्रंथके 'चूडामणि' नामकी समानताको लेकर ही—तुम्बुलूराचार्य और श्रीवर्द्धदेवको एक व्यक्ति करार दिया गया है। परन्तु राजावलिकथे और कर्णाटकशब्दानुशासनमें 'चूडामणि'को जिस प्रकारसे एक व्याख्यान (टीकाग्रंथ) प्रकट किया है उस प्रकारका उल्लेख शिलालेखमें नहीं मिलता, शिलालेखमें स्पष्ट रूपसे उसे एक 'सेव्य-काव्य' लिखा है और वह काव्य कनड़ी भाषाका है ऐसा भी कुछ सूचित नहीं किया है। इसके सिवाय राजावलिकथे आदिमें उक्त व्याख्यानके साथ श्रीवर्द्धदेवके नामका कोई उल्लेख भी नहीं है। इस लिये दोनोंको एक ग्रंथ मान लेना और उसके आधारपर तुम्बुलूराचार्यका श्रीवर्द्धदेवके साथ समीकरण करना संदेहसे खाली नहीं है। आश्चर्य नहीं जो 'चूडामणि' नामका कोई जुदा ही उत्तम संस्कृत काव्य हो और उसीको लेकर दण्डीने, जो स्वयं संस्कृत भाषाके महान् कवि थे, श्रीवर्द्धदेवकी प्रशंसामें उक्त श्लोक कहा हो। परन्तु यदि यही

---

१ अर्थात्—हे श्रीवर्द्धदेव! महादेवने तो जटाग्रमें गंगाको धारण किया था और तुम सरस्वतीको जिह्वाग्रमें धारण किये हुए हो।

मान लिया जाय और यही मानना ठीक हो कि दण्डीकविद्वारा स्तुत श्रीवर्द्धदेव और तुम्बुलूराचार्य दोनों एक ही व्यक्ति थे तो हमें इस कहनेमें जरा भी संकोच नहीं होता कि श्रुतावतारमें समन्तभद्रको तुम्बुलूराचार्यके बादका जो विद्वान् प्रकट किया गया है वह ठीक नहीं है; क्योंकि दण्डीके उक्त श्लोकसे श्रीवर्द्धदेव दण्डीके समकालीन विद्वान् माळूम होते हैं, और दण्डी ईसाकी छठी अथवा विक्रमकी सातवीं शताब्दीके विद्वान् थे * । ऐसी हालतमें श्रीवर्द्धदेव किसी तरह पर भी समन्तभद्रसे पहलेके विद्वान् नहीं हो सकते; बल्कि उनसे कई शताब्दी पीछेके विद्वान् माळूम होते हैं ।

गंगराज्यके संस्थापक सिंहनन्दी ।

(च) शिमोगा जिलेके नगर ताल्लुकेमें हूमच स्थानसे मिला हुआ ३५ नम्बरका एक बहुत बड़ा कनड़ी शिलालेख है, जो शक सं० ९९९ का लिखा हुआ है और एपिग्रेफिया कर्णाटिकाकी आठवीं जिल्दमें प्रकाशित हुआ है । इस शिलालेखपरसे माळूम होता है कि भद्रबाहु स्वामीके बाद यहाँ कलिकालका प्रवेश हुआ—उसका वर्तना आरंभ हुआ—गणभेद उत्पन्न हुआ और फिर उनके वंशक्रममें समन्तभद्र स्वामी उदयको प्राप्त हुए, जो '**कलिकालगणधर**' और '**शास्त्रकार**' थे । समन्तभद्रकी शिष्य-संतानमें सबसे पहले ' शिवकोटि ' आचार्य हुए, उनके बाद ' वरदत्ताचार्य, ' फिर ' तत्त्वार्थसूत्र ' के कर्त्ता

---

* देखो लेविस राइसद्वारा संपादित 'इंस्क्रिपशंस ऐट श्रवणबेलगोल' पृष्ठ ४४, १३५; और 'वेबर्स हिस्टरी आफ् इंडियन लिटरेचर,' पृ० २१३, २३२ ।

१ मल्लिषेणप्रशस्तिमें आर्यदेवको ' राद्धान्त-कर्त्ता ' लिखा है और यहाँ ' तत्त्वार्थसूत्रकर्ता ।' इससे ' राद्धान्त ' और ' तत्त्वार्थसूत्र ' दोनों एक ही ग्रंथके नाम माळूम होते हैं ।

'आर्यदेव,' आर्यदेवके पश्चात् गंगराज्यका निर्माण करनेवाले 'सिंहनन्दि' आचार्य और सिंहनन्दिके पश्चात् एकसंधि 'सुमति भट्टारक' हुए। इनके बाद 'कमलभद्र' पर्यंत और भी कितने ही आचार्योंके नामों तथा कहीं कहीं उनके कामोंका भी क्रमशः उल्लेख किया है। इस शिलालेखका कुछ अंश इस प्रकार है—

"....श्रीवर्द्धमानस्वामिगल तीर्त्थं प्रवर्तिसे गौतमर्ग्गणधरर् एने त्रिज्ञानिगल् अप्प मुणिगल् सलेयू अवर्रिं चतुरंगुलऋद्धि प्राप्तर् एनिसिद कोण्डकुन्दाचार्य्यरिं केलव-कालं योगे भद्रबाहुस्वामिगलिन्द् इत्त कलिकालवर्त्तनेयिं गणभेदं पुट्टिदुद् अवर अन्वयक्रमदिं कलिकालगणधरं शास्त्रकर्त्तुगलुम् एनिसिद समन्तभद्रस्वामिगल् अवर शिष्यसंतानं शिवकोट्याचार्य्यर् अवरिं वरदत्ताचार्य्यर् अवरिं तत्वार्थसूत्रकर्त्तुगल् एनिसिद् आर्य्यदेवर् अवरिं गंगराज्यमं माडिद सिंहनन्द्याचार्य्यर् अवरिन्द् एकसंधिसुमतिभट्टारकर् अवरिं। ....—"

इस लेख परसे यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि जिन सिंहनन्दि आचार्यका गंगराज्यकी संस्थापनासे सम्बंध है वे समन्तभद्रस्वामीके बाद हुए हैं। यद्यपि, इस शिलालेखमें कुछ आचार्योंके नाम आगे पीछे क्रमभंगको लिये हुए भी पाये जाते हैं—जिसका एक उदाहरण भद्रबाहुस्वामीको कुन्दकुन्दसे कुछ काल बादका विद्वान् सूचित करना है—और इसलिये आचार्योंके क्रमसम्बंधमें यह शिलालेख सर्वथा प्रमाण नहीं माना जा सकता; फिर भी इसमें सिंहनन्दिको समन्तभद्रके बादका

१ सिंहनन्दिके इस विशेषण 'गंगराज्यमं माडिद' का अर्थ लेविस राइसने who made the Ganga Kingdom दिया है—अर्थात् यह बतलाया है कि 'जिन्होंने गंगराज्यका निर्माण किया,' (वे सिंहनन्दी आचार्य)।

जो विद्वान् सूचित किया है उसका समर्थन इसी नगर ताल्लुकेके दूसरे शिलालेखोंसे भी होता है जिनके नम्बर ३६ और ३७ हैं। और जो क्रमशः ९९९,१०६९ शक संवतोंके लिखे हुए हैं। यथा—

"....श्रुतकेवलिगल् एनिसिद (एनिप ३७) भद्रबाहुस्वामिगल् (गलंग ३७) मोदलागि पलम्बर् (हलम्बर ३७) आचार्यर् पोदिम्बलियं समन्तभद्रस्वामिगल् उदपिसिदर् अवर अन्वय-दोल (अनन्तरं ३७) गंगराज्यमं माडिद सिंहनन्द्याचार्यर् अवरिं....— ।"

इसके सिवाय, दूसरा ऐसा कोई भी शिलालेख देखनेमें नहीं आता जिसमें, समन्तभद्र और सिंहनन्दि दोनोंका नाम देते हुए, सिंहनन्दिको समन्तभद्रसे पहलेका विद्वान् सूचित किया हो अथवा कमसे कम समन्तभद्रसे पहले सिंहनन्दिके नामका ही उल्लेख किया हो। ऐसी हालतमें समन्तभद्रके सिंहनन्दिसे पूर्ववर्ती विद्वान् होनेकी संभावना अधिक पाई जाती है। यदि वस्तुस्थिति ऐसी ही हो तो इससे लेविस राइस साहबके उस अनुमानका समर्थन होता है जिसे उन्होंने केवल मल्लिषेणप्रशस्तिमें इन विद्वानोंके आगे पीछे नामोल्लेखको देखकर ही लगाया था और इसलिये जो सदोष तथा अपर्याप्त था। इन बादको मिले हुए शिलालेखोंमें 'अवरिं' 'अवर अन्वयदोल्' और 'अवर अनन्तरं' शब्दोंके द्वारा

१ यह ३६ वें शिलालेखका अंश है, ३७ वेंमें भी यह अंश प्रायः इसी प्रकारसे दिया हुआ है, जहाँ कुछ भेद है उसे कोष्टकमें दिखलाकर उसपर नम्बर ३७ दे दिया गया है।

२ मल्लिषेणप्रशस्ति श्रवणबेल्गोलका ५४ वाँ शिलालेख है जो सन् १८८९ में प्रकाशित हुआ था, और नगर ताल्लुकेके उक्त शिलालेख सन् १९०४ में प्रकाशित हुए हैं। वे सन् १८८९ में राइस साहबके सामने मौजूद नहीं थे।

इस बातकी स्पष्ट घोषणा की गई है कि सिंहनन्दि समन्तभद्रके बाद हुए हैं । अस्तु; ये सिंहनन्दि गंगवंशके प्रथम राजा 'कोंगुणिवर्मा'के समकालीन थे और यह बात पहले भी जाहिर की जा चुकी है । सिंहनन्दिने गंगराज्यकी स्थापनामें क्या सहायता की थी, इसका कितना ही उल्लेख अनेक शिलालेखोंमें पाया जाता है, जिसे यहाँ पर उद्धृत करनेकी कोई जरूरत माल्म नहीं होती । यहाँ पर हम सिर्फ इतना ही प्रकट कर देना उचित समझते हैं कि कोंगुणिवर्माका समय ईसाकी दूसरी शताब्दी माना गया है। उनका एक शिलालेख शक सं० २५ का 'नंजनगूढ' ताल्लुकेसे उपलब्ध हुआ है, जिससे माल्म होता है कि कोंगुणिवर्मा वि० सं० १६० (ई० सन् १०३) में राज्यासन पर आरूढ थे । प्रायः यही समय सिंहनन्दिका होना चाहिये, और इस लिये कहना चाहिये कि समन्तभद्र वि० सं० १६० से पहले हुए हैं; परंतु कितने पहले, यह अप्रकट है । फिर भी पूर्ववर्ती मान लेने पर कमसे कम ३० वर्ष पहले तो समन्तभद्रका होना मान ही लिया जा सकता है; क्योंकि ३५ वें शिलालेखमें सिंहनन्दिसे पहले आर्यदेव, वरदत्त और शिवकोटि नामके तीन आचार्योंका और भी उल्लेख पाया जाता है, जिनके लिये १०–१० वर्षका समय मान लेना कुछ अधिक नहीं है। इससे समन्तभद्र विक्रमकी प्रायः दूसरी शताब्दीके पूर्वार्धके विद्वान् माल्म होते हैं । और यह समय उस समयके साथ मेल खाता

---

१ इस शिलालेखका नंबर ११० और आद्यांश निम्न प्रकार है—

"स्वस्ति श्रीमत्कोंगुणिवर्म्मधर्म्ममहाधिराज प्रथम गंगस्य दत्तं शकवर्षगतेषु पंचविंशति २५ नेय शुभकृतु संवत्सरसु फाल्गुनशुद्ध पंचमी शनि रोहणि...... ।'

—एपि० कर्णा०, जिल्द ३ री, सन् १८९४

है जो कुन्दकुन्दको भद्रबाहुका शिष्य मानकर तथा विक्रमसंवतको मृत्यु-संवत् स्वीकार करके ऊपर बतलाया गया है, अथवा भद्रबाहुको वि० सं० ४ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होनेवाला मान लेने पर नन्दिसंघकी पट्टावलीमें दिये हुए कुन्दकुन्दके समयाधार पर जिसकी कल्पना की गई है। अस्तु।

समय-सम्बंधी इस सब कथन अथवा विवेचन परसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि समन्तभद्रके समय-निर्णय-पथमें कितनी रुकावटें पैदा हो रही हैं—क्या क्या दिक्कतें आरही हैं—और कैसी कैसी कठिन अथवा जटिल समस्याएँ उपस्थित हैं, जिन सबको दूर अथवा हल किये बिना समन्तभद्रके यथार्थ समय-सम्बन्धमें कोई जँची तुली एक बात नहीं कही जा सकती। फिर भी इतना तो सुनिश्चित है कि समन्तभद्र विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीसे पीछे अथवा ईसवी सन् ४५० के बाद नहीं हुए; और न वे विक्रमकी पहली शताब्दीसे पहलेके ही विद्वान् मालूम होते हैं—पहलीसे ५ वीं तक पाँच शताब्दियोंके मध्यवर्ती किसी समयमें ही वे हुए हैं। स्थूल रूपसे विचार करने पर हमें समन्तभद्र विक्रमकी प्रायः दूसरी या दूसरी और तीसरी शताब्दीके विद्वान् मालूम होते हैं। परन्तु निश्चयपूर्वक यह बात भी अभी नहीं कही जा सकती। इस समयका विशेष विचार अवसरादिक मिलने पर दूसरे संस्करणके समय किया जायगा। इसमें सन्देह नहीं कि कितने ही प्राचीन आचार्योंका समय इसी तरहकी अनिश्चितावस्था तथा गड़बड़में पड़ा हुआ है और उद्धार किये जानेके योग्य है। समन्तभद्रका समय सुनिश्चित होनेपर उन सभीके समयोंका बहुत कुछ उद्धार हो जायगा। साथ ही, वीर-निर्वाण, विक्रम और शक संवतोंकी समस्याएँ भी हल हो जायँगी; ऐसी दृढ आशा की जाती है।

समय-निर्णय-विषयक इस निबन्धको पढ़कर जो विद्वान् हमें निर्णयमें सहायक ऐसी कोई भी खास बात सुझाएँगे उनका हम हृदयसे आभार मानेंगे।

ग्रन्थ-परिचय ।

स्वामी समन्तभद्राचार्यने कुल कितने ग्रंथोंकी रचना की, वे किस किस विषय अथवा नामके ग्रंथ हैं, प्रत्येककी श्लोकसंख्या क्या है, और उन पर किन किन अचार्यों तथा विद्वानोंने टीका, टिप्पण अथवा भाष्य लिखे हैं; इन सब बातोंका पूरा विवरण देनेके लिये, यद्यपि, साधनाभावसे हम तय्यार नहीं हैं, फिर भी आचार्य महोदयके बनाये हुए जो जो ग्रंथ इस समय उपलब्ध होते हैं, और जिनका पता चलता या उल्लेख मिलता है उन सबका कुछ परिचय, अथवा यथावश्यकता उन पर कुछ विचार, नीचे प्रस्तुत किया जाता है—

१ आप्तमीमांसा ।

समन्तभद्रके उपलब्ध ग्रंथोंमें यह सबसे प्रधान ग्रंथ है और ग्रंथका यह नाम उसके विषयका स्पष्ट द्योतक है। इसे '**देवागम**' स्तोत्र भी कहते हैं। 'भक्तामर' आदि कितने ही स्तोत्रोंके नाम जिस प्रकार उनके कुछ आद्यक्षरों पर अवलम्बित हैं उसी प्रकार 'देवागम्' शब्दोंसे प्रारंभ होनेके कारण यह ग्रंथ भी 'देवागम' कहा जाता है; अथवा अर्हन्त देवका आगम इसके द्वारा व्यक्त होता है–उसका तत्त्व साफ तौरपर समझमें आजाता है–और यह उसके रहस्यको लिये हुए है, इससे भी यह ग्रंथ 'देवागम' कहलाता है। इस ग्रंथके श्लोकों अथवा कारिकाओंकी संख्या ११४ है। परंतु '**इतीयमाप्तमीमांसा**' नामके पद्य नं० ११४ के बाद '**वसुनन्दि**' आचार्यने, अपनी '**देवागमवृत्ति**'में, नीचे लिखा पद्य भी दिया है—

जयति जगति क्लेशावेशप्रपंचहिमांशुमान्
विहतविषमैकान्तध्वान्तप्रमाणनयांशुमान् ।
यतिपतिरजो यस्याधृष्टान्मताम्बुनिधेर्लवान्
स्वमतमतयस्तीर्थ्या नाना परे समुपासते ॥ ११५ ॥

यह पद्य यदि वृत्तिके अंतमें ऐसे ही दिया होता तो हम यह नतीजा निकाल सकते थे कि यह वसुनन्दि आचार्यका ही पद्य है और उन्होंने अपनी वृत्तिके अन्त-मंगलस्वरूप इसे दिया है। परंतु उन्होंने इसकी वृत्ति दी है और साथ ही इसके पूर्व निम्न प्रस्तावनावाक्य भी दिया है—

"कृतकृत्यो निर्व्यूढतत्त्वप्रतिज्ञ आचार्यः श्रीसमन्तभद्र-केसरी प्रमाण-नयतीक्ष्णनखरदंष्ट्राविदारित-प्रवादिकुनयमदविह्वलकुंभिकुंभस्थलपाटनपटुरिदमाह— "

इससे दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं, एक तो यह कि यह पद्य वसुनन्दि आचार्यका नहीं है, दूसरे यह कि वसुनन्दिने इसे समन्तभद्रका ही, ग्रंथके अन्त मंगलस्वरूप, पद्य समझा है और वैसा समझ कर ही इसे वृत्ति तथा प्रस्तावनासहित दिया है। परंतु यह पद्य, वास्तवमें, मूल ग्रंथका अन्तिम पद्य है या नहीं यह बात अवश्य ही विचारणीय है और उसीका यहाँ पर विचार किया जाता है—

इस ग्रंथपर भट्टाकलंकदेवने एक भाष्य लिखा है जिसे '**अष्टशती**' कहते हैं और श्रीविद्यानंदाचार्यने '**अष्टसहस्री**' नामकी एक बड़ी टीका लिखी है जिसे 'आप्तमीमांसालंकृति' तथा 'देवागमालंकृति' भी कहते हैं। इन दोनों प्रधान तथा प्राचीन टीकाग्रंथोंमें इस पद्यको मूल ग्रंथका कोई अंग स्वीकार नहीं किया गया और न इसकी कोई

व्याख्या ही की गई है । 'अष्टशती'में तो यह पद्य दिया भी नहीं । हाँ, 'अष्टसहस्री'में टीकाकी समाप्तिके वाद, इसे निम्न वाक्यके साथ दिया है—

'अत्र शास्त्रपरिसमाप्तौ केचिदिदं मंगलवचनमनुमन्यंते ।'

उक्त पद्यको देनेके वाद '**श्रीमदकलंकदेवाः पुनरिदं वदन्ति**' इस वाक्यके साथ 'अष्टशती'का अन्तिम मंगलपद्य उद्धृत किया है; और फिर निम्न वाक्यके साथ, श्रीविद्यानंदाचार्यने अपना अन्तिम मंगल-पद्य दिया है—

"इति परापरगुरुप्रवाहगुणगणसंस्तवस्य मंगलस्य प्रसिद्धेर्वयं तु स्वभक्तिवशादेवं निवेदयामः ।"

अष्टसहस्रीके इन वाक्योंसे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि 'अष्ट-शती' और 'अष्टसहस्री' के अन्तिम मंगल वचनोंकी तरह यह पद्य भी किसी दूसरी पुरानी टीकाका मंगल वचन है, जिससे शायद विद्या-नंदाचार्य परिचित नहीं थे अथवा परिचित भी होंगे तो उन्हें उसके रचयिताका नाम ठीक माळूम नहीं होगा । इसीलिये उन्होंने, अकलंक-देवके सदश उनका नाम न देकर, '**केचित्**' शब्दके द्वारा ही उनका उल्लेख किया है । हमारी रायमें भी यही वात ठीक जँचती है । ग्रंथकी पद्धति भी उक्त पद्यको नहीं चाहती । माळूम होता है वसुनन्दि आचा-र्यको 'देवागम' की कोई ऐसी ही मूल प्रति उपलब्ध हुई है जो साक्षात् अथवा परम्परया उक्त टीका परसे उतारी गई होगी और जिसमें टीकाका उक्त मंगल पद्य भी गलतीसे उतार लिया गया होगा । लेखकोंकी नासमझीसे ऐसा वहुधा ग्रंथप्रतियोंमें देखा जाता है । 'सनातनग्रंथमाला' में प्रका-शित 'वृहत्स्वयंभूस्तोत्र'के अन्तमें भी टीकाका '**यो निःशेपजिनोक्त**'

नामका पद्य मूलरूपसे दिया हुआ है और उसपर नंबर भी क्रमशः १४४ डाला है। परंतु वह मूलग्रंथका पद्य कदापि नहीं है।

'आप्तमीमांसा'की जिन चार टीकाओंका ऊपर उल्लेख किया गया है उनके सिवाय[1] **'देवागम-पद्यवार्तिकालंकार'** नामकी एक पाँचवीं टीका भी जान पड़ती है जिसका उल्लेख युक्त्यनुशासन-टीकामें निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

'इति देवागमपद्यवार्तिकालंकारे निरूपितप्रायम्'।

इससे माढ्रम होता है कि यह टीका प्रायः पद्यात्मक है। माढ्रम नहीं इसके रचयिता कौन आचार्य हुए हैं। संभव है कि 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार'की तरह इस 'देवागमपद्यवार्तिकालंकार'के कर्ता भी श्रीविद्यानंद आचार्य ही हों और इस तरहपर उन्होंने इस ग्रंथकी एक गद्यात्मक (अष्टसहस्री) और दूसरी यह पद्यात्मक ऐसी दो टीकाएँ लिखी हों परंतु यह बात अभी निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती। अस्तु; इन टीकाओंमें 'अष्टसहस्री' पर '**अष्टसहस्रीविषमपदतात्पर्यटीका**' नामकी एक टिप्पणी लघुसमंतभद्राचार्यने लिखी है और दूसरी टिप्पणी श्वेताम्बरसम्प्रदायके महान् आचार्य तथा नैय्यायिक विद्वान् उपाध्याय श्रीयशोविजयजीकी लिखी हुई है। प्रत्येक टिप्पणी परिमाणमें अष्टसहस्री जितनी ही है—अर्थात् दोनों आठ आठ हजार श्लोकोंवाली हैं। परंतु यह सब कुछ होते हुए भी—ऐसी ऐसी विशालकाय तथा समर्थ टीकाटिप्पणियोंकी उपस्थितिमें भी—'देवागम' अभीतक विद्वानोंके लिये दूरूह और दुर्बोधसा बना हुआ

---

१ देखो माणिकचंद-ग्रंथमालामें प्रकाशित 'युक्त्यनुशासन' पृष्ठ ९४।

है * । इससे पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि इस ग्रंथके ११४ श्लोक कितने अधिक महत्त्व, गांभीर्य तथा गूढार्थको लिये हुए हैं; और इस लिये, श्रीवीरनंदि आचार्यने ‘ निर्मलवृत्तमौक्तिका हारयष्टि ’ की तरह और नरेंद्रसेनाचार्यने ‘ मनुष्यत्व ’ के समान समंतभद्रकी भारतीको जो ‘ दुर्लभ ’ बतलाया है उसमें जरा भी अत्युक्ति नहीं है। वास्तवमें इस ग्रंथकी प्रत्येक कारिकाका प्रत्येक पद ‘ सूत्र ’ है और वह बहुत ही जाँच तौलकर रक्खा गया है—उसका एक भी अक्षर व्यर्थ नहीं है । यही वजह है कि समंतभद्र इस छोटेसे कूजेमें संपूर्ण मतमतान्तरोंके रहस्यरूपी समुद्रको भर सके हैं और इस लिये उसको अधिगत करनेके लिये गहरे अध्ययन, गहरे मनन और विस्तीर्ण हृदयकी खास जरूरत है ।

हिन्दीमें भी इस ग्रंथपर पंडित जयचंद्रायजीकी बनाई हुई एक टीका मिलती है जो प्रायः साधारण है । सबसे पहले यही टीका हमें उपलब्ध हुई थी और इसी परसे हमने इस ग्रंथका कुछ प्राथमिक परिचय प्राप्त किया था । उस वक्त तक यह ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुआ था, और इसलिये हमने बड़े प्रेमके साथ, उक्त टीकासहित, इस ग्रंथकी प्रतिलिपि स्वयं अपने हाथसे उतारी थी । वह प्रतिलिपि अभी तक हमारे पुस्तकालयमें सुरक्षित है । उस वक्तसे बराबर हम इस मूल ग्रंथको देखते आ रहे हैं और हमें यह बड़ा ही प्रिय मालूम होता है।

इस ग्रंथपर कनड़ी, तामिलादि भाषाओंमें भी कितने ही टीका-टिप्पण, विवरण और भाष्य ग्रंथ होंगे परंतु उनका कोई हाल हमें

---

* इस विषयमें, श्वेताम्बर साधु मुनिजिनविजयजी भी लिखते हैं—

"यह देखनेमें ११४ श्लोकोंका एक छोटासा ग्रन्थ मालूम होता है, पर इसका गांभीर्य इतना है कि, इस पर सैकड़ों–हजारों श्लोकोंवाले बड़े बड़े गहन भाष्य-विवरण आदि लिखे जाने पर भी विद्वानोंको यह दुर्गम्यसा दिखाई देता है ।"—जैनहितैषी भाग १४, अंक ६ ।

मालूम नहीं है; इसी लिये यहाँपर उनका कुछ भी परिचय नहीं दिया जा सका।

२ युक्त्यनुशासन।

समन्तभद्रका यह ग्रंथ भी बड़ा ही महत्त्वपूर्ण तथा अपूर्व है और इसका भी प्रत्येक पद बहुत ही अर्थगौरवको लिये हुए हैं। इसमें, स्तोत्रप्रणालीसे, कुल ६४ * पद्यों द्वारा, स्वमत और परमतोंके गुणदोषोंका, सूत्ररूपसे, बड़ा ही मार्मिक वर्णन दिया है, और प्रत्येक विषयका निरूपण, बड़ी ही खूबीके साथ, प्रबल युक्तियोंद्वारा किया गया है। यह ग्रंथ जिज्ञासुओंके लिये हितान्वेषणके उपायस्वरूप है और इसी मुख्य उद्देश्यको लेकर लिखा गया है; जैसा कि ऊपर समंतभद्रके परिचयमें इसीके एक पद्यपरसे, जाहिर किया जा चुका है। श्रीजिनसेनाचार्यने इसे महावीर भगवानके वचनोंके तुल्य लिखा है। इस ग्रंथपर अभीतक श्रीविद्यानंदाचार्यकी बनाई हुई एक ही सुन्दर संस्कृतटीका उपलब्ध हुई है और वह 'माणिकचंद-ग्रंथमाला'में प्रकाशित भी हो चुकी है। इस टीकाके निम्न प्रस्तावना-वाक्यसे मालूम होता है कि यह ग्रंथ 'आप्तमीमांसा'के बादका बना हुआ है—

"श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिराप्तमीमांसायामन्ययोगव्यवच्छेदाद्व्यवस्थापितेन भगवता श्रीमतार्हतान्त्यतीर्थंकरपरमदेवेन मां परीक्ष्य किं चिकीर्षवो भवंत इति ते पृष्टा इव प्राहुः—"

* सन् १९०५ में प्रकाशित 'सनातनजैनग्रन्थमाला'के प्रथम गुच्छकमें इस ग्रंथके पद्योंकी संख्या ६५ दी है, परंतु यह भूल है। उसमें ४० वें नम्बर पर जो 'स्तोत्रे युक्त्यनुशासने' नामका पद्य दिया है वह टीकाकारका पद्य है, मूलग्रंथका नहीं। और मा० ग्रंथमालामें प्रकाशित इस ग्रंथके पद्यों पर गलत नम्बर पड़ जानेसे ६५ संख्या मालूम होती है।

३ 'स्वयंभू'स्तोत्र ।

इसे 'वृहत्स्वयंभूस्तोत्र' और 'समन्तभद्रस्तोत्र' भी कहते हैं। 'स्वयंभुवा' पदसे प्रारंभ होनेके कारण यह 'स्वयंभूस्तोत्र', समाजमें दूसरा छोटा 'स्वयंभूस्तोत्र' भी प्रचलित होनेसे यह 'वृहत्स्वयंभूस्तोत्र' और समन्तभद्रद्वारा विरचित होनेसे यह 'समंतभद्रस्तोत्र' कहलाता है। इसके सिवाय, इसमें चतुर्विंशति स्वयंभुवोंकी—तीर्थंकरों अथवा जिनदेवोंकी—स्तुति है इससे भी इस स्तोत्रका सार्थक नाम 'स्वयंभू-स्तोत्र' है। इस ग्रंथमें अर, नेमि और महावीरको छोड़कर शेष २१ तीर्थंकरोंकी स्तुति पाँच पाँच पद्योंमें की गई है और उक्त तीन तीर्थंकरोंकी स्तुतिके पद्य क्रमशः २०,१० और ८ दिये हैं। इस तरहपर इस ग्रंथकी कुल पद्यसंख्या १४३ है। यह ग्रंथ भी बड़ा ही महत्त्वशाली है, निर्मल सूक्तियोंको लिये हुए है, प्रसन्न तथा स्वल्प पदोंसे विभूषित है और चतुर्विंशति जिनदेवोंके धर्मको प्रतिपादन करना ही इसका एक विषय है। इसमें कहीं कहीं पर—किसी किसी तीर्थंकरके सम्बन्धमें—कुछ पौराणिक तथा ऐतिहासिक बातोंका भी उल्लेख किया गया है, जो बड़ा ही रोचक मालूम होता है। उस उल्लेखको छोड़कर शेष संपूर्ण ग्रंथ स्थान स्थान पर, तात्त्विक वर्णनों और धार्मिक शिक्षाओंसे परिपूर्ण है। यह ग्रंथ अच्छी तरहसे समझकर नित्य पाठ किये जानेके योग्य है।

इस ग्रंथ पर क्रियाकलापके टीकाकार प्रभाचंद्र आचार्यकी बनाई हुई अभी तक एक ही संस्कृतटीका उपलब्ध हुई है। टीका

---

१ 'जैनसिद्धान्त भवन आरा'में इस ग्रंथकी कितनी ही ऐसी प्रतियाँ कनड़ी अक्षरोंमें मौजूद हैं जिन पर ग्रंथका नाम 'समंतभद्रस्तोत्र' लिखा है।

साधारणतया अच्छी है परंतु ग्रंथके रहस्यको अच्छी तरह उद्घाटन करनेके लिये पर्याप्त नहीं है । इस ग्रंथपर अवश्य ही दूसरी कोई उत्तम टीका भी होगी, जिसे भंडारोंसे खोज निकालनेकी जरूरत है । यह स्तोत्र ' क्रियाकलाप ' ग्रंथमें भी संग्रह किया गया है, और क्रियाकलापपर पं० आशाधरजीकी भी एक टीका कही जाती है, इससे इस ग्रंथपर पं० आशाधरजीकी भी टीका होनी चाहिये ।

४ जिनस्तुतिशतक ।

यह ग्रंथ ' स्तुतिविद्या,' 'जिनस्तुतिशतं,' ' जिनशतक ' और ' जिनशतकालंकार ' नामोंसे भी प्रसिद्ध है । **' स्तुतिविद्या '** यह नाम ग्रंथके **'स्तुतिविद्यां प्रसाधये '** इस आदिम प्रतिज्ञावाक्यसे निकलता है, **'जिनस्तुतिशतं'** नाम ग्रंथके अन्तिम कविकाव्यनामगर्भचक्रवृत्तसे पाया जाता है, उसीका **' जिनस्तुतिशतक'** हो गया है । और **'जिनशतक'** यह संक्षिप्त नाम टीकाकारने अपनी टीकामें सूचित किया है । अलंकारप्रधान होनेसे इसे ही **' जिनशतकालंकार'** भी कहते हैं । यह ग्रंथ भक्तिरससे लबालब भरा हुआ है, रचनाकौशल तथा चित्रकाव्योंके उत्कर्पको लिये हुए है, सर्व अलंकारोंसे भूपित है और इतना दुर्गम तथा कठिन है कि विना संस्कृतटीकाकी सहायताके अच्छे अच्छे विद्वान् भी इसे सहसा नहीं लगा सकते । इस ग्रंथका कितना ही परिचय पहले दिया जा चुका है । इसके पद्योंकी संख्या ११६ है और उन पर एक ही संस्कृतटीका उपलब्ध है जो नरसिंह भट्टकी बनाई हुई है । नरसिंह भट्टकी टीकासे पहले इस ग्रंथपर दूसरी कोई टीका नहीं थी, ऐसा टीकाकारके एक वाक्यसे पाया जाता है; और उसका यही अर्थ हो सकता है कि नरसिंहजीके समयमें अथवा उनके देशमें, इस ग्रंथकी कोई टीका उपलब्ध नहीं थी । उससे पहले

कोई टीका इस ग्रंथपर बनी ही नहीं, यह अर्थ समझमें नहीं आता और न युक्तिसंगत ही माॡम होता है । अस्तु, यह टीका अच्छी और उपयोगी बनी है ।

समंतभद्रने, ग्रंथके प्रथम पद्यमें, अपनी इस रचनाका उद्देश 'आगसां जये' पदके द्वारा पापोंको जीतना सूचित किया है और टीकाकारने भी इस स्तुतिको 'घनकठिनघातिकर्मेंधनदहनसमर्था' लिखा है । इससे पाठक इस ग्रंथके आध्यात्मिक महत्त्वका कितना ही अनुभव प्राप्त कर सकते हैं ।

५ 'रत्नकरंडक' उपासकाध्ययन ।

इसे 'रत्नकरंडश्रावकाचार' भी कहते हैं । उपलब्ध ग्रंथोंमें, श्रावकाचार विषयका, यह सबसे प्रधान, प्राचीन, उत्तम और सुप्रसिद्ध ग्रंथ है । श्रीवादिराजसूरिने इसे 'अक्षय्यसुखावह' और प्रभाचंद्रने 'अखिल सागारमार्गको प्रकाशित करनेवाला निर्मल सूर्य' लिखा है । इसका विशेष परिचय और इसके पद्योंकी जाँच आदि-विषयक विस्तृत लेख इस ग्रंथकी प्रस्तावनामें दिया गया है ।

---

१ यह विशेषण 'पार्श्वनाथचरित'के जिस पद्यमें दिया है वह पहले 'गुणादिपरिचय'में उद्धृत किया जा चुका है ।

२ देखो, रत्नकरण्डकटीकाका अन्तिम पद्य, जो इस प्रकार है—

येनाज्ञानतमो विनाश्य निखिलं भव्यात्मचेतोगतं
सम्यग्ज्ञानमहांशुभिः प्रकटितः सागारमार्गोऽखिलः ।
स श्रीरत्नकरण्डकामलरविः संसृत्सरिच्छोषको
जीयादेष समन्तभद्रमुनिपः श्रीमान्प्रभेन्दुर्जिनः ॥

३ इस विस्तृत 'प्रस्तावना'में नीचे लिखे विषय हैं—

-यहाँपर हम सिर्फ इतना ही बतला देना चाहते हैं कि इस ग्रंथपर अभी-तक केवल एक ही संस्कृतटीका उपलब्ध हुई है, जो प्रभाचंद्राचार्यकी बनाई हुई है और वह प्रायः साधारण है । हाँ, 'रत्नकरंडकविषमपद्व्याख्यान' नामका एक संस्कृत टिप्पण भी इस ग्रंथपर मिलता है, जिसके कर्त्ताका नाम उस परसे मालूम नहीं हो सका । यह टिप्पण आराके जैनसिद्धान्तभवनमें मौजूद है । कनड़ी भाषामें भी इस ग्रंथकी कुछ टीकाएँ उपलब्ध हैं परंतु उनके रचयिताओं आदिका भी कुछ पता नहीं चल सका । तामिल भाषाका 'अरुंगलछेप्पु' (रत्नकरंडक) ग्रंथ, जिसकी पद्य-संख्या १८० है, इस ग्रंथको सामने रखकर बनाया गया मालूम होता है और कुछ अपवादोंको छोड़कर इसीका प्रायः भावानुवाद अथवा सारांश जान पड़ता है * । परंतु वह कब बना और किसने बनाया, इसका कोई पता नहीं चलता और न उसे तामिल भाषाकी टीका ही कह सकते हैं ।

६ जीवसिद्धि ।

इस ग्रंथका पता श्रीजिनसेनाचार्यप्रणीत 'हरिवंशपुराण' के उस पद्यसे चलता है जो 'गुणादिपरिचय' में उद्धृत किया जा चुका है । ग्रंथका विषय उसके नामसे ही प्रकट है और वह बड़ा ही उपयोगी विषय है । श्रीजिनसेनाचार्यने समंतभद्रके इस प्रवचनको

---

१ ग्रन्थपरिचय, २ ग्रन्थपर संदेह, ३ ग्रंथके पद्योंकी जाँच, ४ संदिग्ध पद्य, ५ अधिक पद्योंवाली प्रतियाँ, ६ जाँचका सारांश, ७ टीका और टीकाकार प्रभाचन्द्र ।

* यह राय हमने इस ग्रंथके उस अंग्रेजी अनुवादपरसे कायम की है जो गत वर्ष १९२३–२४ के अंग्रेजी जैनगजटके कई अंकोंमें the Casket of Gems नामसे प्रकाशित हुआ है ।

भी महावीर भगवानके वचनोंके तुल्य बतलाया है। इससे पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि यह ग्रंथ कितने अधिक महत्त्वका होगा। दुर्भाग्यसे यह ग्रंथ अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ। माल्म नहीं किस भंडारमें बंद पड़ा हुआ अपना जीवन शेप कर रहा है अथवा शेप कर चुका है। इसके शीघ्र अनुसंधानकी बड़ी जरूरत है।

७ तत्त्वानुशासन।

'दिगम्बरजैनग्रंथकर्ता और उनके ग्रंथ' नामकी सूचीमें दिये हुए समन्तभद्रके ग्रंथोंमें 'तत्त्वानुशासन' का भी एक नाम है। श्वेताम्बर कान्फ्रेंसद्वारा प्रकाशित 'जैनग्रंथावली' में भी 'तत्त्वानुशासन'को समन्तभद्रका बनाया हुआ लिखा है, और साथ ही यह भी प्रकट किया है कि उसका उल्लेख सूरतके उन सेठ भगवानदास कल्याणदासजीकी प्राइवेट रिपोर्टमें है जो पिटर्सनसाहबकी नौकरीमें थे। और भी कुछ विद्वानोंने, समंतभद्रका परिचय देते हुए, उनके ग्रंथोंमें 'तत्त्वानुशासन'का भी नाम दिया है। इस तरह पर इस ग्रंथके अस्तित्वका कुछ पता चलता है। परंतु यह ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। अनेक प्रसिद्ध भंडारोंकी सूचियाँ देखनेपर भी हमें यह माल्म नहीं हो सका कि यह ग्रंथ किस जगह मौजूद है और न इसके विपयमें हम अभीतक किसी शास्त्रवाक्यादिपरसे यह ही पूरी तौरपर निश्चय कर सके हैं कि समंतभद्रने, वास्तवमें, इस नामका कोई ग्रंथ बनाया है, फिर भी यह खयाल जरूर होता है कि समंतभद्रका ऐसा कोई ग्रंथ होना चाहिये। खोज करनेसे इतना पता जरूर चलता है कि **रामसेनके** उस 'तत्त्वानुशासन'से भिन्न, जो माणिकचंद्रग्रंथमालामें '**नागसेन**'के नामसे मुद्रित हुआ है, कोई

१ 'नागसेन' नाम गलतीसे दिया गया है। वास्तवमें वह ग्रन्थ नागसेनके शिष्य 'रामसेन' का बनाया हुआ है; और यह बात हमने एक लेखद्वारा सिद्ध की थी जो जुलाई सन् १९२० के जैनहितैपीमें प्रकाशित हुआ है।

दूसरा 'तत्त्वानुशासन' ग्रंथ भी बना है, जिसका एक पद्य 'नियमसारकी 'पद्मप्रभ' मलधारिदेव-विरचित टीकामें, 'तथा चोक्तं तत्त्वानुशासने' इस वाक्यके साथ, पाया जाता है और वह पद्य इस प्रकार है—

" उत्सर्ज्य कायकर्माणि भावं च भवकारणं ।
स्वात्मावस्थानमव्यग्रं कायोत्सर्गः स उच्यते ॥ "

यह पद्य 'माणिकचंदग्रंथमाला'में प्रकाशित उक्त तत्त्वानुशासनमें नहीं है, और इस लिये यह किसी दूसरे ही 'तत्त्वानुशासन'का पद्य है, ऐसा कहनेमें कुछ भी संकोच नहीं होता। पद्य परसे ग्रंथ भी कुछ कम महत्त्वका मालूम नहीं होता। बहुत संभव है कि जिस 'तत्त्वानुशासन'का उक्त पद्य है वह स्वामी समंतभद्रका ही बनाया हुआ हो।

इसके सिवाय, श्वेताम्बरसम्प्रदायके प्रधान आचार्य श्रीहरिभद्रसूरिने, अपने 'अनेकान्तजयपताका'में 'वादिमुख्य समंतभद्र'के नामसे नीचे लिखे दो श्लोक उद्धृत किये हैं, और ये श्लोक शान्त्याचार्यविरचित 'प्रमाणकलिका' तथा वादि देवसूरिविरचित 'स्याद्वादरत्नाकर' में भी समंतभद्रके नामसे उद्धृत पाये जाते हैं*—

बोधात्मा चेच्छब्दस्य न स्यादन्यत्र तच्छ्रुतिः ।
यद्बोद्धारं परित्यज्य न बोधोऽन्यत्र गच्छति ॥
न च स्यात्प्रत्ययो लोके यः श्रोत्रा न प्रतीयते ।
शब्दाभेदेन सत्येवं सर्वः स्यात्परचित्तवत् ॥

* देखो जैनहितैषी भाग १४, अंक ६ (पृ० १६१) तथा 'जैनसाहित्यसंशोधक' अंक प्रथममें मुनि जिनविजयजीका लेख ।

और 'समयसार'की जयसेनाचार्यकृत 'तात्पर्यवृत्ति' में भी, समन्तभद्रके नामसे कुछ श्लोकोंको उद्धृत करते हुए एक श्लोक निम्न प्रकारसे दिया है—

धर्मिणोऽनन्तरूपत्वं धर्माणां न कथंचन।
अनेकान्तोप्यनेकान्त इति जैनमतं ततः ॥

ये तीनों श्लोक समंतभद्रके उपलब्ध ग्रंथों (नं० १ से ५ तक) में नहीं पाये जाते और इस लिये यह स्पष्ट है कि ये समन्तभद्रके किसी दूसरे ही ग्रंथ अथवा ग्रंथोंके पद्य हैं जो अभी तक अज्ञात अथवा अप्राप्त हैं। आश्चर्य नहीं जो ये भी इस 'तत्त्वानुशासन' ग्रंथके ही पद्य हों। यदि ऐसा हो और यह ग्रंथ उपलब्ध हो जाय तो उसे जैनियोंका महाभाग्य समझना चाहिये। ऐसी हालतमें इस ग्रंथकी भी शीघ्र तलाश होनेकी बड़ी जरूरत है।

८ प्राकृत व्याकरण।

'जैनग्रंथावली' से माळूम होता है कि समन्तभद्रका बनाया हुआ एक 'प्राकृतव्याकरण' भी है जिसकी श्लोकसंख्या १२०० है। उक्त ग्रंथावलीमें इस ग्रंथका उल्लेख 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' की रिपोर्टके आधार पर किया गया है और उक्त सोसाइटीमें ही उसका अस्तित्व बतलाया गया है। परंतु हमारे देखनेमें अभीतक यह ग्रंथ नहीं आया और न उक्त सोसाइटीकी वह रिपोर्ट ही देखनेको मिल सकी है; * इस लिये इस विषयमें हम अधिक

* रिपोर्ट आदिको देखकर आवश्यक सूचनाएँ देनेके लिये कई बार बाबू छोटेलालजी जैन, मेम्बर रायल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, को लिखा गया और प्रार्थनाएँ की गई परन्तु उन्होंने उनपर कोई ध्यान नहीं दिया, अथवा ऐसे कामोंके लिए परिश्रम करना उचित नहीं समझा।

कुछ भी कहना नहीं चाहते। हाँ, इतना जरूर कह सकते हैं कि स्वामी समंतभद्रका वनाया हुआ यदि कोई व्याकरण ग्रंथ उपलब्ध हो जाय तो वह जैनियोंके लिये एक वड़े ही गौरवकी चीज होगी। श्रीपूज्यपाद आचार्यने अपने 'जैनेंद्र व्याकरण'में '**चतुष्टयं समंतभद्रस्य**' इस सूत्रके द्वारा समन्तभद्रके मतका उल्लेख भी किया है, इससे समंतभद्रके किसी व्याकरणका उपलब्ध होना कुछ भी अस्वाभाविक नहीं है।

९ प्रमाणपदार्थ।

मूडविद्रीके 'पडुवस्तिभंडार' की सूचीसे[1] माल्लम होता है कि वहाँपर 'प्रमाणपदार्थ' नामका एक संस्कृत ग्रंथ समंतभद्राचार्यका वनाया हुआ मौजूद है और उसकी श्लोकसंख्या १००० है। साथ ही, उसके विषयमें यह भी लिखा है कि वह अधूरा है। माल्लम नहीं, ग्रंथकी यह श्लोकसंख्या उसकी किसी टीकाको साथ लेकर है या मूलका ही इतना परिमाण है। यदि अपूर्ण मूलका ही इतना परिमाण है तव तो यह कहना चाहिये कि समंतभद्रके उपलब्ध मूलग्रंथोंमें यह सवसे वड़ा ग्रंथ है, और न्यायविषयक होनेसे वड़ा ही महत्त्व रखता है। यह भी माल्लम नहीं कि यह ग्रंथ किस प्रकारका अधूरा है—इसके कुछ पत्र नष्ट हो गये हैं या ग्रंथकार इसे पूरा ही नहीं कर सके हैं। विना देखे इन सव वातोंके विषयमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता *। हाँ, इतना जरूर हम कहना चाहते हैं कि यदि

१ यह सूची आराके 'जैनसिद्धान्त भवन'में मौजूद है।

* इस ग्रंथके विषयमें आवश्यक वातोंको मालूम करनेके लिये मूडविद्रीके पं० लोकनाथजी शास्त्रीको दो पत्र दिये गये। एक पत्रके उत्तरमें उन्होंने ग्रंथको निकलवाकर देखने और उसके सम्वन्धमें यथेष्ट सूचनाएँ देनेका वादा भी किया था, परंतु नहीं मालूम क्या वजह हुई जिससे वे हमें फिर कोई सूचना नहीं दे सके। यदि शास्त्रीजीसे हमारे प्रश्नोंका उत्तर मिल जाता तो हम पाठकोंको इस ग्रंथका अच्छा परिचय देनेके लिये समर्थ हो सकते थे।

यह ग्रंथ, वास्तवमें, इन्हीं समंतभद्राचार्यका बनाया हुआ है तो इसका बहुत शीघ्र उद्धार करने और उसे प्रकाशमें लानेकी बड़ी ही आवश्यकता है ।

१० कर्मप्राभृत-टीका ।

प्राकृत भाषामें, श्रीपुष्पदन्त-भूतबल्याचार्यविरचित 'कर्मप्राभृत' अथवा 'कर्मप्रकृतिप्राभृत' नामका एक सिद्धान्त ग्रंथ है । यह ग्रंथ १ जीवस्थान, २ क्षुल्लकबन्ध, ३ बन्धस्वामित्व, ४ भाववेदना, ५ वर्गणा और ६ महाबन्ध नामके छह खंडोंमें विभक्त है, और इस लिये इसे 'षट्खण्डागम' भी कहते हैं। समन्तभद्रने इस ग्रंथके प्रथम पांच खंडोंकी यह टीका बड़ी ही सुन्दर तथा मृदु संस्कृत भाषामें लिखी है और इसकी संख्या अड़तालीस हजार श्लोकपरिमाण है; ऐसा श्रीइन्द्रनंद्याचार्यकृत 'श्रुतावतार' ग्रंथके निम्नवाक्योंसे पाया जाता है । साथ ही, यह भी माळूम होता है कि समन्तभद्र 'कषायप्राभृत' नामके द्वितीय सिद्धान्त ग्रंथकी भी व्याख्या लिखना चाहते थे; परंतु द्रव्यादि-शुद्धिकरण-प्रयत्नोंके अभावसे, उनके एक सधर्मी साधुने (गुरुभाईने) उन्हें वैसा करनेसे रोक दिया था—

कालान्तरे ततः पुनरासन्ध्यां पलरि (?) तार्किकार्कोभूत् १६७
श्रीमान्समंतभद्रस्वामीत्यथ सोऽप्यधीत्य तं द्विविधं ।
सिद्धान्तमतः षट्खंडागमगतखंडपंचकस्य पुनः ॥ १६८ ॥
अष्टौ चत्वारिंशत्सहस्रसद्ग्रंथरचनया युक्तां ।
विरचितवानतिसुन्दरमृदुसंस्कृतभाषया टीकाम् ॥ १६९ ॥
विलिखन् द्वितीयसिद्धान्तस्य व्याख्यां सधर्मणा स्वेन ।
द्रव्यादिशुद्धिकरणप्रयत्नविरहात्प्रतिनिषिद्धः ॥ १७० ॥

इस परिचयमें उस स्थानविशेष अथवा ग्रामका नाम भी दिया हुआ है जहाँ तार्किकसूर्य स्वामी समंतभद्रने उदय होकर अपनी टीका-किरणोंसे कर्मप्राभृत सिद्धान्तके अर्थको विकसित किया है। परंतु पाठकी कुछ अशुद्धिके कारण वह नाम स्पष्ट नहीं हो सका। 'आसन्ध्यां पलरि' की जगह 'आसीद्यः पलरि' पाठ देकर पं० जिनदास पार्श्वनाथजी फडकुलेने उसका अर्थ 'आनंद नांवाच्या गांवांत'—आनंद नामके गाँवमें—दिया है। परंतु इस दूसरे पाठका यह अर्थ कैसे हो सकता है, यह बात कुछ समझमें नहीं आती। पूछने पर पंडितजी लिखते हैं "श्रुतपंचमीक्रिया इस पुस्तकके मराठी अनुवादमें समंतभद्राचार्यका जन्म आनंदमें होना लिखा है," बस इतने परसे ही आपने 'पलरि' का अर्थ 'आनंद गाँवमें' कर दिया है, जो ठीक माल्रम नहीं होता, और न आपका 'आसीद्यः' पाठ ही हमें ठीक जँचता है; क्योंकि 'अभूत्' क्रियापदके होनेसे 'आसीत्' क्रियापद व्यर्थ पड़ता है। हमारी रायमें, यदि कर्णाटक प्रान्तमें 'पल्ली' शब्दके अर्थमें 'पलर' या इसीसे मिलता जुलता कोई दूसरा शब्द व्यवहृत होता हो और सप्तमी विभक्तिमें उसका 'पलरि' रूप बनता हो तो यह कहा जा सकता है कि 'आसन्ध्यां' की जगह 'आनंद्यां' पाठ होगा, और तब ऐसा आशय निकल सकेगा कि समंतभद्रने 'आनंदी पल्ली' में अथवा 'आनंदमठ' में ठहरकर इस टीकाकी रचना की है।

११ गन्धहस्ति महाभाष्य ।

कहा जाता है कि स्वामी समन्तभद्रने उमास्वातिके 'तत्त्वार्थसूत्र' पर 'गंधहस्ति' नामका एक महाभाष्य भी लिखा है जिसकी श्लोक-

१ 'गंधहस्ति' एक बड़ा ही महत्त्वसूचक विशेषण है—गंधेभ, गंधगज और गंधद्विप भी इसीके पर्याय नाम हैं। जिस हाथीकी गंधको पाकर दूसरे हाथी

संख्या ८४ हजार है, और उक्त 'देवागम' स्तोत्र ही जिसका मंगलाचरण है । इस ग्रंथकी वर्षोंसे तलाश हो रही है । बम्बईके सुप्रसिद्ध-दानवीर सेठ माणिकचंद हीराचंदजी जे० पी० ने इसके दर्शन मात्र करा देनेवालेके लिये पाँचसौ रुपये नकदका पारितोषिक भी निकाला था, और हमने भी, 'देवागम' पर मोहित होकर, उस समय यह संकल्प किया था कि यदि यह ग्रंथ उपलब्ध हो जाय तो हम इसके अध्ययन, मनन और प्रचारमें अपना शेष जीवन व्यतीत करेंगे—परन्तु आज तक किसी भी भण्डारसे इस ग्रंथका कोई पता नहीं चला । एक बार अखबारोंमें ऐसी खबर उड़ी थी कि यह ग्रंथ आस्ट्रिया देशके एक प्रसिद्ध नगर (वियना) की लायब्रेरीमें मौजूद है । और इस पर दो एक विद्वानोंको वहाँ भेजकर ग्रंथकी कापी मँगानेके लिये कुछ चंदे वगैरहकी योजना भी हुई थी, परंतु बादमें मालूम हुआ कि वह खबर गलत थी—उसके मूलमें ही भूल हुई है—और इस लिये दर्शनोत्कंठित जनताके हृदयमें उस समाचारसे जो कुछ मंगलमय आशा बँधी थी वह फिरसे निराशामें परिणत हो गई ।

हम जैनसाहित्य परसे भी इस ग्रंथके अस्तित्वकी बराबर खोज करते

नहीं ठहरते-भाग जाते अथवा निर्मद और निस्तेज हो जाते हैं—उसे 'गंधहस्ती' कहते हैं । इसी गुणके कारण कुछ खास खास विद्वान् भी इस पदसे विभूषित रहे हैं । समन्तभद्रके सामने प्रतिवादी नहीं ठहरते थे, यह बात पहले विस्तारके साथ 'गुणादिपरिचय' में बतलाई जा चुकी है; इससे 'गंधहस्ती' अवश्य ही समन्तभद्रका विरुद अथवा विशेषण रहा होगा और इसीसे उनके महाभाष्यको गंधहस्ति महाभाष्य कहते होंगे । अथवा गंधहस्ति-तुल्य होनेसे ही वह गंधहस्ति महाभाष्य कहलाता होगा और इससे यह समझना चाहिये कि वह सर्वोत्तम भाष्य है-दूसरे भाष्य उसके सामने फीके, श्रीहीन और निस्तेज जान पड़ते हैं ।

आ रहे हैं। अवतकके मिले हुए उल्लेखों द्वारा प्राचीन जैनसाहित्य परसे इस ग्रंथका जो कुछ पता चलता है उसका सार इस प्रकार है—

(१) कवि हस्तिमल्लके 'विक्रान्त कौरव' नाटककी प्रशस्तिमें एक पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यानगंधहस्तिप्रवर्तकः ।
स्वामी समन्तभद्रोऽभूद्देवागमनिदेशकः ॥

यही पद्य 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' ग्रंथकी प्रशस्तिमें भी दिया हुआ है, जिसे पं० अय्यपार्यने शक सं० १२४१ में बना कर समाप्त किया था; और उसकी किसी किसी प्रतिमें '**प्रवर्तकः**' की जगह '**विधायकः**' और '**निदेशकः**' की जगह '**कवीश्वरः**' पाठ भी पाया जाता है; परंतु उससे कोई अर्थभेद नहीं होता अथवा यों कहिये कि पद्यके प्रतिपाद्य विषयमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस पद्यमें यह बतलाया गया है कि "स्वामी समन्तभद्र 'तत्त्वार्थसूत्र' के '**गंधहस्ति**' नामक व्याख्यान (भाष्य) के प्रवर्तक—अथवा विधायक—हुए हैं और साथ ही वे '**देवागम**' के निदेशक—अथवा कवीश्वर—भी थे।"

इस उल्लेखसे इतना तो स्पष्ट माऌम होता है कि समन्तभद्रने 'तत्त्वार्थसूत्र' पर 'गंधहास्ति' नामका कोई भाष्य अथवा महाभाष्य लिखा है परंतु यह माऌम नहीं होता कि 'देवागम' (आप्तमीमांसा) उस भाष्यका मंगलाचरण है। 'देवागम' यदि मंगलाचरण रूपसे उस भाष्यका ही एक अंश होता तो उसका पृथक् रूपसे नामोल्लेख करनेकी यहाँ कोई जरूरत नहीं थी; इस पद्यमें उसके पृथक् नामनिर्देशसे यह स्पष्ट ध्वनि

१ कवि हस्तिमल्ल विक्रमकी १४ वीं शताब्दीमें हुए हैं।

निकलती है कि वह समन्तभद्रका एक स्वतंत्र और प्रधान ग्रंथ है। देवागम (आप्तमीमांसा) की अन्तिम कारिका भी इसी भावको पुष्ट करती हुई नजर आती है और वह निम्न प्रकार है—

इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छतां।
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये ॥[1]

वसुनन्दि आचार्यने, अपनी टीकामें इस कारिकाको 'शास्त्रार्थोपसंहार-कारिका'[2] लिखा है, और इसकी टीकाके अन्तमें समंतभद्रका 'कृतकृत्यः निर्व्यूढतत्त्वप्रतिज्ञः'[3] इत्यादि विशेषणोंके साथ उल्लेख किया है। विद्यानंदाचार्यने, अष्टसहस्रीमें, इस कारिकाके द्वारा प्रारब्धनिर्वहण—प्रारंभ किये हुए कार्यकी परिसमाप्ति—आदिको सूचित करते हुए, 'देवागम' को 'स्वोक्तपरिच्छेद शास्त्र'[4] बतलाया है—अर्थात्, यह प्रतिपादन किया है कि इस शास्त्रमें जो दश परिच्छेदोंका विभाग पाया जाता है वह स्वयं स्वामी समन्तभद्रका किया हुआ है। अकलंकदेवने भी, ऐसा[5] ही प्रतिपादन किया है। और इस सब कथनसे

---

१ जो लोग अपना हित चाहते ह उन्हें लक्ष्य करके, यह 'आप्तमीमांसा' सम्यक् और मिथ्या उपदेशके अर्थविशेषकी प्रतिपत्तिके लिये कही गई है।

२ शास्त्रके विषयका उपसंहार करनेवाली अथवा उसकी समाप्तिकी सूचक कारिका।

३ ये दोनों विशेषण समन्तभद्रके द्वारा प्रारंभ किये हुए ग्रंथकी परिसमाप्तिको सूचित करते हैं।

४ "इति देवागमाख्ये स्वोक्तपरिच्छेदे शास्त्रे (स्वेनोक्ताः परिच्छेदा दश यस्मिंस्तत् स्वोक्तपरिच्छेदमिति ग्राह्यं तत्र) विहितेयमाप्तमीमांसा सर्वज्ञविशेष-परीक्षा......" —अष्टसहस्री।

५ "इति स्वोक्तपरिच्छेदविहितेयमाप्तमीमांसा सर्वज्ञविशेषपरीक्षा।" —अष्टशती।

'देवागम'का एक स्वतंत्र शास्त्र होना पाया जाता है, जिसकी समाप्ति उक्त कारिकाके साथ हो जाती है; और यह प्रतीत नहीं होता कि वह किसी टीका अथवा भाष्यका आदिम मंगलाचरण है; क्योंकि किसी ग्रंथपर टीका अथवा भाष्य लिखते हुए नमस्कारादि रूपसे मंगलाचरण करनेकी जो पद्धति पाई जाती है वह इससे विभिन्न माल्रुम होती है और उसमें इस प्रकारसे परिच्छेदभेद नहीं देखा जाता। इसके सिवाय उक्त कारिकासे भी यह सूचित नहीं होता कि यहाँ तक मंगलाचरण किया गया है और न ग्रंथके तीनों टीकाकारों—अकलंक, विद्यानंद तथा वसुनन्दी नामके आचार्यों—मेंसे हा किसीने अपनी टीकामें इसे 'गंधहस्ति महाभाष्यका मंगलाचरण' सूचित किया है, बल्कि गंधहस्ति महाभाष्यका कहीं नाम तक भी नहीं दिया। और भी कितने ही उल्लेखोंसे देवागम (आप्तमीमांसा) एक स्वतंत्र ग्रंथके रूपमें उल्लेखित मिलता है *। और इस लिये कवि हस्तिमल्लादिकके उक्त पद्य परसे

---

* यथा—

१–गोविन्दभट्ट इत्यासीद्विद्वान्मिथ्यात्ववर्जितः।
देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सद्दर्शनान्वितः॥
—विक्रान्तकौरव प्र०।

२–स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते॥
—वादिराजसूरि (पा० च०)

३–जीयात् समन्तभद्रस्य देवागमनसंज्ञिनः।
स्तोत्रस्य भाष्यं कृतवानकलंको महर्द्धिकः॥
अलं चकार यस्सार्वमाप्तमीमांसितं मतं।
स्वामिविद्यादिनंदाय नमस्तस्मै महात्मने॥
—नगरताल्लुकेका शि० लेख नं० ४६ (E. C, VIII.)

देवागमकी स्वतंत्रतादि–विषयक जो नतीजा निकाला गया है उसका बहुत कुछ समर्थन होता है।

कवि हस्तिमल्लादिकके उक्त पद्यसे यह भी मालूम नहीं होता कि जिस तत्त्वार्थसूत्र पर समन्तभद्रने गंधहस्ति नामका भाष्य लिखा है वह उमास्वातिका 'तत्त्वार्थसूत्र' अथवा 'तत्त्वार्थशास्त्र' है या कोई दूसरा तत्त्वार्थसूत्र। हो सकता है कि वह उमास्वातिका ही तत्त्वार्थसूत्र हो, परन्तु यह भी हो सकता है कि वह उससे भिन्न कोई दूसरा ही तत्त्वार्थसूत्र अथवा तत्त्वार्थशास्त्र हो, जिसकी रचना किसी दूसरे विद्वानाचार्यके द्वारा हुई हो; क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रोंके रचयिता अकेले उमास्वाति ही नहीं हुए हैं–दूसरे आचार्य भी हुए हैं–और न सूत्रका अर्थ केवल गद्यमय संक्षिप्त सूचनावाक्य या वाक्यसमूह ही है बल्कि वह 'शास्त्र' का पर्याय नाम भी है और पद्यात्मक शास्त्र भी उससे अभिप्रेत होते हैं। यथा—

कायस्थपद्मनाभेन रचितः पूर्वसूत्रतः।—यशोधरचरित्र।
तथोद्दिष्टं मयात्रापि ज्ञात्वा श्रीजिनसूत्रतः।—भद्रबाहुचरित्र।
भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं सुत्तं।—पंचास्तिकाय।
देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सद्दर्शनान्वितः।—वि० कौरव प्र०।
एतच्च........मूलाराधनाटीकायां सुस्थितसूत्रे विस्तरतः समर्थितं द्रष्टव्यं।—अनगारधर्मामृतटीका।

अतएव तत्त्वार्थसूत्रका अर्थ 'तत्त्वार्थविषयक शास्त्र' होता है और इसीसे उमास्वातिका तत्त्वार्थसूत्र 'तत्त्वार्थशास्त्र' और 'तत्त्वार्थाधिगममोक्षशास्त्र' कहलाता है। '**सिद्धान्तशास्त्र**' और '**राद्धान्तसूत्र**' भी

१ यह गाथाबद्ध 'भगवती आराधना' शास्त्रके एक अधिकारका नाम है।

तत्त्वार्थशास्त्र अथवा तत्त्वार्थसूत्रके नामान्तर हैं । इसीसे आर्यदेवको एक जगह 'तत्त्वार्थसूत्र' का और दूसरी जगह 'राद्धान्त' का कर्त्ता लिखा है * और पुष्पदन्त, भूतबल्यादि आचार्यों द्वारा विरचित सिद्धान्तशास्त्रोंको भी तत्त्वार्थशास्त्र या तत्त्वार्थमहाशास्त्र कहा जाता है । इन सिद्धान्त शास्त्रोंपर तुम्बुलूराचार्यने कनडी भाषामें 'चूडामणि' नामकी एक बड़ी टीका लिखी है जिसका परिमाण इन्द्रनन्दि-'श्रुतावतार'में ८४ हजार और 'कर्णाटकशब्दानुशासन' में ९६ हजार श्लोकोंका बतलाया है । भट्टाकलंकदेवने, अपने 'कर्णाटक शब्दानुशासन' में कनडी भाषाकी उपयोगिताको जतलाते हुए, इस टीका का निम्न प्रकारसे उल्लेख किया है—

"न चैष (कर्णाटक) भाषा शास्त्रानुपयोगिनी । तत्त्वार्थमहाशास्त्रव्याख्यानस्य षण्णवतिसहस्रप्रमितग्रंथसंदर्भरूपस्य चूडामण्यभिधानस्य महाशास्त्रस्यान्येषां च शब्दागम-युक्त्यागम-परमागम-विषयाणां तथा काव्य-नाटक-कलाशास्त्र-विषयाणां च बहूनां ग्रंथानामपि भाषाकृतानामुपलभ्यमानत्वात् ।"

* यथा—(१) "......भवरिं तत्त्वार्थसूत्रकर्तुगल् एनिसिद् आर्यदेवर..."

—नगरताल्लुकेका शि० लेख नं० ३५० ।

(२) "आचार्यवर्यो यतिरार्यदेवो राद्धान्तकर्ता ध्रियतां स मूर्ध्नि ।"

श्र० बे० शिलालेख नं० ५४ (६७) ।

१ ये 'अष्टशती' आदि ग्रंथोंके कर्तासे भिन्न दूसरे भट्टाकलंक हैं, जो विक्रमकी १७ वीं शताब्दीमें हुए हैं । इन्होंने कर्णाटकशब्दानुशासनको ई० सन् १६०४ (शक १५२६) में बनाकर समाप्त किया है ।

२ देखो, राइस साहबकी 'इंस्क्रिप्शंस ऐट श्रवणबेल्गोल' नामकी पुस्तक, सन् १८८९ की छपी हुई ।

इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि ' चूडामणि ' जिन दोनों (कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत) सिद्धान्त शास्त्रोंकी टीका कहलाती है, उन्हें यहाँ ' तत्त्वार्थमहाशास्त्र ' के नामसे उल्लेखित किया गया है । इससे ' सिद्धान्तशास्त्र ' और ' तत्त्वार्थशास्त्र ' दोनोंकी, एकार्थताका समर्थन होता है और साथ ही यह पाया जाता है कि कर्मप्राभृत तथा कषायप्राभृत ग्रंथ ' तत्त्वार्थशास्त्र ' कहलाते थे । तत्त्वार्थविषयक होनेसे उन्हें ' तत्त्वार्थशास्त्र ' या ' तत्त्वार्थसूत्र ' कहना कोई अनुचित भी प्रतीत नहीं होता ।

इन्हीं तत्त्वार्थशास्त्रोंमेंसे ' कर्मप्राभृत ' सिद्धान्तपर समन्तभद्रने भी एक विस्तृत संस्कृतटीका लिखी है जिसका परिचय पहले दिया जा चुका है और जिसकी संख्या ' इन्द्रनंदि-श्रुतावतार ' के अनुसार ४८ हजार और ' विबुधश्रीधर-विरचित श्रुतावतार ' के मतसे ६८ हजार श्लोक परिमाण है । ऐसी हालतमें, आश्चर्य नहीं कि कवि हस्तिमल्लादिकने अपने उक्त पद्यमें समन्तभद्रको तत्त्वार्थसूत्रके जिस ' गंधहस्ति ' नामक व्याख्यानका कर्ता सूचित किया है वह यही टीका अथवा भाष्य हो । जब तक किसी प्रबल और समर्थ प्रमाणके द्वारा, बिना किसी संदेहके, यह माळूम न हो जाय कि समन्तभद्रने उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रपर ही ' गंधहस्ति ' नामक महाभाष्यकी रचना की थी तब तक उनके उक्त सिद्धान्तभाष्यको भी गंधहस्तिमहाभाष्य माना जा सकता है और उसमें यह पद्य कोई बाधक प्रतीत नहीं होता ।

(२) आराके जैनसिद्धान्त भवनमें ताड़पत्रों पर लिखा हुआ, कनड़ी भाषाका एक अपूर्ण ग्रंथ है, जिसका तथा जिसके कर्त्ताका नाम माळूम नहीं हो सका, और जिसका विषय उमास्वातिके तत्त्वार्थाधिगम-

सूत्रके तीसरे अध्यायसे सम्बंध रखता है । इस ग्रंथके प्रारंभमें नीचे लिखा वाक्य मंगलाचरणके तौर पर मोटे अक्षरोंमें दिया हुआ है—

" तत्त्वार्थव्याख्यानषण्णवतिसहस्रगन्धहस्तिमहाभाष्यविधायत(क)देवागमकवीश्वरस्याद्वादविद्याधिपतिसमन्तभद्रान्वयपेनुगोण्डेयलक्ष्मीसेनाचार्यर दिव्यश्रीपादपद्मंगलिगे नमोस्तु ।"

इस वाक्यमें 'पेनुगोण्डे' के रहनेवाले लक्ष्मीसेनाचार्यके[1] चरण कमलोंको नमस्कार किया गया है और साथ ही यह बतलाया गया है कि वे उन समन्तभद्राचार्यके वंशमें हुए हैं जिन्होंने तत्त्वार्थके व्याख्यान स्वरूप ९६ हजार ग्रंथपरिमाणको लिये हुए गंधहस्ति नामक महाभाष्यकी रचना की है और जो 'देवागम'के कवीश्वर तथा स्याद्वादविद्याके अधीश्वर (अधिपति) थे ।

यहाँ समन्तभद्रके जो तीन विशेषण दिये गये हैं उनमेंसे पहले दो विशेषण प्रायः वे ही हैं जो 'विक्रान्तकौरव' नाटक और 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' के उक्त पद्यमें—खासकर उसकी पाठान्तरित शकलमें—पाये जाते हैं । विशेषता सिर्फ इतनी है कि इसमें 'तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यान' की जगह 'तत्त्वार्थव्याख्यान' और 'गंधहस्ति' की जगह 'गंधहस्तिमहाभाष्य' ऐसा स्पष्टोल्लेख किया है । साथ ही, गंधहस्तिमहाभाष्यका परिमाण भी ९६ हजार दिया है, जो उसके प्रचलित परिमाण (८४ हजार) से १२ हजार अधिक है ।

---

१ लक्ष्मीसेनाचार्यके एक शिष्य मल्लिषेणदेवकी निषद्याका उल्लेख श्रवणबेलगोलके १६८ वें शिलालेखमें पाया जाता है और वह शि० लेख ई० स० १४०० के करीबका बतलाया गया है । संभव है कि इन्हीं लक्ष्मीसेनके शिष्यकी निषद्याका वह लेख हो और इससे लक्ष्मीसेन १४ वीं शताब्दीके लगभगके विद्वान् हों । लक्ष्मीसेन नामके दो विद्वानोंका और भी पता चला है परंतु वे १६ वीं और १८ वीं शताब्दीके आचार्य हैं ।

इस उल्लेखसे भी 'देवागम' के एक स्वतंत्र तथा प्रधान ग्रंथ होनेका पता चलता है, और यह माल्रूम नहीं होता कि गन्धहस्तिमहाभाष्य जिस 'तत्त्वार्थ' ग्रंथका व्याख्यान है वह उमास्वातिका 'तत्त्वार्थसूत्र' है या कोई दूसरा तत्त्वार्थशास्त्र; और इसलिये, इस विषयमें जो कुछ कल्पना और विवेचना ऊपर की गई है उसे यथा-संभव यहाँ भी समझ लेना चाहिये। रही ग्रंथसंख्याकी बात, वह बेशक उसके प्रचलित परिमाणसे भिन्न है और कर्मप्राभृतटीकाके उस परिमाणसे भी भिन्न है जिसका उल्लेख इन्द्रनन्दी तथा विबुध श्रीधरके 'श्रुतावतार' नामक ग्रंथोंमें पाया जाता है। ऐसी हालतमें यह खोजनेकी जरूरत है कि कौनसी संख्या ठीक है। उपलब्ध जैनसाहित्यमें, किसी भी आचार्यके ग्रंथ अथवा प्राचीन शिलालेख परसे प्रचलित संख्याका कोई समर्थन नहीं होता—अर्थात्, ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता जिससे गंधहस्ति महाभाष्यकी श्लोकसंख्या ८४ हजार पाई जाती हो;—बल्कि ऐसा भी कोई उल्लेख देखनेमें नहीं आता जिससे यह माल्रूम होता हो कि समन्तभद्रने ८४ हजार श्लोक-संख्यावाला कोई ग्रंथ निर्माण किया है, जिसका संबंध गंधहस्ति महा-भाष्यके साथ मिला लिया जाता; और इसलिये महाभाष्यकी प्रचलित संख्याका मूल माल्रूम न होनेसे उस पर संदेह किया जा सकता है। श्रुतावतारमें 'चूडामणि' नामके कनड़ी भाष्यकी संख्या ८४ हजार दी है; परंतु कर्णाटक शब्दानुशासनमें भट्टाकलंकदेव उसकी संख्या ९६ हजार लिखते हैं और यह संख्या स्वयं ग्रंथको देखकर लिखी हुई माल्रूम होती है; क्योंकि उन्होंने ग्रंथको 'उपलभ्यमान' बतलाया है। इससे श्रुतावतारमें समंतभद्रके सिद्धान्तागम-भाष्यकी जो संख्या ४८ हजार दी है उस पर भी संदेहको अवसर मिल सकता है, खासकर

ऐसी हालतमें जब कि विबुध श्रीधरके 'श्रुतावतार'में उसकी संख्या ६८ हजार दी है। संभव है कि वह संख्या ८४ हजार हो—अंकोंके आगे पीछे लिखे जानेसे कहीं पर ४८ हजार लिखी गई हो और उसीके आधारपर ४८ हजारका गलत उल्लेख कर दिया गया हो—या ९६ हजार हो अथवा ६८ हजार वगैरह कुछ और ही हो; और यह भी संभव है कि उक्त वाक्यमें जो संख्या दी गई है वही ठीक न हो—वह किसी गलतीसे ८४ हजार या ४८ हजार आदिकी जगह लिखी गई हो। परन्तु इन सब बातोंके लिये विशेष अनुसंधान तथा खोजकी जरूरत है और तभी कोई निश्चित बात कही जा सकती है। हाँ, उक्त वाक्यमें दी हुई महाभाष्यकी संख्या और किसी एक श्रुतावतारमें दी हुई समन्तभद्रके सिद्धान्तागम भाष्यकी संख्या दोनों यदि सत्य साबित हों तो यह जरूर कहा जा सकता है कि समन्तभद्रका गंधहस्तिमहाभाष्य उनके सिद्धान्तागम-भाष्य (कर्मप्राभृत-टीका) से भिन्न है, और वह उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका भाष्य हो सकता है।

(३) उमास्वातिके 'तत्त्वार्थसूत्र' पर 'राजवार्तिक' और 'श्लोकवार्तिक' नामके दो भाष्य उपलब्ध हैं जो क्रमशः अकलंकदेव तथा

१ अंकोंका आगे पीछे लिखा जाना कोई अस्वाभाविक नहीं है, वह कभी कभी जल्दीमें हो जाया करता है। उदाहरणके लिये डा० सतीशचंद्रकी 'हिस्टरी आफ इंडियन लाजिक'को लीजिये, उसमें उमास्वातिकी आयुका उल्लेख करते हुए ८४ की जगह ४८ वर्ष, इसी अंकोंके आगे पीछेके कारण, लिखे गये हैं। अन्यथा, डाक्टर साहबने उमास्वातिका समय ईसवी सन् १ से ८५ तक दिया है। वे यदि इसे न देते तो वहाँ आयुके विषयमें और भी ज्यादा भ्रम होना संभव था।

विद्यानंदाचार्यके बनाये हुए हैं । ये वार्तिकके ढंगसे लिखे गये हैं और 'वार्तिक' ही कहलाते हैं । वार्तिकोंमें उक्त, अनुक्त और दुरुक्त—कहे हुए, बिना कहे हुए और अन्यथा कहे हुए—तीनों प्रकारके अर्थोंकी चिन्ता, विचारणा अथवा अभिव्यक्ति हुआ करती है । जैसा कि श्रीहेमचंद्राचार्य-प्रतिपादित 'वार्तिक'के निम्न लक्षणसे प्रकट है,—

'उक्तानुक्तदुरुक्तार्थचिन्ताकारि तु वार्तिकम् ।'[1]

इससे वार्तिक भाष्योंका परिमाण पहले भाष्योंसे प्रायः कुछ बढ़ जाता है[2] । जैसे सर्वार्थसिद्धिसे राजवार्तिकका और राजवार्तिकसे श्लोकवार्तिकका परिमाण बढ़ा हुआ है । ऐसी हालतमें उक्त तत्त्वार्थसूत्र पर समंतभद्रका ८४ या ९६ हजार श्लोक संख्यावाला भाष्य यदि पहलेसे मौजूद था तो अकलंकदेव और विद्यानंदके वार्तिक भाष्यका अलग अलग परिमाण उससे जरूर कुछ बढ़ जाना चाहिये था, परंतु बढ़ना तो दूर रहा वह उलटा उससे कई गुणा कम है । इससे यह नतीजा निकलता है कि या तो समन्तभद्रने उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र पर वैसा कोई भाष्य नहीं लिखा—उन्होंने सिद्धान्तग्रंथ पर जो भाष्य लिखा है वही 'गंधहस्ति महाभाष्य' कहलाता होगा—और या लिखा है तो वह अकलंकदेव तथा विद्यानंदसे पहले ही नष्ट हो चुका था, उन्हें उपलब्ध नहीं हुआ ।

---

१ A rule which explains what is said or but imperfectly said and supplies omissions.

—V. S. Apte's dictionary.

२ वार्तिकभाष्योंसे भिन्न दूसरे प्रकारके भाष्यों अथवा टीकाओंका परिमाण भी बढ़ जाता है, ऐसा अभिप्राय नहीं है । वह चाहे जितना कम भी हो सकता है ।

(४) शाकटायन व्याकरणके 'उपज्ञाते' सूत्रकी टीकामें टीकाकार श्रीअभयचन्द्रसूरि लिखते हैं—

"तृतीयान्तादुपज्ञाते प्रथमतो ज्ञाते यथायोगं अणादयो भवन्ति ॥ अर्हता प्रथमतो ज्ञातं आर्हतं प्रवचनं । सामन्तभद्रं महाभाष्यमित्यादि ॥"

१ यह तीसरे अध्यायके प्रथम पादका १८२ वाँ सूत्र है और अभयचंद्रसूरिके मुद्रित 'प्रक्रियासंग्रह'में इसका क्रमिक नं० ७४६ दिया है। देखो, कोल्हापुरके 'जैनेन्द्रमुद्रणालय'में छपा हुआ सन् १९०७ का संस्करण।

२ ये अभयचंद्रसूरि वे ही अभयचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती मालूम होते हैं जो केशववर्णीके गुरु तथा 'गोम्मटसार'की 'मन्दप्रवोधिका' टीकाके कर्ता थे; और 'लघीयस्त्रय'के टीकाकार भी ये ही जान पड़ते हैं। 'लघीयस्त्रय'की टीकामें टीकाकारने अपनेको मुनिचंद्रका शिष्य प्रकट किया है और मंगलाचरणमें मुनिचंद्रको भी नमस्कार किया है; 'मंदप्रवोधिका' टीकामें भी 'मुनि'को नमस्कार किया गया है और शाकटायन व्याकरणकी इस 'प्रक्रियासंग्रह' टीकामें भी 'मुनीन्द्र'को नमस्कार पाया जाता है और वह 'मुनीन्दु' (=मुनिचंद्र) का पाठान्तर भी हो सकता है। साथ ही, इन तीनों टीकाओंके मंगलाचरणोंकी शैली भी एक पाई जाती है—प्रत्येकमें अपने गुरुके सिवाय, मूलग्रंथकर्ता तथा जिनेश्वर (जिनाधीश) को भी नमस्कार किया गया है और टीका करनेकी प्रतिज्ञाके साथ टीकाका नाम भी दिया है। इससे ये तीनों टीकाकार एक ही व्यक्ति मालूम होते हैं और मुनिचंद्रके शिष्य जान पड़ते हैं। केशववर्णीने गोम्मटसारकी कनड़ी टीका शक सं० १२८१ (वि० सं० १४१६) में बनाकर समाप्त की है, और मुनिचंद्र विक्रमकी १३ वीं १४ वीं शताब्दीके विद्वान् थे। उनके अस्तित्व समयका एक उल्लेख सौंदत्तिके शिलालेखमें शक सं० ११५१ (वि० सं० १२८६) का और दूसरा श्रवणवेलगोलके १३७ (३४७) नंवरके शिलालेखमें शक सं० १२०० (वि० सं० १३३५) का पाया जाता है। इस लिये ये अभयचंद्रसूरि विक्रमकी प्रायः १४ वीं शताब्दीके विद्वान् मालूम होते हैं। बहुत संभव है कि वे अभयसूरि सैद्धान्तिक भी ये ही अभयचंद्र हों जो 'श्रुतमुनि'के शास्त्रगुरु थे

यहाँ तृतीयान्तसे उपज्ञात अर्थमें अणादि प्रत्ययोंके होनेसे जो रूप होते हैं उनके दो उदाहरण दिये गये हैं—एक 'आर्हत-प्रवचन' और दूसरा 'सामन्तभद्र–महाभाष्य'। साथ ही, 'उपज्ञात'का अर्थ 'प्रथमतो ज्ञात'–विना उपदेशके प्रथम जाना हुआ—किया है। अमरकोशमें भी 'आद्य ज्ञान'को 'उपज्ञा' लिखा है। इस अर्थकी दृष्टिसे अर्हन्तके द्वारा प्रथम जाने हुए प्रवचनको जिस प्रकार 'आर्हत प्रवचन' कहते हैं उसी प्रकार (समन्तभद्रेण प्रथमतो विनोपदेशेन–ज्ञातं सामन्तभद्रं) समन्तभद्रके द्वारा विना उपदेशके प्रथम जाने हुए महाभाष्यको 'सामन्तभद्र महाभाष्य' कहते हैं, ऐसा समझना चाहिये; और इससे यह ध्वनि निकलती है कि समन्तभद्रका महाभाष्य उनका स्वोपज्ञ भाष्य है—उन्हींके किसी ग्रंथ पर रचा हुआ भाष्य है। अन्यथा, इसका उल्लेख **'टः प्रोक्ते'** सूत्रकी टीकामें किया जाता, जहाँ 'प्रोक्त' तथा 'व्याख्यात' अर्थमें इन्हीं प्रत्ययोंसे बनेहुए रूपोंके उदाहरण दिये हैं और उनमें 'सामन्तभद्रं' भी एक उदाहरण है परन्तु उसके साथमें 'महाभाष्यं' पद

और जिन्हें श्रुतमुनिके 'भावसंग्रह'की प्रशस्तिमें शब्दागम, परमागम और तर्कागमके पूर्ण जानकार (विद्वान्)' लिखा है। उनका समय भी यही पाया जाता है; क्योंकि श्रुतमुनिके अणुव्रतगुरु और गुरुभाई बालचंद्र मुनिने शक सं० ११९५ (वि० सं० १३३०) में 'द्रव्यसंग्रह'सूत्र पर एक टीका लिखी है (देखो 'कर्णाटककविचरिते')। परन्तु श्रुतमुनिके दीक्षागुरु अभयचंद्र सैद्धान्तिक इन अभयचंद्रसूरिसे भिन्न जान पड़ते हैं; क्योंकि श्रवणबेलगोलके शि० लेख नं० ४१ और १०५ में उन्हें माघनंदीका शिष्य लिखा है। लेकिन समय उनका भी विक्रमकी १३ वीं १४ वीं शताब्दी है। अभयचंद्र नामके दूसरे कुछ विद्वानोंका अस्तित्व विक्रमकी १६ वीं और १७ वीं शताब्दियोंमें पाया जाता है। परंतु वे इस 'प्रक्रियासंग्रह'के कर्ता मालूम नहीं होते।

१ यह उसी तीसरे अध्यायके प्रथम पादका १६९ वाँ सूत्र है; और प्रक्रियासंग्रहमें इसका क्रमिक नं० ७४३ दिया है।

नहीं है । क्योंकि दूसरेके ग्रंथ पर रचे हुए भाष्यका अथवा यों कहिये कि उस ग्रंथके अर्थका प्रथम ज्ञान भाष्यकारको नहीं होता बल्कि मूल ग्रंथकारको होता है । परन्तु यहाँ पर हमें इस चर्चामें अधिक जानेकी जरूरत नहीं है । हम इस उल्लेख परसे सिर्फ इतना ही बतलाना चाहते हैं कि इसमें समन्तभद्रके महाभाष्यका उल्लेख है और उसे 'गन्धहस्ति' नाम न देकर 'सामन्तभद्र महाभाष्य'के नामसे ही उल्लेखित किया गया है । परन्तु इस उल्लेखसे यह मालूम नहीं होता कि वह भाष्य कौनसे ग्रंथ-पर लिखा गया है । उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रकी तरह वह कर्मप्राभृत सिद्धान्तपर या अपने ही किसी ग्रंथपर लिखा हुआ भाष्य भी हो सकता है । ऐसी हालतमें, महाभाष्यके निर्माणका कुछ पता चलनेके सिवाय, इस उल्लेखसे और किसी विशेषताकी उपलब्धि नहीं होती ।

(५) स्याद्वादमंजरी नामके श्वेताम्बर ग्रंथमें एक स्थानपर 'गंध-हस्ति' आदि ग्रंथोंके हवालेसे अवयव और प्रदेशके भेदका निम्न प्रकार-से उल्लेख किया है —

"यद्यप्यवयवप्रदेशयोर्गन्धहस्त्यादिषु भेदोऽस्ति तथापि नात्र सूक्ष्मेक्षिका चिन्त्या ।"

इस उल्लेखसे सिर्फ 'गंधहस्ति' नामके एक ग्रंथका पता चलता है परन्तु यह मालूम नहीं होता कि वह मूल ग्रंथ है या टीका, दिगम्बर है या श्वेताम्बर और उसके कर्त्ताका क्या नाम है । हो सकता है कि, इसमें 'गंधहस्ति' से समन्तभद्रके गंधहस्तिमहाभाष्यका ही अभिप्राय हो, जैसा कि पं० जवाहरलाल शास्त्रीने ग्रंथकी भाषाटीकामें सूचित किया

---

१ यह हेमचन्द्राचार्य-विरचित 'अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका'की टीका है जिसे मल्लिषेणसूरिने शक सं० १२१४ (वि० सं०) १३४९ में बनाकर समाप्त किया है ।

है; परन्तु वह श्वेताम्बरोंका कोई ग्रंथ भी हो सकता है जिसकी इस प्रकारके उल्लेख-अवसरपर अधिक संभावना पाई जाती है। क्योंकि दोनों ही सम्प्रदायोंमें एक नामके अनेक ग्रंथ होते रहे हैं;—और नामोंकी यह परस्पर समानता हिन्दुओं तथा बौद्धोंतकमें पाई जाती हैं। अतः इस नाममात्रके उल्लेखसे किसी विशेषताकी उपलब्धि नहीं होती।

(६) 'न्यायदीपिका'[1] में आचार्य धर्मभूषणने अनेक स्थानों पर 'आप्तमीमांसा' के कई पद्योंको उद्धृत किया है, परंतु एक जगह सर्वज्ञकी सिद्धि करते हुए, वे उसके 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः' नामक पद्यको निम्न वाक्यके साथ उद्धृत करते हैं—

"तदुक्तं स्वामिभिर्महाभाष्यस्यादावाप्तमीमांसाप्रस्तावे—"

इस वाक्यसे इतना पता चलता है कि महाभाष्यकी आदिमें 'आप्तमीमांसा' नामका भी एक प्रस्ताव है—प्रकरण है—और ऐसा होना कोई अस्वाभाविक नहीं है; एक ग्रंथकार, अपनी किसी कृतिको उपयोगी समझकर अनेक ग्रंथोंमें भी उद्धृत कर सकता है। परंतु इससे यह मालूम नहीं होता कि वह महाभाष्य उमास्वातिके तत्त्वार्थ-सूत्रका ही भाष्य है। वह कर्मप्राभृत नामके सिद्धान्तशास्त्रका भी भाष्य हो सकता है और उसमें भी 'आप्तमीमांसा' नामके एक प्रकरणका होना कोई असंभव नहीं कहा जा सकता। इसके सिवाय 'आप्तमीमांसाप्रस्तावे' पदमें आए हुए 'आप्तमीमांसा' शब्दोंका वाच्य यदि समन्तभद्रका संपूर्ण 'आप्तमीमांसा' नामका देशपरिच्छे-

[1] यह ग्रंथ शक सं० १३०७ (वि० सं० १४४२)में बनकर समाप्त हुआ है और इसके रचयिता धर्मभूषण 'अभिनव धर्मभूषण' कहलाते हैं।

दात्मक ग्रंथ माना जाय तो उक्त पदसे यह भी मालूम नहीं होता कि वह आप्तमीमांसा ग्रन्थ उस भाष्यका मंगलाचरण है, बल्कि वह उसका एक प्रकरण जान पड़ता है। प्रस्तावनाप्रकरण होना और बात है और मंगलाचरण होना दूसरी बात। एक प्रकरण मंगलात्मक होते हुए भी टीकाकारोंके मंगलाचरणकी भाषामें मंगलाचरण नहीं कहलाता। टीकाकारोंका मंगलाचरण, अपने इष्टदेवादिककी स्तुतिको लिये हुए, या तो नमस्कारात्मक होता है या आशीर्वादात्मक, और कभी कभी उसमें टीका करनेकी प्रतिज्ञा भी शामिल रहती है; अथवा इष्टकी स्तुतिध्यानादिपूर्वक टीका करनेकी प्रतिज्ञाको ही लिये हुए होता है; परन्तु वह एक ग्रंथके रूपमें अनेक परिच्छेदोंमें बँटा हुआ नहीं देखा जाता। आप्तमीमांसामें ऐसा एक भी पद्य नहीं है जो नमस्कारात्मक या आशीर्वादात्मक हो अथवा इष्टकी स्तुतिध्यानादिपूर्वक टीका करनेकी प्रतिज्ञाको लिये हुए हो; उसके अन्तिम पद्यसे भी यह मालूम नहीं होता कि वह किसी ग्रंथका मंगलाचरण है, और यह बात पहले जाहिर की जा चुकी है कि उसमें दशपरिच्छेदोंका जो विभाग है वह स्वयंसमन्तभद्राचार्यका किया हुआ है। ऐसी हालतमें यह प्रतीत नहीं होता कि, आप्तमीमांसा गंधहस्तिमहाभाष्यका आदिम मंगलाचरण है—अर्थात्, वह भाष्य **'देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः। मायाविष्वपि दृश्यंते नातस्त्वमसि नो महान् ॥'** इस पद्यसे ही आरंभ होता है और इससे पहले उसमें कोई दूसरा मंगल पद्य अथवा वाक्य नहीं है। हो सकता है कि समन्तभद्रने महाभाष्यकी आदिमें आप्तके गुणोंका कोई खास स्तवन किया हो और फिर उन गुणोंकी परीक्षा करने अथवा उनके विषयमें अपनी श्रद्धा और गुणज्ञताको संसूचित करने आदिके लिये 'आप्तमीमांसा' नामके प्रकरणकी रचना की हो अथवा पहलेसे रचे

हुए अपने इस ग्रंथको वहाँ उद्धृत किया हो। और यह भी हो सकता है कि मूलग्रंथके मंगलाचरणको ही उन्होंने महाभाष्यका मंगलाचरण स्वीकार किया हो; जैसे कि पूज्यपादकी बावत कुछ विद्वानोंका कहना है कि उन्होंने तत्त्वार्थसूत्रके मंगलाचरणको ही अपनी 'सर्वार्थसिद्धि' टीकाका मंगलाचरण बनाया है और उससे भिन्न टीकामें किसी नये मंगलाचरणका विधान नहीं किया*। दोनों ही हालतोंमें 'आप्तमीमांसा' प्रकरणसे पहले दूसरे मंगलाचरणका—आप्तस्तवनका—होना ठहरता है, और इसीकी अधिक संभावना पाई जाती है।

(७) आप्तमीमांसा (देवागम) की 'अष्टसहस्री' टीका पर लघु[1] समन्तभद्रने 'विषमपदतात्पर्यटीका' नामकी एक टिप्पणी लिखी है, जिसकी प्रस्तावनाका प्रथम वाक्य इस प्रकार है:—

---

* परंतु कितने ही विद्वान् इस मतसे विरोध भी रखते हैं जिसका हाल आगे चलकर मालूम होगा।

१ डा० सतीशचन्द्रने, अपनी 'हिस्टरी आफ इंडियन लॉजिक'में, लघुसमंतभद्रको ई० सन् १००० (वि० सं० १०५७)के करीवका विद्वान् लिखा है। परंतु विना किसी हेतुके उनका यह लिखना ठीक प्रतीत नहीं होता; क्योंकि अष्टसहस्रीके अंतमें 'केचित्' शब्दपर टिप्पणी देते हुए, लघुसमन्तभद्र उसमें वसुनन्दि आचार्य और उनकी देवागमवृत्तिका उल्लेख करते हैं। यथा—"वसुनन्दिआचार्याः केचिच्छब्देन ग्राह्याः, यतस्तैरेव स्वस्य वृत्त्यन्ते लिखितोयं श्लोकः" इत्यादि। और वसुनन्दि आचार्य विक्रमकी १२ वीं शताब्दीके अन्तमें हुए हैं, इसलिये लघुसमंतभद्र विक्रमकी १३ वीं शताब्दीसे पहले नहीं हुए, यह स्पष्ट है। रत्नकरंडक श्रावकाचारकी प्रस्तावनाके पृष्ठ ६ पर 'चिक्क (लघु) समन्तभद्र'के विषयमें जो कुछ उल्लेख किया गया है उसे ध्यानमें रखते हुए ये विक्रमकी प्रायः १४ वीं शताब्दीके विद्वान् मालूम होते हैं और यदि 'माघनन्दी' नामान्तरको लिये हुए तथा अमरकीर्तिके शिष्य न हों तो ज्यादेसे ज्यादा विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान् हो सकते हैं।

"इह[1] हि खलु पुरा स्वकीय–निरवद्य–विद्या–संयम–संपदा गणधर–प्रत्येकबुद्ध–श्रुतकेवलि–दशपूर्वाणां सूत्रकृन्महर्षीणां महिमानमात्मसात्कुर्वद्भिर्भगवद्भिरुमास्वातिपादैराचार्यवर्यैरासूत्रितस्य तत्त्वार्थाधिगमस्य मोक्षशास्त्रस्य गंधहस्त्याख्यं महाभाष्यमुपनिबध्नंतः स्याद्वादविद्याग्रगुरवः श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यास्तत्र किल मंगलपुरस्सर[2]–स्तव–विषय–परमाप्त–गुणातिशय–परीक्षामुपक्षिप्तवन्तो देवागमाभिधानस्य प्रवचनतीर्थस्य सृष्टिमापूरयांचक्रिरे।"

इस वाक्य द्वारा, आचार्योंके विशेषणोंको छोड़कर, यह खास तौर पर सूचित किया गया है कि स्वामी समन्तभद्रने उमास्वातिके 'तत्त्वार्थाधिगम–मोक्षशास्त्र' पर 'गंधहस्ति' नामका एक महाभाष्य लिखा है, और उसकी रचना करते हुए उन्होंने उसमें परम आप्तके गुणातिशयकी परीक्षाके अवसरपर 'देवागम' नामके प्रवचनतीर्थकी सृष्टि की है।

यद्यपि इस उल्लेखसे गंधहस्तिमहाभाष्यकी श्लोकसंख्याका कोई हाल मालूम नहीं होता और न यही पाया जाता है कि देवागम (आप्तमीमांसा) उसका मंगलाचरण है, परंतु यह बात बिलकुल स्पष्ट मालूम होती है कि समन्तभद्रका गंधहस्ति महाभाष्य उमास्वातिके 'तत्त्वार्थसूत्र' पर लिखा गया है और 'देवागम' भी उसका एक प्रकरण है। जहाँ तक हम समझते हैं यही इस विषयका पहला स्पष्टोल्लेख है जो अभीतक उपलब्ध हुआ है। परंतु यह उल्लेख किस

१ यह प्रस्तावनावाक्य मुनिजिनविजयजीने पूनाके 'भण्डारकर इन्स्टिटयूट'की उस ग्रंथ प्रतिपरसे उद्धृत करके भेजा था जिसका नंबर ९२० है।

२ "मंगलपुरस्सरस्तवो हि शास्त्रावतार-रचित-स्तुतिरुच्यते। मंगलं पुरस्सरमस्येति मंगलपुरस्सरः शास्त्रावतारकालस्तत्र रचितः स्तवो मंगलपुरस्सरस्तव इति व्याख्यानात्।" —अष्टसहस्री।

आधारपर अवलम्बित है ऐसा कुछ माळूम नहीं होता। विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीसे पहलेके जैनसाहित्यमें तो गंधहस्तिमहाभाष्यका कोई नाम भी अभीतक हमारे देखनेमें नहीं आया और न जिस 'अष्टसहस्री' टीका पर यह टिप्पणी लिखी गई है उसमें ही इस विषयका कोई स्पष्ट विधान पाया जाता है। अष्टसहस्रीकी प्रस्तावनासे सिर्फ इतना माळूम होता है कि किसी निःश्रेयस शास्त्रके आदिमें किये हुए आप्तके स्तवनको लेकर उसके आशयका समर्थन या स्पष्टीकरण करनेके लिये—यह आप्तमीमांसा लिखी गई है *। वह निःश्रेयसशास्त्र कौनसा और उसका वह स्तवन क्या है, इस बातकी पर्यालोचना करने पर अष्टसहस्रीके अन्तिम भागसे इतना पता चलता है कि जिस शास्त्रके आरंभमें आप्तका स्तवन '**मोक्षमार्गप्रणेता, कर्मभूभृद्भेत्ता** और **विश्वतत्त्वानां ज्ञाता**' रूपसे किया गया है उसी शास्त्रसे 'निःश्रेयस शास्त्र' का अभिप्राय है ‡। इन विशेषणोंको लिये हुए आप्तके स्तवनका प्रसिद्ध श्लोक निम्न प्रकार है—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

आप्तके इस स्तोत्रको लेकर, अष्टसहस्रीके कर्ता श्रीविद्यानंदाचार्यने इसपर '**आप्तपरीक्षा**' नामका एक ग्रंथ लिखा है और स्वयं उसकी

---

* "तदेवेदं निःश्रेयसशास्त्रस्यादौ तन्निबन्धनतया मंगलार्थतया च मुनिभिः संस्तुतेन निरतिशयगुणेन भगवताप्तेन श्रेयोमार्गमात्महितमिच्छतां सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाप्तमीमांसां विदधानाः श्रद्धागुणज्ञताभ्यां प्रयुक्तमनसः कस्माद् देवागमादिविभूतितोऽहं महात्माभिष्टुत इति स्फुटं पृष्टा इव स्वामिसमन्तभद्राचार्याः प्राहुः—"

‡ "शास्त्रारंभेभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया कर्मभूभृद्भेत्तृतया विश्वतत्त्वानां ज्ञातृतया च भगवदर्हत्सर्वज्ञस्यैवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थापनपरपरीक्षेयं विहिता।"

टीका भी की है। इस ग्रंथमें परीक्षाद्वारा अर्हन्तदेवको ही इन विशेषणोंसे विशिष्ट और वंदनीय ठहराते हुए, १२० वें नंबरके पद्यमें, 'इति संक्षेपतोन्वयः' यह वाक्य दिया है और इसकी टीकामें लिखा है—

"इति संक्षेपतः शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य मुनिपुंगवैर्विधीयमानस्यान्वयः संप्रदायाव्यवच्छेदलक्षणः पदार्थघटनालक्षणो वा लक्षणीयः प्रपंचतस्तदन्वयस्याक्षेपसमाधानलक्षणस्य श्रीमत्स्वामीसमंतभद्रदेवागमाख्याप्तमीमांसायां प्रकाशनात्....।"

इस सब कथनसे इतना तो प्रायः स्पष्ट हो जाता है कि समन्तभद्रका देवागम नामक आप्तमीमांसा ग्रंथ 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' नामके पद्यमें कहे हुए आप्तके स्वरूपको लेकर लिखा गया है; परंतु यह पद्य कौनसे निःश्रेयस (मोक्ष) शास्त्रका पद्य है और उसका कर्ता कौन है, यह बात अभी तक स्पष्ट नहीं हुई। विद्यानंदाचार्य, आप्तपरीक्षाको समाप्त करते हुए, इस विषयमें लिखते हैं—

श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,
प्रोत्थानारंभकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्,
विद्यानंदैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै १२३

इस पद्यसे सिर्फ इतना पता चलता है कि उक्त तीर्थोपमान स्तोत्र, जिसकी स्वामी समंतभद्रने मीमांसा और विद्यानंदने परीक्षा की, तत्त्वार्थशास्त्ररूपी अद्भुत समुद्रके प्रोत्थानका—उसे ऊँचा उठाने या बढ़ानेका—आरंभ करते समय शास्त्रकारद्वारा रचा गया है। परन्तु वे शास्त्रकार महोदय कौन हैं, यह कुछ स्पष्ट माळूम नहीं होता। विद्यानन्दने आप्तपरीक्षाकी टीकामें शास्त्रकारको सूत्रकार सूचित किया है और उन्हीं 'मुनिपुंगव'का बनाया हुआ उक्त गुणस्तोत्र लिखा है परन्तु उनका

नाम नहीं दिया । हो सकता है कि आपका अभिप्राय 'सूत्रकार'से '**उमास्वाति**' महाराजका ही हो; क्योंकि कई स्थानोंपर आपने उमास्वातिके वचनोंको सूत्रकारके नामसे उद्धृत किया हैं परंतु केवल सूत्रकार या शास्त्रकार शब्दोंपरसे ही—जो दोनों एक ही अर्थके वाचक हैं—उमास्वातिका नाम नहीं निकलता; क्योंकि दूसरे भी कितने ही आचार्य सूत्रकार अथवा शास्त्रकार हो गए हैं; समन्तभद्र भी शास्त्रकार थे, और उनके देवागमादि ग्रंथ सूत्रग्रंथ कहलाते हैं । इसके सिवाय, यह बात अभी विवादग्रस्त चल रही है कि उक्त '**मोक्षमार्गस्य नेतारं**' नामका स्तुतिपद्य उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण है । कितने ही विद्वान् इसे उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण मानते हैं; और बालचंद्र, योगदेव तथा श्रुतसागर नामके पिछले टीकाकारोंने भी अपनी अपनी टीकामें ऐसा ही प्रतिपादन किया है । परन्तु दूसरे कितने ही विद्वान् ऐसा नहीं मानते, वे इसे तत्त्वार्थसूत्रकी प्राचीन टीका 'सर्वार्थसिद्धि' का मंगलाचरण स्वीकार करते हैं और यह प्रतिपादन करते हैं कि यदि यह पद्य तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण होता तो सर्वार्थसिद्धि टीकाके कर्ता श्रीपूज्यपादाचार्य इसकी जरूर व्याख्या करते, लेकिन उन्होंने इसकी कोई व्याख्या न करके इसे अपनी टीकाके मंगलाचरणके तौर पर दिया है और इस लिये यह पूज्यपादकृत ही मालूम होता है । सर्वार्थसिद्धिकी भूमिकामें, पं० कलाप्पा भरमाप्पा निटवे भी, श्रुतसागरके कथनका विरोध करते हुए अपना ऐसा ही मत प्रकट करते हैं, और साथ ही, एक हेतु यह भी देते हैं कि तत्त्वार्थसूत्रकी रचना द्वैपायकके

---

१ "देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सद्दर्शनान्वितः"—विक्रान्तकौरव ।

१ श्रुतसागरी टीकाकी एक प्रतिमें 'द्वैयाक' नाम दिया है, और बालचंद्र मुनिकी टीकामें 'सिद्धप्प' ऐसा नाम पाया जाता है । देखो, जनवरी सन् १९२१ का जैनहितैषी, पृ० ८०, ८१ ।

प्रश्नपर हुई है और प्रश्नका उत्तर देते हुए बीचमें मंगलाचरणका करना अप्रस्तुत जान पड़ता है; दूसरे वस्तुनिर्देशको भी मंगल माना गया है जिसका उत्तरद्वारा स्वतः विधान हो जाता है और इस लिये ऐसी परिस्थितिमें पृथक् रूपसे मंगलाचरणका किया जाना कुछ संगत मालूम नहीं होता। भूमिकाके वे वाक्य इस प्रकार हैं—

" सर्वार्थसिद्धिग्रंथारंभे 'मोक्षमार्गस्यनेतारमिति" श्लोको वर्तते स तु सूत्रकृता भगवदुमास्वातिनैव विरचित इति श्रुतसागराचार्यस्याभिमतमिति तत्प्रणीतश्रुतसागर्याख्यवृत्तितः स्पष्टमवगम्यते। तथापि श्रीमत्पूज्यपादाचार्येणाव्याख्यातत्वादिदं श्लोकनिर्माणं न सूत्रकृतः किंतु सर्वार्थसिद्धिकृत एवेति निर्विवादम्। तथा एतेषां सूत्राणां द्वैपायक प्रश्नोपर्युत्तरत्वेन विरचनं तैरेवाङ्गीक्रियते तथा च उत्तरे वक्तव्ये मध्ये मंगलस्याप्रस्तुतत्वाद्वस्तुनिर्देशस्यापि मंगलत्वेनाङ्गीकृतत्वाच्चोपरितनः सिद्धान्त एव दार्ढ्यमाप्नोतीत्यूह्यं सुधीभिः॥"

पं० वंशीधरजी, अष्टसहस्रीके स्वसंपादित संस्करणमें, ग्रंथकर्ताओंका परिचय देते हुए, लिखते हैं कि समन्तभद्रने गंधहस्तिमहाभाष्यकी रचना करते हुए उसकी आदिमें इस पद्यके द्वारा आप्तका स्तवन किया है और फिर उसकी परीक्षाके लिये 'आप्तमीमांसा' ग्रंथकी रचना की है। यथा—

" भगवता समन्तभद्रेण गन्धहस्तिमहाभाष्यनामानं तत्त्वार्थोपरि टीकाग्रन्थं चतुरशीतिसहस्रानुष्टुभ्मात्रं विरचयत। तदादौ 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादिनैकेन पद्येनाप्तः स्तुतः। तत्परीक्षणार्थं च ततोग्रे पंचदशाधिकशतपद्यैराप्तमीमांसाग्रन्थोभ्यधायि।"

कुछ विद्वानोंका कहना है कि ' राजवार्तिक ' टीकामें अकलंकदेवने इस पद्यको नहीं दिया—इसमें दिये हुए आप्तके विशेषणोंको चर्चा तक भी नहीं की—और न विद्यानंदने ही अपनी ' श्लोकवार्तिक ' टीकामें इसे उद्धृत किया है, ये ही सर्वार्थसिद्धिके वादकी दो प्राचीन टीकाएँ उपलब्ध हैं जिनमें यह पद्य नहीं पाया जाता, और इससे यह माळूम होता है कि इन प्राचीन टीकाकारोंने इस पद्यको मूलग्रंथ (तत्त्वार्थसूत्र) का अंग नहीं माना। अन्यथा, ऐसे महत्त्वशाली पद्यको छोड़कर खण्डरूपमें ग्रंथके उपस्थित करनेकी कोई वजह नहीं थी जिस पर ' आप्तमीमांसा ' जैसे महान् ग्रंथोंकी रचना हुई हो।

सनातनजैनग्रन्थमालाके प्रथम गुच्छकमें प्रकाशित तत्त्वार्थसूत्रमें भी, जो कि एक प्राचीन गुटके परसे प्रकाशित हुआ है, कोई मंगलाचरण नहीं है, और भी वम्बई—बनारस आदिमें प्रकाशित हुए मूल तत्त्वार्थसूत्रके कितने ही संस्करणोंमें वह नहीं पाया जाता, अधिकांश हस्तलिखित प्रतियोंमें भी वह नहीं देखा जाता और कुछ हस्तालिखित प्रतियोंमें वह पद्य ' त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं,' 'उज्जोवणमुज्जवणं ' इन दोनों अथवा इनमेंसे किसी एक पद्यके साथ उपलब्ध होता है और इससे यह माळूम नहीं होता कि वह मूल ग्रंथकारका पद्य है बल्कि दूसरे पद्योंकी तरह ग्रंथके शुरूमें मंगलाचरणके तौरपर संग्रह किया हुआ जान पड़ता है। साथ ही श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जो मूल तत्त्वार्थसूत्र प्रचलित है उसमें भी यह अथवा दूसरा कोई मंगलाचरण नहीं पाया जाता।

ऐसी हालतमें लघुसमन्तभद्रके उक्त कथनका अष्टसहस्री ग्रंथ भी कोई स्पष्ट आधार प्रतीत नहीं होता। और यदि यह मान भी लिया जाय कि विद्यानंदने सूत्रकार या शास्त्रकारसे 'उमास्वाति'का आर

तत्त्वार्थशास्त्रसे उनके 'तत्त्वार्थाधिगममोक्षशास्त्र'का उल्लेख किया है और इस लिये उक्त पद्यको तत्त्वार्थाधिगमसूत्रका मंगलाचरण माना है तो इससे अष्टसहस्री और आप्तपरीक्षाके उक्त कथनोंका सिर्फ इतना ही नतीजा निकलता है कि समन्तभद्रने उमास्वातिके उक्त पद्यको लेकर उसपर उसी तरहसे 'आप्तमीमांसा' ग्रंथकी रचना की है जिस तरहसे कि विद्यानंदने उसपर 'आप्तपरीक्षा' लिखी है—अथवा यों कहिये कि जिस प्रकार 'आप्तपरीक्षा'की सृष्टि श्लोकवार्तिक भाष्यको लिखते हुए नहीं की गई और न वह श्लोकवार्तिकका कोई अंग है उसी प्रकारकी स्थिति गंधहस्ति महाभाष्यके सम्बंधमें 'आप्त-मीमांसा' की भी हो सकती है, उसमें अष्टसहस्री या आप्तपरीक्षाके उक्त वचनोंसे कोई बाधा नहीं आती; * और न उनसे यह लाजिमी आता है कि समूचे तत्त्वार्थसूत्रपर महाभाष्यकी रचना करते हुए 'आप्त-मीमांसा' की सृष्टि की गई है और इस लिये वह उसीका एक अंग है। हाँ, यदि किसी तरह पर यह माना जा सके कि 'आप्तपरीक्षा' के उक्त १२३ वें पद्यमें 'शास्त्रकार'से समन्तभद्रका अभिप्राय है और इस लिये मंगलाचरणका वह स्तुति पद्य (स्तोत्र) उन्हींका रचा हुआ है तो 'तत्त्वार्थशास्त्र'का अर्थ उमास्वातिका तत्त्वार्थसूत्र करते हुए भी उक्त पद्यके '**प्रोत्थान**' शब्द परसे महाभाष्यका आशय निकाला जा सकता है; क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रका प्रोत्थान—उसे ऊँचा उठाना या बढ़ाना—महाभाष्य जैसे ग्रंथोंके द्वारा ही होता है। और 'प्रोत्थान' का आशय

---

* 'समन्तभद्र-भारती-स्तोत्र'के निम्न वाक्यसे भी कोई बाधा नहीं आती, जिसमें सांकेतिक रूपसे समन्तभद्रकी भारती (आप्तमीमांसा) को 'गृध्रपिच्छाचार्यके कहे हुए प्रकृष्ट मंगलके आशयको लिये हुए' बतलाया है—

"गृध्रपिच्छ-भाषित-प्रकृष्ट-मंगलार्थिकाम् ।"

यदि ग्रंथकी उस ' उत्थानिका ' से लिया जाय जो कभी कभी ग्रंथकी रचनाका सम्बन्धादिक बतलानेके लिये शुरूमें लिखी जाती है, तो उससे भी उक्त आशयमें कोई बाधा नहीं आती; बल्कि 'भाष्यकार'को 'शास्त्रकार' कहा गया है यह और स्पष्ट हो जाता है; क्योंकि मूल तत्त्वार्थ-सूत्रमें वैसी कोई उत्थानिका नहीं है, वह या तो मंगलाचरणके बाद 'सर्वार्थसिद्धि' में पाई जाती है और या महाभाष्यमें होगी । सर्वार्थसिद्धि टीकाके कर्ता भी कथंचित् उस 'शास्त्रकार' शब्दके वाच्य हो सकते हैं । रही भाष्यकारको शास्त्रकार कहनेकी बात, सो इसमें कोई विरोध माॡम नहीं होता—तत्त्वार्थशास्त्रका अर्थ होनेसे जब उसके वार्तिक भाष्य या व्याख्यानको भी 'शास्त्र' कहा जाता * है तब उन वार्तिक-भाष्यादिके रचयिता स्वयं 'शास्त्रकार' सिद्ध होते हैं, उसमें कोई आपत्ति नहीं की जा सकती ।

और यदि उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रद्वारा तत्त्वार्थशास्त्ररूपी समुद्रका प्रोत्थान होनेसे 'प्रोत्थान' शब्दका वाच्य वहाँ उक्त तत्त्वार्थसूत्र ही माना जाय तो फिर उससे पहले 'तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधि' का वह वाच्य नहीं रहेगा, उसका वाच्य कोई ग्रंथ विशेष न होकर सामान्य रूपसे तत्त्वार्थमहोदधि, द्वादशांगश्रुत या कोई अंग-पूर्व ठहरेगा, और तब अष्टसहस्री तथा आप्तपरीक्षाके कथनोंका वही नतीजा निकलेगा जो ऊपर निकाला गया है—गंधहस्ति महाभाष्यकी रचनाका लाजिमी न-तीजा उनसे नहीं निकल सकेगा ।

---

* जैसा कि ' श्लोकवार्तिक'में विद्यानंदाचार्यके निम्न वाक्योंसे भी प्रकट है—
" प्रसिद्धे च तत्त्वार्थस्य शास्त्रत्वे तद्वार्तिकस्य शास्त्रत्वं सिद्धमेव तदर्थत्वात् । ....तदनेन तद्व्याख्यानस्य शास्त्रत्वं निवेदितम् ॥ "

इसके सिवाय, आप्तमीमांसाके साहित्य अथवा संदर्भपरसे जिस प्रकार उक्त पद्यके अनुसरणकी या उसे अपना विचाराश्रय बनानेकी कोई खास ध्वनि नहीं निकलती उसी प्रकार 'वसुनन्दि-वृत्ति' की प्रस्तावना या उत्थानिकासे भी यह माल्रम नहीं होता कि आप्तमीमांसा उक्त मंगल पद्य (मोक्षमार्गस्य नेतारमित्यादि) को लेकर लिखी गई है, वह इस विषयमें अष्टसहस्रीकी प्रस्तावनासे कुछ भिन्न पाई जाती है और उससे यह स्पष्ट माल्रम होता है कि समन्तभद्र स्वयं सर्वज्ञ भगवानकी स्तुति करनेके लिये बैठे हैं—किसीकी स्तुतिका समर्थन या स्पष्टीकरण करनेके लिये नहीं—उन्होंने अपने मानसप्रत्यक्षद्वारा सर्वज्ञको साक्षात् करके उनसे यह निवेदन किया है कि ' हे भगवन्, माहात्म्यके आधिक्य-कथनको स्तवन कहते हैं और आपका माहात्म्य अतीन्द्रिय होनेसे मेरे प्रत्यक्षका विषय नहीं है, इस लिये मैं किस तरहसे आपकी स्तुति करूँ ?' उत्तरमें भगवान्की ओरसे यह कहे जानेपर कि ' हे वत्स, जिस प्रकार दूसरे विद्वान् देवोंके आगमन और आकाशमें गमनादिक हेतुसे मेरे माहात्म्यको समझकर स्तुति करते हैं उस प्रकार तुम क्यों नहीं करते ?' समन्तभद्रने फिर कहा कि ' भगवन्, इस हेतुप्रयोगसे आप मेरे प्रति महान् नहीं ठहरते—मैं देवोंके आगमन और आकाशमें गमनादिकके कारण आपको पूज्य नहीं मानता—क्यों कि यह हेतु व्यभिचारी है, ' और यह कह कर उन्होंने

१ अष्टसहस्रीकी प्रस्तावनाके जो शब्द पीछे फुटनोटमें उद्धृत किये गये हैं उनसे यह पाया जाता है कि निःश्रेयसशास्त्रकी आदिमें दिये हुए मंगल पद्यमें आप्तका स्तवन निरतिशय गुणोंके द्वारा किया गया है; इसपर मानो आप्त भगवानने समन्तभद्रसे यह पूछा है कि मैं देवागमादिविभूतिके कारण महान् हूँ, इस लिये इस प्रकारके गुणातिशयको दिखलाते हुए निःश्रेयस शास्त्रके कर्त्ता मुनिने मेरी स्तुति क्यों नहीं की ? उत्तरमें समन्तभद्रने आप्तमीमांसाका प्रथम पद्य कहा है ।

आप्तमीमांसाके प्रथम पद्य द्वारा उसके व्यभिचारको दिखलाया है; आगे भी इसी प्रकारके अनेक हेतुप्रयोगों तथा विकल्पोंको उठाकर आपने अपने ग्रंथकी क्रमशः रचना की है और उसके द्वारा सभी आप्तोंकी परीक्षा कर डाली है। वसुनन्दि-वृत्तिकी प्रस्तावनाके वे वाक्य इस प्रकार हैं—

"........स्वभक्तिसंभारप्रेक्षापूर्वकारित्वलक्षणप्रयोजनवद्गुणस्तवं कर्त्तुकामः श्रीमत्समन्तभद्राचार्यः सर्वज्ञं प्रत्यक्षीकृत्यैवमाचष्टे—हे भट्टारक संस्तवो नाम माहात्म्यस्याधिक्यकथनं। त्वदीयं च माहात्म्यमतीन्द्रियं मम प्रत्यक्षागोचरं। अतः कथं मया स्तूयसे॥ अत आह भगवान् ननु भो वत्स यथान्ये देवागमादिहेतोर्मम माहात्म्यमवबुध्य स्तवं कुर्वन्ति तथा त्वं किमति न कुरुषे॥ अत आह—अस्माद्धेतोर्न महान् भवान् मां प्रति। व्यभिचारित्वादस्य हेतोः। इति व्यभिचारं दर्शयति—"

इस तरह पर, लघुसमन्तभद्रके उक्त स्पष्ट कथनका प्राचीन साहित्यपरसे कोई समर्थन होता हुआ मालूम नहीं होता। बहुत संभव है कि उन्होंने अष्टसहस्री और आप्तपरीक्षाके उक्त वचनोंपरसे ही परम्परा कथनके सहारेसे वह नतीजा निकाला हो, और यह भी संभव है कि किसी दूसरे ग्रंथके स्पष्टोल्लेखके आधारपर, जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ, वे गंधहस्ति महाभाष्यके विषयमें वैसा उल्लेख करने अथवा नतीजा निकालनेके लिये समर्थ हुए हों। दोनों ही हालतोंमें प्राचीन साहित्यपरसे उक्त कथनके समर्थन और यथेष्ट निर्णयके लिये विशेष अनुसंधानकी जरूरत बाकी रहती है, इसके लिये विद्वानोंको प्रयत्न करना चाहिए।

ये ही सब उल्लेख हैं जो अभीतक इस ग्रंथके विषयमें हमें उपलब्ध हुए हैं। और प्रत्येक उल्लेख परसे जो बात जितने अंशोंमें पाई जाती है उसपर यथाशक्ति ऊपर विचार किया जा चुका है। हमारी रायमें, इन सब उल्लेखोंपरसे इतना जरूर माल्रम होता है कि 'गंधहस्ति-महाभाष्य' नामका कोई ग्रंथ जरूर लिखा गया है, उसे 'सामन्तभद्र-महाभाष्य' भी कहते थे और खालिस 'गंधहस्ति' नामसे भी उसका उल्लेखित होना संभव है। परन्तु वह किस ग्रंथपर लिखा गया—कर्मप्राभृतके भाष्यसे भिन्न है या अभिन्न—यह अभी सुनिश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता। हाँ, उमास्वातिके 'तत्त्वार्थसूत्र'पर उसके लिखे जानेकी अधिक संभावना जरूर है परन्तु ऐसी हालतमें, वह अष्टशती और राजवार्तिकके कर्त्ता अकलंकदेवसे पहले ही नष्ट हो गया जान पड़ता है। पिछले लेखकोंके ग्रंथोंमें महाभाष्यके जो कुछ स्पष्ट या अस्पष्ट उल्लेख मिलते हैं वे स्वयं महाभाष्यको देखकर किये हुए उल्लेख माल्रम नहीं होते—बल्कि परंपरा कथनोंके आधारपर या उन दूसरे प्राचीन ग्रंथोंके उल्लेखोंपरसे किये हुए जान पड़ते हैं जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुए। उनमें एक भी ऐसा उल्लेख नहीं है जिसमें, 'देवागम' जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थके पद्योंको छोड़कर, महाभाष्यके नामके साथ उसके किसी वाक्यको उद्धृत किया हो। इसके सिवाय, 'देवागम' उक्त महाभाष्यका आदिम मंगलाचरण है यह बात इन उल्लेखोंसे नहीं पाई जाती। हाँ, वह उसका एक प्रकरण जरूर हो सकता है; परन्तु उसकी रचना 'गंधहस्ति'की रचनाके अवसरपर हुई

१ समन्तभद्रका 'कर्मप्राभृत' सिद्धान्तपर लिखा हुआ भाष्य भी उपलब्ध नहीं है। यदि वह सामने होता तो गंधहस्ति महाभाष्यके विशेष निर्णयमें उससे बहुत कुछ सहायता मिल सकती थी।

या वह पहले ही रचा जा चुका था और बादको महाभाष्यमें शामिल किया गया इसका अभी तक कोई निर्णय नहीं हो सका। फिर भी इतना तो स्पष्ट है और इस कहनेमें कोई आपत्ति माऌम नहीं होती कि 'देवागम (आप्तमीमांसा)' एक बिलकुल ही स्वतंत्र ग्रन्थके रूपमें इतना अधिक प्रसिद्ध रहा है कि महाभाष्यको समंतभद्रकी कृति प्रकट करते हुए भी उसके साथमें कभी कभी देवागमका भी नाम एक पृथक् कृतिके रूपमें देना जरूरी समझा गया है और इस तरह पर 'देवागम' की प्रधानता और स्वतंत्रताको उद्घोषित करनेके साथ साथ यह सूचित किया गया है कि देवागमके परिचयके लिये गंधहस्ति महाभाष्यका नामोल्लेख पर्याप्त नहीं है—उसके नाम परसे ही देवागमका बोध नहीं होता। साथ ही, यह भी कहा जा सकता है कि यदि 'देवागम' गंधहस्ति महाभाष्यका एक प्रकरण है तो 'युक्त्यनुशासन' ग्रंथ भी उसके अनन्तरका एक प्रकरण होना चाहिये; क्योंकि युक्त्यनुशासन-टीकाके प्रथम[1] प्रस्तावनावाक्यद्वारा श्रीविद्यानंद आचार्य ऐसा सूचित करते हैं कि आप्तमीमांसा-द्वारा आप्तकी परीक्षा हो जानेके अनन्तर यह ग्रंथ रचा गया है, और ग्रंथके प्रथम[2] पद्यमें आये हुए 'अद्य[3]' शब्द

१ टीकाका प्रथम प्रस्तावनावाक्य इस प्रकार है—

"श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिराप्तमीमांसायामन्ययोगव्यवच्छेदाद् व्यवस्थापितेन भगवता श्रीमतार्हतान्त्यतीर्थंकरपरमदेवेन मां परीक्ष्य किं चिकीर्षवो भवन्तः इति ते पृष्टा इव प्राहुः— ।"

२ युक्त्यनुशासनका प्रथम पद्य इस प्रकार है—

"कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं त्वां वर्द्धमानं स्तुतिगोचरत्वं।
निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं विशीर्णदोषाशयपाशबन्धं॥"

३ अद्य अस्मिन्काले परीक्षावसानसमये (—इति विद्यानंदः)

अर्थात्—इस समय—परीक्षाकी समाप्तिके अवसरपर—हम आपको—वीर-वर्द्धमानको—अपनी स्तुतिका विषय बनाना चाहते हैं—आपकी स्तुति करना चाहते हैं।

परसे भी यह ध्वनि निकलती है कि उससे पहले किसी दूसरे ग्रन्थ अथवा प्रकरणकी रचना हुई है। ऐसी हालतमें, उस ग्रन्थराजको 'गंधहस्ति' कहना कुछ भी अनुचित प्रतीत नहीं होता जिसके 'देवागम' और 'युक्त्यनुशासन' जैसे महामहिमासम्पन्न मौलिक ग्रन्थरत्न भी प्रकरण हों। नहीं माॡम तव, उस महाभाष्यमें ऐसे कितने ग्रंथरत्नोंका समावेश होगा। उसका लुप्त हो जाना निःसन्देह जैन-समाजका वड़ा ही दुर्भाग्य है।

रही महाभाष्यके मंगलाचरणकी वात, इस विषयमें, यद्यपि, अभी कोई निश्चित राय नहीं दी जा सकती, फिर भी **'मोक्षमार्गस्य नेतारं'** नामक पद्यके मंगलाचरण होनेकी संभावना जरूर पाई जाती है और साथ ही इस वातकी भी अधिक संभावना है कि वह समन्तभद्रप्रणीत है। परंतु यह भी हो सकता है—यद्यपि उसकी संभावना कम है—कि उक्त पद्य उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण हो और समन्तभद्रने उसे ही महाभाष्यका आदिम मंगलाचरण स्वीकार किया हो। ऐसी हालतमें उन सव आक्षेपोंके योग्य समाधानकी जरूरत रहती है जो इस पद्यको तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण मानने पर किये जाते हैं और जिनका दिग्दर्शन ऊपर कराया चुका है। हमारी रायमें, इन सव वातोंको लेकर और सवका अच्छा निर्णय प्राप्त करनेके लिये, महाभाष्यके सम्बंधमें प्राचीन जैनसाहित्यको टटोलनेकी अभी और जरूरत जान पड़ती है, और वह जरूरत और भी बढ़ जाती है जब हम यह देखते हैं कि ऊपर जितने भी उल्लेख मिले हैं वे सव विक्रमकी प्रायः १३ वीं, १४ वीं और १५ वीं शताब्दियोंके उल्लेख[1] हैं, उनसे पहले

[1] देखो उन उल्लेखोंके वे फुटनोट जिनमें उनके कर्ताओंका समय दिया हुआ है।

हजार वर्षके भीतरका एक भी उल्लेख नहीं है और यह समय इतना तुच्छ नहीं हो सकता जिसकी कुछ पर्वाह न की जाय; बल्कि महाभाष्यके अस्तित्व, प्रचार और उल्लेखकी इस समयमें ही अधिक संभावना पाई जाती है और यही उनके लिये ज्यादा उपयुक्त जान पड़ता है । अतः पहले उल्लेखोंके साथ पिछले उल्लेखोंकी शृंखला और संगति ठीक विठलानेके लिये इस वातकी खास जरूरत है कि १२ वीं शताब्दीसे ३ री शताब्दी तकके प्राचीन जैनसाहित्यको खूब टटोला जाय—उस समयका कोई भी ग्रंथ अथवा शिलालेख देखनेसे वाकी न रक्खा जाय;—ऐसा होनेपर इन पिछले उल्लेखोंकी शृंखला और संगति ठीक वैठ सकेगी और तव वे और भी ज्यादा वजनदार हो जायँगे । साथ ही, इस ढूँढ़-खोजसे समन्तभद्रके दूसरे भी कुछ ऐसे ग्रंथों तथा जीवनवृत्तान्तोंका पता चलनेकी आशा की जाती है जो इस इतिहासमें निवद्ध नहीं हो सके और जिनके मालूम होनेपर समन्तभद्रके इतिहासका और भी ज्यादा उद्धार होना संभव है । आशा है पुरातत्त्वके प्रेमी और समन्तभद्रके इतिहासका उद्धार करनेकी इच्छा रखनेवाले विद्वान् जरूर इस ढूँढ़खोजके लिये अच्छा यत्न करेंगे और इस तरहपर शीघ्र ही कुछ विवादग्रस्त प्रश्नोंको हल करनेमें समर्थ हो सकेंगे । जो विद्वान् अपने इस विषयके परिश्रम तथा अनुभवसे हमें कोई नई वात सुझाएँगे अथवा इतिहासमें निवद्ध किसी वातपर युक्तिपूर्वक कोई खास प्रकाश डालनेका कष्ट उठाएँगे वे हमारे विशेष धन्यवादके पात्र होंगे और उनकी उस वातको अगले संस्करणमें योग्य स्थान दिये जानेका प्रयत्न किया जायगा ।

इति भद्रम् ।

सरसावा, जि० सहारनपुर
वैशाख शुक्ला २, सं० १९८२

जुगलकिशोर, मुख्तार ।

परिशिष्ट ।

—:o:—

इतिहासके ' समय-निर्णय ' नामक प्रकरणमें चर्चित कई विषयोंके सम्बंधमें हमें बादको कुछ नई बातें मालूम हुई हैं, जिन्हें पाठकोंकी अनुभववृद्धि और उनके तद्विषयक विचारोंमें सहायता पहुँचानेके लिये यहाँपर दे देना उचित और आवश्यक जान पड़ता है। इसी लिये, इस परिशिष्टकी योजना-द्वारा, नीचे उसका प्रयत्न किया जाता है:—

(१) विबुध श्रीधरके ' श्रुतावतार ' * से मालूम होता है कि कुन्दकुन्दाचार्यने ' षट्खण्डागम ' के प्रथम तीन खण्डों पर कोई टीका नहीं लिखी; उनके नामसे इन्द्रनन्दीने, अपने ' श्रुतावतार'में, १२ हजार श्लोकपरिमाणवाली जिस टीका अथवा ' परिकर्म ' नामक भाष्यका उल्लेख किया है (इतिहास पृ० १६०, १६१, १६२ फु० नो० १८१) वह उनके शिष्य 'कुन्दकीर्ति' की रचना है। यथा—

"इति सूरिपरंपरया द्विविधसिद्धान्तो व्रजन् मुनीन्द्रकुन्दकुन्दाचार्यसमीपे सिद्धान्तं ज्ञात्वा कुन्दकीर्तिनामा षट्खंडानां मध्ये प्रथमत्रिखंडानां द्वादशसहस्रप्रमितं परिकर्म नाम शास्त्रं करिष्यति।"

परन्तु इस उल्लेखसे इतना जरूर पाया जाता है कि 'षट्खंडागम' की रचना कुन्दकुन्दसे पहले हो गई थी। वे आचार्यपरम्परासे दोनों

---

* यह 'श्रुतावतार' विबुध श्रीधरके 'पंचाधिकार' नामक शास्त्रका एक प्रकरण (चौथा परिच्छेद) है और माणिकचंद्र-ग्रंथमालाके २१ वें ग्रन्थ 'सिद्धान्तसारादिसंग्रह' में प्रकाशित हो चुका है।

सिद्धान्तोंके—कर्मप्राभृत नामक षट्खंडागम और कषायप्राभृतके—ज्ञाता हुए थे और इसलिये उन सिद्धान्तोंकी रचनामें कारणीभूत ऐसे धरसेन, पुष्पदन्त, भूतवलि तथा गुणधरादि[1] आचार्योंको उनसे पहलेके विद्वान् समझना चाहिये ।

(२) विवुध श्रीधरने तुम्बुलूराचार्यको षट्खण्डागमादि सिद्धान्त-ग्रंथोंका टीकाकार नहीं माना । उन्होंने, अपने श्रुतावतारमें 'कुन्दकीर्ति' के वाद 'श्यामकुण्ड'को, श्यामकुण्डके वाद 'समन्तभद्र'को और समन्त-भद्रके वाद 'वप्पदेव'को टीकाकार प्रतिपादन किया है । यथा—

षष्ठखंडेन विना तेषां खंडानां सकलभाषाभिः पद्धतिनामग्रंथं द्वादशसहस्रप्रमितं श्यामकुण्डनामा भट्टारकः करिष्यति तथा च षष्ठखण्डस्य सप्तसहस्रप्रमितां पंजिकां च । द्विविध सिद्धान्तस्य व्रजतः समुद्धरणे समन्तभद्रनामा मुनीन्द्रो भविष्यति सोपि पुनः षट्खण्डपंचखण्डानां संस्कृतभाषयाष्टषष्ठिसहस्रप्रमितां टीकां करिष्यति द्वितीयसिद्धान्तटीकां शास्त्रे लिखापयन् सुधर्म्मनामा मुनिर्वारयिष्यति द्रव्यादिशुद्धेरभावात् । इति द्विविधं सिद्धान्तं व्रजंतं शुभनन्दिभट्टारकपार्श्वे श्रुत्वा ज्ञात्वा च वप्पदेवनामा मुनीन्द्रः प्राकृतभाषया अष्टसहस्रप्रमितां टीकां करिष्यति" ।

इतिहासके पृष्ठ १९२ पर दूसरे विद्वानोंके कथनानुसार तुम्बुलूरा-चार्य और श्रीवर्द्धदेवको एक व्यक्ति मानकर जो यह प्रतिपादन किया

---

१ 'आदि' शब्दसे 'नागहस्ति' आदि जिन चार आचार्योंका यहाँ अभिप्राय है उनमेंसे 'आर्यमंक्षु'का नाम इस 'श्रुतावतार'में नहीं दिया, तीसरे 'यतिवृषभ' का नाम 'यतिनायक' और चौथे उच्चारणाचार्यका नाम 'समुद्धरण' मुनि वतलाया है ।

गया था कि इन्द्रनन्दिका तव अपने 'श्रुतावतार'में 'समन्तभद्रको तुम्बुलूराचार्यके वादका विद्वान् वतलाना ठीक नहीं हैं' उसको इस उल्लेखसे कितना ही पोपण मिलता है और इन्द्रनन्दिके उक्त उल्लेख (इ० पृ० १९०) की स्थिति वहुत कुछ संदिग्ध हो जाती है। परंतु तुम्बुलूराचार्यको श्रीवर्द्धदेवसे पृथक् व्यक्ति मान लेनेपर, जिसके मान लेनेमें अभी तक कोई वाधा माळूम नहीं होती, इन्द्रनन्दीका वह उल्लेख एक मतविशेषके तौरपर स्थिर रहता है; और इस लिये इस वातके खोज किये जानेकी खास जरूरत है कि वास्तवमें तुम्बुलूराचार्य और श्रीवर्द्धदेव दोनों एक व्यक्ति थे या अलग अलग।

विवुध श्रीधरने समन्तभद्रकी सिद्धान्तटीकाको इन्द्रनन्दीके कथन (४८ हजार) से भिन्न, ६८ हजार श्लोकपरिमाण वतलाया है, यह ऊपरके उल्लेखसे—'अष्टषष्टिसहस्रप्रमितां' पदसे—विलकुल स्पष्ट ही है, इस विषयमें कुछ कहनेकी जरूरत नहीं।

(३) विवुध श्रीधरके 'श्रुतावतार' से एक खास वात यह भी माळूम होती है कि भूतवलि नामा मुनि पहले '**नरवाहन**' नामके राजा और पुष्पदन्त मुनि उनकी वसुंधरा नगरीके '**सुबुद्धि**' नामक सेठ थे। मगधदेशके स्वामी अपने मित्रको मुनि हुआ देखकर नरवाहनने सेठ सुबुद्धिसहित जिन दीक्षा ली थी। ये ही दोनों धरसेनाचार्यके पास शास्त्रकी व्याख्या सुननेके लिये गये थे, और उसे सुन लेनेके वादसे ही इनकी 'भूतबलि' और 'पुष्पदन्त' नामसे प्रसिद्धि हुई[1]। भूतवलिने 'षट्खण्डागम' की रचना की और पुष्पदन्त मुनि 'विंशति प्ररूपणा'के कर्ता हुए। यथा—

---

1 इस प्रसिद्धिसे पहले इन दोनों आचार्योंके दीक्षासमयके क्या नाम थे, इस वातकी अभी तक कहींसे भी कोई उपलब्धि नहीं हुई।

' अत्र भरतक्षेत्रे वांमिदेशे वसुंधरा नगरी भविष्यति। तत्र नरवाहनो राजा, तस्य सुरूपा राज्ञी......। निजमित्रं मगधस्वामिनं मुनीन्द्रं दृष्ट्वा वैराग्यभावनाभावितो नरवाहनोपि श्रेष्ठिना सुबुद्धिनाम्ना सह जैनीं दीक्षां धरिष्यति।.......धरसेनभट्टारकः कतिपयदिनैर्नरवाहनसुबुद्धिनाम्नोः पठनाकर्णनचिंतनक्रियां कुर्वतोराषाढश्वेतैकादशीदिने शास्त्रं परिसमाप्तिं यास्यति। एकस्य भूता रात्रौ बलिविधिं करिष्यंति, अन्यस्य दन्तचतुष्क सुन्दरं। भूतबलिप्रभावाद्भूतबलिनामा नरवाहनो मुनिर्भविष्यति समदन्तचतुष्टयप्रभावात् सद्बुद्धिः पुष्पदन्त नामा मुनिर्भविष्यति।...........यथा षट्खण्डागमरचनाकारको भूतबलिभट्टारकस्तथा पुष्पदन्तोपि विंशतिप्ररूपणानां कर्ता।"

इस सब कथनपर कोई विशेष विचार न करके हम यहाँपर सिर्फ इतना ही बतलाना चाहते हैं कि, यद्यपि, भारतीय प्राचीन इतिहासके प्रधान ग्रंथों—' अर्ली हिस्टरी ऑफ इंडिया' आदिमें ' नरवाहन ' नामके राजाका कोई उल्लेख नहीं मिलता; परन्तु दिगम्बर सम्प्रदायके दो प्राचीन ग्रंथों—' त्रिलोकप्रज्ञाति ' (तिलोय-पण्णत्ति) और 'हरिवंशपुराण' (जिनसेनकृत) में उसका उल्लेख जरूर पाया जाता है। साथ ही भाषा हरिवंशपुराणकी श्रीनगेन्द्रनाथ वसु-लिखित प्रस्तावनासे यह भी मालूम होता है कि श्वेताम्बर संप्रदायके ' तित्थुगुंलिय-पयण्ण' और ' तीर्थोद्धारप्रकीर्ण' नामक ग्रंथोंमें भी ' नरवाहन नामके राजाका

१ देखो 'गांधी हरिभाई देवकरण जैनग्रंथमाला' में प्रकाशित भाषा हरिवंशपुराणका सन् १९१६ का संस्करण।

उल्लेख मिलता है और उसे 'नरसेन' भी लिखा है। दोनों सप्रदायके ग्रंथोंमें नरवाहनका राज्यकाल ४० वर्षका बतलाया है परन्तु उसके आरंभ तथा समाप्तिके समयोंमें परस्पर कुछ मतभेद है। दिगम्बर ग्रंथोंके अनुसार नरवाहनका राज्यकाल वीरनिर्वाणसे ४४५ (६०+१५५+४०+३०+६०+१००) वर्षके बाद प्रारंभ होकर वीर नि० सं० ४८५ पर समाप्त होता है, और श्वेताम्बर ग्रंथोंके कथनसे (नगेन्द्रनाथ वसुके उल्लेखानुसार) वह वीरनिर्वाणसे ४१३ (६०+१५५+१०८+३०+६०) वर्षके बाद प्रारंभ और वीर नि० सं० ४५३ पर समाप्त होता हैं। इस तरह पर दोनोंमें ३२ वर्षका कुल अन्तर है। परन्तु इस अन्तरको रहने दीजिये और यह देखिये कि, यदि सचमुच ही इसी राजा नरवाहनने भूतबलि मुनि होकर 'षट्खण्डागम' नामक सिद्धान्त-ग्रंथकी रचना की है और उसका यह समय (दोनोंमेंसे कोई एक) ठीक है तो हमें कहना होगा कि उक्त सिद्धान्त ग्रंथकी रचना उस वक्त हुई है जब कि एकादशांगश्रुतके—ग्यारह अंगोंके—पाठी महामुनि मौजूद थे* और जिनकी उपस्थितिमें 'कर्मप्राभृत'श्रुतके व्युच्छेदकी कोई आशंका नहीं थी। ऐसी हालतमें, उक्त आशंकाको लेकर, 'षट्खण्डागम' श्रुतके अवतारकी जो कथा इन्द्रनन्दी आचार्यने अपने 'श्रुतावतार'में लिखी है वह बहुत कुछ कल्पित ठहरती है। उनके कथनानुसार भूतबलि आचार्य वीरनिर्वाण सं० ६८३ से भी कितने ही वर्ष बाद हुए हैं और इन दोनों समयोंमें प्रायः २०० वर्षका भारी अन्तर है। अतः विबुध श्रीधरके उक्त कथनकी खास तौरपर जाँच होनेकी जरूरत है और विद्वानोंको इस नरवा-

* इन एकादशांगपाठी महामुनियोंका अस्तित्व, त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदि प्राचीन ग्रन्थोंके अनुसार, वीरनिर्वाणसे ५६५ वर्षपर्य्यंत रहा है।

इन राजाके अस्तित्वादि विषयक विशेष बातोंका पता चलाना चाहिये । विबुधश्रीधरके इस श्रुतावतारमें और भी कई बातें ऐसी हैं जो इन्द्र-नन्दीके श्रुतावतारसे भिन्न हैं ।

यहाँपर हम इतना और भी प्रकट कर देना उचित समझते हैं कि, 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' पर लिखे हुए अपने लेखमें, श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमीने नरवाहनको 'नहपान' राजा सूचित किया है । परंतु उनका यह सूचित करना किस आधारपर अवलम्बित है उसे जाननेका प्रयत्न करनेपर भी हम अभी तक कुछ मालूम नहीं कर सके और न स्वयं ही दोनोंकी एकताका हमें कोई यथेष्ट प्रमाण उपलब्ध हो सका है। अस्तु। इसमें संदेह नहीं कि नहपान एक इतिहासप्रसिद्ध क्षत्रप राजा हो गया है और उसके बहुतसे सिक्के भी पाये जाते हैं । विन्सेंट स्मिथ साहबने, अपनी 'अर्ली हिस्टरी ऑफ इंडिया'में नहपानको करीब करीब ईसवी सन् ६० और ९० के मध्यवर्ती समयका राजा बतलाया है और पं० विश्वेश्वर-नाथजी, 'भारतके प्राचीन राजवंश' में उसे शककी प्रथम शताब्दीके पूर्वार्धका राजा प्रकट करते हैं । नहपानके जामाता उषवदात (ऋषभदत्त) का भी एक लेख शक सं० ४२ का मिला है और उससे नहपानके समयपर अच्छा प्रकाश पड़ता है । हो सकता है कि नहपान और नरवाहन दोनों एक ही व्यक्ति हों परन्तु ऐसा माने जानेपर त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदिमें नरवाहनका जो समय दिया है उसे या तो कुछ गलत कहना होगा और या यह स्वीकार करना पड़ेगा कि 'त्रिलोक-

---

१ देखो जैनहितैषी, भाग १३, अंक १२, पृष्ठ ५३४ ।

२ देखो तृतीय संस्करणका पृ० २०९ ।

प्रज्ञप्ति ' में शकराजाका वीरनिर्वाणसे ४६१ वर्ष वाद होनेका जो प्रधान उल्लेख मिलता है वह प्रायः ठीक है और उसे संभवतः शक राजाके राज्यकालकी समाप्तिका समय समझना चाहिये । अस्तु; इन सब वातोंकी जाँच पड़ताल और यथार्थ निर्णयके लिये विशेष अनुसंधानकी जरूरत है, जिसकी ओर विद्वानोंका प्रयत्न होना चाहिये ।

(४) डा० हर्मन जैकोवीने अपने हालके एक लेखमें, * लिखा है कि ' **सिद्धसेन दिवाकर** ' ईसाकी ७ वीं शताब्दीके विद्वान् थे अथवा उनका यही समय होना चाहिये—क्योंकि वे बौद्धतत्त्ववेत्ता ' **धर्मकीर्ति** ' के न्यायशास्त्रसे परिचित थे:—

" ...The first Svetambara author of Sanskrit works which have come down to us was Siddhasen Divakara who must be assigned to the 7th century A. D. since he was acquainted with the logics of the Buddhist philosopher Dharmakirti."

डाक्टरसाहवने, यद्यपि,अपने प्रकृत कथनका कोई स्पष्टीकरण नहीं किया परन्तु उनके इस हेतुप्रयोगसे इतना जरूर माळूम होता है कि उन्होंने सिद्धसेन दिवाकरके ' न्यायावतार ' ग्रंथकी खास तौरसे जाँच की है और धर्मकीर्तिके ग्रंथोंके साथ उसके साहित्यकी भीतरी जाँच परसे ही वे इस नतीजे को पहुँचे हैं । यदि सचमुच ही उनका यह नतीजा

* यह लेख भा० दि० जैन परिषद्के पाक्षिकपत्र ' वीर'के गत ' महावीर जयन्ती अंक ' (नं० ११–१२) में प्रकाशित हुआ है ।

१ बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति ईसाकी ७ वीं शताब्दीके विद्वान् थे, यह वात पहले (पृ० १२३) जाहिर की जा चुकी है ।

सही है × तो इस कहनेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि सिद्ध-सेन दिवाकरको, विक्रमादित्यकी सभाके नव रत्नोंमेंसे ' क्षपणक ' नामके विद्वान् मानकर और वराहमिहिरके समकालीन ठहराकर, जो ईसाकी छठी और पाँचवीं शताब्दीके विद्वान् बतलाया गया है, अथवा

× धर्मकीर्तिके ' न्यायविन्दु ' आदि ग्रंथोंके सामने मौजूद न होनेसे हम इस विषयकी कोई जाँच नहीं कर सके। हो सकता है कि ' न्यायावतार'में प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंके जो लक्षण दिये गये हैं वे धर्मकीर्तिके लक्षणोंको भी लक्ष्य करके लिखे गये हों। '**प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तं**' यह ' प्रत्यक्ष ' का लक्षण धर्मकीर्तिका प्रसिद्ध है। न्यायावतारके चौथे पद्यमें प्रत्यक्षका लक्षण, अकलंकदेवकी तरह '**प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं**' न देकर, जो '**अपरोक्ष-तयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशं प्रत्यक्षं**' दिया है, और अगले पद्यमें, अनु-मानका लक्षण देते हुए, '**तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात्समक्षवत्**' वाक्यके द्वारा उसे (प्रत्यक्षको) ' अभ्रान्त ' विशेषणसे विशेषित भी सूचित किया है उससे ऐसी ध्वनि जरूर निकलती है अथवा इस बातकी संभावना पाई जाती है कि सिद्धसेनके सामने—उनके लक्ष्यमें—धर्मकीर्तिका उक्त लक्षण भी स्थित था और उन्होंने अपने लक्षणमें, '**ग्राहकं**' पदके प्रयोगद्वारा प्रत्यक्षको व्यवसायात्मक ज्ञान बतलाकर, धर्मकीर्तिके '**कल्पनापोढं**' विशेषणका निरसन अथवा वेधन किया है और, साथ ही, उनके '**अभ्रान्त**' विशेषणको प्रकारान्तरसे स्वीकार किया है। न्यायावतारके टीकाकार भी ' ग्राहकं ' पदके द्वारा बौद्धों (धर्मकीर्ति) के उक्त लक्षणका निरसन होना बतलाते हैं। यथा—

" ग्राहकमिति च निर्णायकं दृष्टव्यं, निर्णयाभावेऽर्थग्रहणायोगात्। तेन यत् ताथागतैः प्रत्यपादि ' प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमिति ' तदपास्तं भवति, तस्य युक्तिरिक्तत्वात्। "

इसी तरहपर '**त्रिरूपाल्लिंगतो लिंगिज्ञानमनुमानं**' यह धर्मकीर्तिके अनुमानका लक्षण है। इसमें ' त्रिरूपात् ' पदके द्वारा लिंगको त्रिरूपात्मक बतलाकर अनुमानके साधारण लक्षणको एक विशेषरूप दिया गया है। हो सकता है कि इस पर लक्ष्य रखते हुए ही सिद्धसेनने अनुमानके '**साध्याविना-**

विक्रमकी पहली शताब्दीके विद्वान् कहा जाता है वह सब ठीक नहीं है। साथ ही यह भी कहना होगा कि वराहमिहिर अथवा कालिदासके समकालीन 'क्षपणक' नामके यदि कोई विद्वान् हुए हैं तो वे इन सिद्धसेन दिवाकरसे भिन्न दूसरे ही विद्वान् हुए हैं। और इसमें तो तब, कोई संदेह ही नहीं हो सकता कि ईसाकी पाँचवीं शताब्दीके विद्वान् श्रीपूज्यपाद आचार्यने अपने 'जैनेन्द्र' व्याकरणके निम्न सूत्रमें, जिन 'सिद्धसेन'का उल्लेख किया है वे अवश्य ही दूसरे सिद्धसेन थे—

वेत्तेः सिद्धसेनस्य ॥ ५–१–७ ॥

आश्चर्य नहीं जो ये दूसरे सिद्धसेन हों जिनका दिगम्बर ग्रंथोंमें उल्लेख पाया जाता है और जिनका कुछ परिचय पृष्ठ १३८–१३९ पर दिया जा चुका है—दिगम्बर ग्रंथोंमें सिद्धसेनका 'सिद्धसेन दिवाकर' नामसे उल्लेख भी नहीं मिलता;—ऐसी हालतमें इस बातकी भी खोज लगानेकी खास जरूरत होगी कि सिद्धसेनके नामसे जितने ग्रंथ इस समय उपलब्ध हैं उनमेंसे कौन ग्रंथ किस सिद्धसेनका बनाया हुआ है। आशा है डाक्टर महोदय अपने हेतुको स्पष्ट करनेकी कृपा करेंगे और दूसरे विद्वान् भी इस जरूरी विषयके अनुसन्धानकी ओर अपना ध्यान देंगे।

भुनोर्लिंगात्साध्यनिश्चायकमनुमानं' इस लक्षणका विधान किया हो और इसमें लिंगका 'साध्याविनाभावी' ऐसा एक रूप देकर धर्मकीर्तिके त्रिरूपका कदर्थन करना ही उन्हें इष्ट रहा हो। कुछ भी हो, इस विषयमें अच्छी जाँचके विना अभी हम निश्चितरूपसे कुछ कहना नहीं चाहते।



श्रीवीतरागाय नमः ।

श्रीसमन्तभद्रस्वामि-विरचितो

रत्नकरण्डकश्रावकाचारः ।

श्रीप्रभाचन्द्राचार्यनिर्मितटीकालंकृतः ।



समन्तभद्रं निखिलात्मबोधनं
जिनं प्रणम्याखिलकर्मशोधनम् ।
निबन्धनं रत्नकरण्डके परं
करोमि भव्यप्रतिबोधनाकरम् ॥ १ ॥

श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकप्रख्यं सम्यग्दर्शनादिरत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो

१ रत्नकरण्डकं ग पुस्तके । २ भक्तया ख पुस्तके ।

निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह;—

नमः श्रीवर्द्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने ।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ॥ १ ॥

'नमो' नमस्कारोऽस्तु । कस्मै ? 'श्रीवर्धमानाय' अन्तिमतीर्थङ्कराय तीर्थंकरसमुदायाय वा । कथं ? अव—समन्तादृद्धं परमातिशयप्राप्तं मानं केवलज्ञानं यस्यासौ वर्धमानः। 'अवाप्योरल्लोपः' इत्यवशब्दाकारलोपः। श्रिया बहिरंगयाऽन्तरंगया च समवशरणानन्तचतुष्टयलक्षणयोपलक्षितो वर्धमानः श्रीवर्धमान इति व्युत्पत्तेः, तस्मै कथंभूताय ? 'निर्धूतकलिलात्मने' निर्धूतं स्फोटितं कलिलं ज्ञानावरणादिरूपं पापमात्मन आत्मनां वा भव्यजीवानां येनासौ निर्धूतकलिलात्मा तस्मै । यस्य विद्या केवलज्ञानलक्षणा किं करोति ? ' दर्पणायते ' दर्पण इवात्मानमाचरति । केषां ? ' त्रिलोकानां ' त्रिभुवनानां । कथंभूतानां ? ' सालोकानां ' अलोकाकाशसहितानां । अयमर्थः—यथा दर्पणो निजेन्द्रियागोचरस्य मुखादेः प्रकाशकस्तथा सालोकत्रिलोकानां तथाविधानां तद्विद्या प्रकाशिकेति । अत्र च पूर्वार्द्धेन भगवतः सर्वज्ञतोपायः, उत्तरार्धेन च सर्वज्ञतोक्ता ॥ १ ॥

अथ तन्नमस्कारकरणानन्तरं किं कर्तुं लग्नो भवानित्याह;—

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणम् ।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥ २ ॥

' देशयामि ' कथयामि। कं ? 'धर्मं'। कथंभूतं ? 'समीचीनं' अबाधितं तदनुष्ठातॄणामिह परलोके चोपकारकं । कथं तं तथा निश्चितवन्तो भवन्त इत्याह ' कर्मनिबर्हणं ' यतो धर्मः संसारदुःखसम्पादककर्मणां

१ उपायकर्म ग। २ प्रतिपादयामि ख।

निवर्हणो विनाशकस्ततो यथोक्तविशेषणविशिष्टः । अमुमेवार्थं व्युत्पत्तिद्वारेणास्य समर्थयमानः संसारेत्याद्याह संसारे चतुर्गतिके दुःखानि शारीरमानसादीनि तेभ्यः 'सत्वान्' प्राणिन उद्धृत्य 'यो धरति' स्थापयति । क ? 'उत्तमे सुखे' स्वर्गापवर्गादिप्रभवे सुखे स धर्म इत्युच्यते ॥ २ ॥

अथैवंविधधर्मस्वरूपतां कानि प्रतिपद्यन्त इत्याह;—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥ ३ ॥

दृष्टिश्च तत्त्वार्थश्रद्धानं, ज्ञानं च तत्त्वार्थप्रतिपत्तिः, वृत्तं चारित्रं पापक्रियानिवृत्तिलक्षणं । सन्ति समीचीनानि च तानि दृष्टिज्ञानवृत्तानि च । 'धर्मं' उक्तस्वरूपं। 'विदुः'वदन्ति प्रतिपादयन्ते। के ते ? 'धर्मेश्वरा' रत्नत्रयलक्षणधर्मस्य ईश्वरा अनुष्ठातृत्वेन प्रतिपादकत्वेन च स्वामिनो जिननाथाः । कुतस्तान्येव धर्मो न पुनर्मिथ्यादर्शनादीन्यपीत्याह—यदीयेत्यादि । येषां सद्दृष्ट्यादीनां सम्बन्धीनि यदीयानि तानि च तानि प्रत्यनीकानि च प्रतिकूलानि मिथ्यादर्शनादीनि 'भवन्ति' सम्पद्यन्ते। का ? 'भवपद्धतिः' संसारमार्गः। अयमर्थः—यतः सम्यग्दर्शनादिप्रतिपक्षभूतानि मिथ्यादर्शनादीनि संसारमार्गभूतानि[1] । अतः सम्यग्दर्शनादीनि स्वर्गापवर्गसुखसाधकत्वाद्धर्मरूपाणि सिद्ध्यन्तीति ॥ ३ ॥

तत्र सम्यग्दर्शनस्वरूपं व्याख्यातुमाह;—

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥ ४ ॥

सम्यग्दर्शनं भवति । किं ? 'श्रद्धानं' रुचिः । केषां ? 'आप्तागमतपोभृतां' वक्ष्यमाणस्वरूपाणां । न चैवं षड्द्रव्यसप्ततत्त्वनवपदार्थानां श्रद्धानमसंगृहीतमित्याशंकनीयं आगमश्रद्धानादेव[2] तच्छ्रद्धानसंग्रहप्रसिद्धेः ।

१ प्रमाणैः प्रसिद्धान्यतः कारणात् ख । २ आप्तागमश्रद्धानादेव ख ।

अबाधितार्थप्रतिपादकमाप्तवचनं ह्यागमः। तच्छ्रद्धाने तेषां श्रद्धानं सिद्धमेव। किं विशिष्टानां तेषां ? 'परमार्थानां' परमार्थभूतानां न पुनर्बौद्धमत इव कल्पितानां। कथंभूतं श्रद्धानं ? 'अस्मयं' न विद्यते वक्ष्यमाणो ज्ञानदर्पाद्यष्टप्रकारः स्मयो गर्वो यस्य तत्[1]। पुनरपि किंविशिष्टं[2] ? 'त्रिमूढापोढं' त्रिभिर्मूढैर्वक्ष्यमाणलक्षणैरपोढं रहितं यत्। 'अष्टांगं' अष्टौ वक्ष्यमाणानि निःशंकित्वादीन्यंगानि स्वरूपाणि यस्य ॥ ४ ॥

तत्र सद्दर्शनविषयतयोक्तस्याप्तस्य स्वरूपं व्याचिख्यासुराह;—

आप्तेनोत्[3]सन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥ ५ ॥

'आप्तेन' भवितव्यं, 'नियोगेन' निश्चयेन नियमेन वा। किंविशिष्टेन ? 'उत्सन्नदोषेण' नष्टदोषेण। तथा 'सर्वज्ञेन' सर्वत्र विषयेऽशेषविशेषतः परिस्फुटपरिज्ञानवता नियोगेन भवितव्यं। तथा 'आगमेशिना' भव्यजनानां हेयोपादेयतत्त्वप्रतिपत्तिहेतुभूतागमप्रतिपादकेन नियमेन[4] भवितव्यं। कुत एतदित्याह—'नान्यथा ह्याप्तता भवेत्' 'हि' यस्मात् अन्यथा उक्तविपरीतप्रकारेण, आप्तता न भवेत् ॥ ५ ॥

अथ के पुनस्ते दोषा ये तत्रोत्सन्ना इत्याशंक्याह;—

क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥ ६ ॥

क्षुच्च बुभुक्षा। पिपासा च तृषा। जरा च वृद्धत्वं। आतङ्कश्च व्याधिः। जन्म च कर्मवशाच्चतुर्गतिषूत्पत्तिः। अन्तकश्च मृत्युः। भयं चेहपरलोकात्राणागुप्तिमरणवेदनाऽऽकस्मिकलक्षणं। स्मयश्च जातिकुला-

१ न विद्यंते स्मया वक्ष्यमाणा यत्र इत्यादि पाठःख-पुस्तके। २ कथंभूतं ख। ३ 'च्छि' पाठान्तरं। ४ नियोगेन, ख, ग।

दिदर्पः। रागद्वेषमोहाः प्रसिद्धाः। चशब्दाच्चिन्तारतिनिद्राविस्मयमदस्वेदखेदा गृह्यन्ते। एतेऽष्टादशदोषा यस्य न सन्ति स आप्तः 'प्रकीर्त्यते' प्रतिपाद्यते। ननु चाप्तस्य भवेत् क्षुत्, क्षुदभावे आहारादौ प्रवृत्त्यभावाद्देहस्थितिर्नस्यात्। अस्ति चासौ, तस्मादाहारसिद्धिः। तथा हि। भगवतो देहस्थितिराहारपूर्विका, देहस्थितित्वादस्मदादिदेहस्थितिवत्। जैनेनोच्यते— अत्र किमाहारमात्रं साध्यते कवलाहारो वा? प्रथमपक्षे सिद्धसाधनता आसयोगकेवलिन आहारिणो जीवा इत्यागमाभ्युपगमात्। द्वितीयपक्षे तु देवदेहस्थित्या व्यभिचारः। देवानां सर्वदा कवलाहाराभावेऽप्यस्याः संभवात्। अथ मानसाहारास्तेषां तत्रस्थितिस्तर्हि केवलिनां कर्मनोकर्माहारात् सास्तु। अथ मनुष्यदेहस्थितित्वादस्मदादिवत्सा तत्पूर्विका इष्यते तर्हि तद्वदेव तद्देहे सर्वदा निःस्वेदत्वाद्यभावःस्यात्। अस्मदादावनुपलब्धस्यापि तदतिशयस्य तत्र संभवे भुक्त्यभावलक्षणोऽप्यतिशयःकिं न स्यात्। किं च अस्मदादौ दृष्टस्य धर्मस्य भगवति सम्प्रसाधने तज्ज्ञानस्येन्द्रियजनितत्वप्रसंगः (स्यात्) तथा हि-भगवतो ज्ञानमिन्द्रियजं ज्ञानत्वात् अस्मदादिज्ञानवत्। अतो भगवतः केवलज्ञानलक्षणातीन्द्रियज्ञानासंभवात् सर्वज्ञत्वाय दत्तो जलाञ्जलिः। ज्ञानत्वाविशेषेऽपि तज्ज्ञानस्यातीन्द्रियत्वे देहस्थितित्त्वाविशेषेऽपि तद्देहस्थितेरकवलाहारपूर्वकत्वं किं न स्यात्। वेदनीयसद्भावात्तस्य बुभुक्षोत्पत्तेर्भोजनादौ प्रवृत्तिरित्युक्तिरनुपपन्ना

१ अस्य स्थाने 'विषाद' इति पाठःख ग। २ जैनेनोच्यते ख-पुस्तके नास्ति।

३ णोकम्म कम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेओ॥
णोकम्मं तित्थयरे कम्मं णारेय माणसो अमरे।
कवलाहारो णरपसु ओज्जो पक्खीण......॥
विग्गहगइमावण्णा केवलिणो सम्मुहदो अजोगी य।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारिणो जीवा॥

४ तर्हि इति ख ग पुस्तकयो-र्नास्ति।

मोहनीयकर्मसहायस्यैव वेदनीयस्य बुभुक्षोत्पादने सामर्थ्यात्। भोक्तुमिच्छां बुभुक्षा सा मोहनीयकर्मकार्यत्वात् कथं प्रक्षीणमोहे भगवति स्यात्? अन्यथा रिरंसाया अपि तत्र प्रसंगात् कमनीयकामिन्यादिसेवाप्रसक्तेरीश्वरादेस्तस्याविशेषाद्वीतरागता न स्यात्। विपक्षभावनावशाद्रागादीनां हान्यतिशयदर्शनात् केवलिनि तत्परमप्रकर्षप्रसिद्धेर्वीतरागतासंभवे भोजनाभावपरमप्रकर्षोऽपि तत्र किं न स्यात् तद्भावनातो भोजनादावपि हान्यतिशयदर्शनाविशेषात्। तथा हि—एकस्मिन् दिने योऽनेकवारान् भुंक्ते, कदात् विपक्षभावनावशात् स एव पुनरेकवारं भुंक्ते। कश्चित् पुनरेकदिनाद्यन्तरितभोजनः, अन्यः पुनः पक्षमाससंवत्सराद्यन्तरितभोजन इति। किंच—बुभुक्षापीडानिवृत्तिर्भोजनरसास्वादनाद्भवेत् तदास्वादनं चास्य रसनेन्द्रियात् केवलज्ञानाद्वा? रसनेन्द्रियाच्चेत् मतिज्ञानप्रसंगात् केवलज्ञानाभावः स्यात्। केवलज्ञानाच्चेत् किं भोजनेन? दूरस्थस्यापि त्रैलोक्योदरवर्तिनो रसस्य परिस्फुटं तेनानुभवसंभवात्। कथं चास्य केवलज्ञानसंभवो भुंजानस्य श्रेणीतः पतितत्वेन प्रमत्तगुणस्थानवर्तित्वात्। अप्रमत्तो[1] हि साधुराहारकथामात्रेणापि प्रमत्तो भवति नार्हन्भुजानोऽपीति महच्चित्रं। अस्तु तावज्ज्ञानसंभवः तथाप्यसौ केवलज्ञानेन पिशिताद्यशुद्धद्रव्याणि पश्यन् कथं भुंजीत अन्तरायप्रसंगात्। गृहस्था अप्यल्पसत्त्वास्तानि[2] पश्यन्तोऽन्तरायं कुर्वन्ति किं पुनर्भगवाननन्तवीर्यस्तन्न कुर्यात्। तदकरणे वा तस्य तेभ्योऽपि हीनसत्त्वप्रसंगात्[3]। क्षुत्पीडासंभवे चास्य कथमनन्तसौख्यं स्यात् यतोऽनन्तचतुष्टयस्वामितास्य। न हि सान्तरायस्यानन्तता युक्ता ज्ञानवत्। न च बुभुक्षा पीडैव न भवतीत्यभिधातव्यं "क्षुधासमा नास्ति शरीरवेदना" इत्यभिधानात्। तदलमतिप्रसंगेन प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे प्रपञ्चतः प्ररूपणात्॥ ६॥

अथोक्तदोषैर्विवर्जितस्याप्तस्य वाचिकां नाममालां प्ररूपयन्नाह;—

1 अप्रमत्तोऽपि ख। २ सत्त्वानि ख ग। ३ हीनत्व ख।

परमेष्ठी परंज्योतिर्विरागो विमलः कृती।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते ॥ ७ ॥

परमे इन्द्रादीनां वन्द्ये पदे तिष्ठतीति 'परमेष्ठी'। परं निरावरणं परमातिशयप्राप्तं ज्योतिर्ज्ञानं यस्यासौ। 'विरागो' विगतो रागो भावकर्म यस्य। 'विमलो' विनष्टेमलो द्रव्यरूपो मूलोत्तरकर्मप्रकृतिप्रपंचो यस्य। 'कृती' निःशेपहेयोपादेयतत्त्वे विवेकसम्पन्नः। 'सर्वज्ञो' यथावन्निखिलार्थसाक्षात्कारी। 'अनादिमध्यान्तः' उक्तस्वरूपाप्तप्रवाहापेक्षया आदिमध्यान्तशून्यः। 'सार्वः' इहपरलोकोपकारकमार्गप्रदर्शकत्वेन सर्वेभ्यो हितः। 'शास्ता' पूर्वापरविरोधादिदोपपरिहारेणाखिलार्थानां यथावत्स्वरूपोपदेशकः। एतैः शब्दैरुक्तस्वरूप आप्त 'उपलाल्यते' प्रतिपाद्यते ॥७॥

सम्यग्दर्शनविपयभूताप्तस्वरूपमभिधायेदानीं तद्विपयभूतागमस्वरूपमभिधातुमाह;–

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ॥ ८ ॥

'शास्ता' आप्तः। 'शास्ति' शिक्षयति। कान्? 'सतः' आवपर्यस्तादित्वेन समीचीनान् भव्यान्। किं शास्ति? 'हितं' स्वर्गादितत्साधनं च सम्यग्दर्शनादिकं। किमात्मनः किंचित् फलमभिलपन्नसौ शास्तीत्याह—'अनात्मार्थं' न विद्यते आत्मनोऽर्थः प्रयोजनं यस्मिन् शासनकर्माणि परोपकारार्थमेवासौ तान् शास्ति। "परोपकाराय सतां हि चेष्टितं" इत्याभिधानात्। स तथा शास्तीत्येतत् कुतोवगतमित्याह— 'विना रागैः' यतो लाभपूजाख्यात्यभिलापलक्षणपैरै रागैर्विना शास्ति ततो नात्मार्थं शास्तीत्यवसीयते। अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थमाह—ध्वनन्नित्यादि। शिल्पिकरस्पर्शाद्वादककराभिघातान्मुरजो मर्दलो ध्वनन् किमा-

त्मार्थं किंचिदपेक्षते नैवापेक्षते । अयमर्थः—यथा मुरजः परोपकारार्थमेव विचित्रान् शब्दान् करोति तथा सर्वज्ञः शास्त्रप्रणयनमिति ॥ ८ ॥

कीदृशं तच्छास्त्रं यत्तेन प्रणीतमित्याह:—

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।[1]
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥ ९ ॥

'आप्तोपज्ञं' सर्वज्ञस्य प्रथमोक्तिः । अनुल्लंघ्यं यस्मात्तदाप्तोपज्ञं तस्मादिन्द्रादीनामनुल्लंघ्यमादेयं[2] । कस्मात्? तदुपज्ञत्वेन तेपामनुल्लंघ्यं यतः । 'अदृष्टेष्टविरोधकं'—दृष्टं प्रत्यक्षं, इष्टमनुमानादि, न विद्यते दृष्टेष्टाभ्यां विरोधो यस्य । तथाविधमपि कुतस्तत्सिद्धमित्याह—'तत्त्वोपदेशकृत्' यतस्तस्य सप्तविधस्य जीवादिवस्तुनो यथावत्स्थितस्वरूपस्य वा उपदेशकृत् यथावत्प्रतिदेशकं[3] ततो दृष्टेष्टाविरोधकं । एवंविधमपि कस्मादवगतं? यतः 'सार्वं' सर्वेभ्यो हितं सार्वमुच्यते तत्कथं यथावत्तत्त्वरूपप्ररूपणमन्तरेण घटेत । एतदप्यस्य कुतो निश्चितमित्याह—'कापथघट्टनं' यतः कापथस्य कुत्सितमार्गस्य मिथ्यादर्शनादेर्घट्टनं निराकारकं[4] सर्वज्ञप्रणीतं शास्त्रं ततस्तत्सार्वमिति ॥ ९ ॥

अथेदानीं श्रद्धानगोचरस्य तपोभृतः स्वरूपं प्ररूपयन्नाह:—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यानतपोरत्नस्तपस्वी[5] स प्रशस्यते ॥ १० ॥

विषयेषु स्त्रग्वनितादिष्वाशा आकांक्षा तस्या वशमधीनता । तदतीतो विषयाकांक्षारहितः । 'निरारम्भः' परित्यक्तकृष्यादिव्यापारः । 'अपरिग्रहो' वाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितः । 'ज्ञानध्यानतपोरत्नः' ज्ञानध्यान-

१ सिद्धसेन–दिवाकरस्य न्यायावतारेपि नवम एवायं श्लोकः । २ तस्मादितरवादिना ख । ३ प्रतिपादकं ख । ४ राकरणकारणं ख । ५ 'ज्ञानध्यानतपोरक्त' इत्यपि प्रसिद्धः ।

तपांस्येव रत्नानि यस्य एतद्गुणविशिष्टो यः स तपस्वी गुरुः 'प्रशस्यते' श्लाघ्यते ॥ १० ॥

इदानीमुक्तलक्षणदेवागमगुरुविषयस्य सम्यग्दर्शनस्य निःशंकितत्वगुणस्वरूपं प्ररूपयन्नाह;—

इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा ।
इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः ॥ ११ ॥

'रुचिः' सम्यग्दर्शनं । 'असंशया' निःशंकितत्वधर्मोपेता । किंविशिष्टा सती ? 'अकम्पा' निश्चला । किंवत् ? 'आयसाम्भोवत्' अयसि भवमायसं तच्च तदम्भश्च पानीयं तदिव तद्वत् खड्गादिगतपानीयवदित्यर्थः । क्व साकम्पेत्याह—'सन्मार्गे' संसारसमुद्रोत्तरणार्थं सद्भिर्मृग्यते अन्वेष्यत इति सन्मार्ग आप्तागमगुरुप्रवाहस्तस्मिन् । केनोल्लेखेनेत्याह- 'इदमेवेत्यादि' इदमेवाप्तागमतपस्विलक्षणं तत्त्वं । 'ईदृशमेव' उक्तप्रकारेणैव लक्षणेन लक्षितं । 'नान्यत्' एतस्माद्भिन्नं न । 'न चान्यथा' उक्तलक्षणादन्यथा परपरिकल्पितलक्षणेन लक्षितं, 'न च' नैव तद्घटते इत्येवमुल्लेखेन ॥ ११ ॥

इदानीं निष्कांक्षितत्वगुणं सम्यग्दर्शने दर्शयन्नाह;—

कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये ।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकाङ्क्षणा स्मृता ॥ १२ ॥

'अनाकांक्षणा स्मृता' निष्कांक्षितत्वं निश्चितं । कासौ ? 'श्रद्धा' । कथंभूता ? 'अनास्था' न विद्यते आस्था शाश्वतबुद्धिर्यस्यां । न आस्था अनास्था । तस्यां तया वा श्रद्धा अनास्थाश्रद्धा सा चाप्यनाकांक्षणेति स्मृता । क्व अनास्थाऽरुचिः ? 'सुखे' वैषयिके । कथंभूते ? 'कर्मपरवशे' कर्मायत्ते । तथा 'सान्ते' अन्तेन विनाशेन सह वर्तमाने । तथा 'दुःखैरन्तरितोदये' दुःखैर्मानसशारीरैरन्तारित उदयः प्रादुर्भावो यस्य । तथा 'पापबीजे' पापोत्पत्तिकारणे ॥ १२ ॥

सम्प्रति निर्विचिकित्सागुणं सम्यग्दर्शनस्य प्ररूपयन्नाह;—

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता॥ १३॥

'निर्विचिकित्सता मता' अभ्युपगता। कासौ? 'निर्जुगुप्सा' विचिकित्साभावः। क्व? काये। किंविशिष्टे? 'स्वभावतोऽशुचौ' स्वरूपेणापवित्रिते। इत्थंभूतेऽपि काये 'रत्नत्रयपवित्रिते' रत्नत्रयेण पवित्रिते पूज्यतां नीते। कुतस्तथाभूते निर्जुगुप्सा भवतीत्याह—'गुणप्रीतिः' यतो गुणेन रत्नत्रयाधारभूतमुक्तिसाधकलक्षणेन प्रीतिर्मनुष्यशरीरमेवेदं मोक्षसाधकं नान्यद्देवादिशरीरमित्यनुरागः। ततस्तत्र निर्जुगुप्सेति॥ १३॥

अधुना सद्दर्शनस्यामूढदृष्टित्वगुणं प्रकाशयन्नाह;—

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसम्मतिः।
असंपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते॥ १४॥

अमूढा दृष्टिरमूढत्वगुणविशिष्टं सम्यग्दर्शनं। का? 'असम्मतिः' न विद्यते मनसा सम्मतिः श्रेयः साधनतया सम्मननं यत्र दृष्टौ। क्व? 'कापथे' कुत्सितमार्गे मिथ्यादर्शनादौ। कथंभूते? 'पथि' मार्गे। केषां? 'दुःखानां'। न केवलं तत्रैवासम्मतिरपि तु 'कापथस्थेऽपि' मिथ्यादर्शनाद्याधारेऽपि जीवे। तथा 'असंपृक्तिः' न विद्यते सम्पृक्तिः कायेन नखच्छोटिकादिना प्रशंसा यत्र। 'अनुत्कीर्तिः' न विद्यते उत्कीर्तिरुत्कीर्तनं वाचा संस्तवनं यत्र। मनोवाक्कायैर्मिथ्यादर्शनादीनां तद्वतां चाप्रशंसाकरणममूढं सम्यग्दर्शनमित्यर्थः॥ १४॥

अथोपगूहनगुणं तस्य प्रतिपादयन्नाह;—

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम्।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम्॥ १५॥

तदुपगूहनं वदन्ति यत्प्रमार्जन्ति निराकुर्वन्ति प्रच्छादयन्तीत्यर्थः । कां ? 'वाच्यतां' दोषं । कस्य ? 'मार्गस्य' रत्नत्रयलक्षणस्य । किंविशिष्टस्य ? 'स्वयं शुद्धस्य' स्वभावतो निर्मलस्य । कथंभूतां ? 'बालाशक्तजनाश्रयां' बालोऽज्ञः, अशक्तो व्रताद्यनुष्ठानेऽसमर्थः स चासौ जनश्च स आश्रयो यस्याः । अयमर्थः—हिताहितविवेकाविकलं व्रताद्यनुष्ठानेऽसमर्थजनमाश्रित्यागतस्य रत्नत्रये तद्वति वा दोषस्य यत् प्रच्छादनं तदुपगूहनमिति ॥ १५ ॥

अथ स्थितीकरणगुणं सम्यग्दर्शनस्य दर्शयन्नाह:—

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः ।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरणमुच्यते ॥ १६ ॥

'स्थितीकरणं' अस्थितस्य दर्शनादेश्चलितस्य स्थितं करणं स्थितीकरणमुच्यते । कैः ? प्राज्ञैस्तद्विचक्षणैः । किं तत् ? 'प्रत्यवस्थापनं' दर्शनादौ पूर्ववत् पुनरप्यवस्थापनं । केषां ? 'चलतां' । कस्मात् ? दर्शनाच्चरणाद्वापि । कैस्तेषां प्रत्यवस्थापनं ? 'धर्मवत्सलैः' धर्मवात्सल्ययुक्तैः ॥ १६ ॥

अथ वात्सल्यगुणस्वरूपं दर्शने प्रकटयन्नाह:—

स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥ १७ ॥

' वात्सल्यं ' सधर्मिणि स्नेहः । ' अभिलप्यते ' प्रतिपाद्यते । कासौ ? ' प्रतिपत्तिः ' पूजाप्रशंसादिरूपा । कथं ? ' यथायोग्यं ' योग्यानतिक्रमेण अञ्जलिकरणाभिमुखगमनप्रशंसावचनोपकरणसम्प्रदानादिलक्षणा । कान् प्रति ? ' स्वयूथ्यान् ' जैनान् प्रति । कथंभूता ? ' सद्भावसनाथा ' सद्भावेनावक्रतया सहिता चित्तपूर्विकेत्यर्थः । अत एव 'अपेतकैतवा ' अपेतं विनष्टं कैतवं माया यस्याः ॥ १७ ॥

अथ प्रभावनागुणस्वरूपं दर्शनस्य निरूपयन्नाहः—

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् ।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥ १८ ॥

'प्रभावना' स्यात् । कासौ ? 'जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः' । * जिनशासनस्य माहात्म्यप्रकाशस्तु * तपोज्ञानाद्यतिशयप्रकटीकरणं । कथं ? 'यथायथं' स्नपनदानपूजाविधानतपोमंत्रतंत्रादिविषये आत्मशक्त्यनतिक्रमेण । किं कृत्वा ? 'अपाकृत्य' निराकृत्य । कां ? 'अज्ञानतिमिरव्याप्तिं'* जिनमतात्परेषां यत्स्नपनदानादिविषयेऽज्ञानमेव तिमिरमन्धकारं तस्य व्याप्तिं * प्रसरम् ॥ १८ ॥

इदानीमुक्तनिःशंकितत्वाद्यष्टांगानां मध्ये कः केन गुणेन प्रधानतया प्रकटित इति प्रदर्शयन् श्लोकद्वयमाहः–

तावदञ्जनचौरोऽङ्गे ततोऽनन्तमतिः स्मृता ।
उद्दायनस्तृतीयेऽपि तुरीये रेवती मता ॥ १९ ॥
ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो वारिषेणस्ततः परः ।
विष्णुश्च वज्रनामा च शेषयोर्लक्ष्यतां गताः ॥ २० ॥

तावच्छब्दः क्रमवाची, सम्यग्दर्शनस्य हि निःशंकितत्वादीन्यष्टांगान्युक्तानि तेषु मध्ये प्रथमे निःशंकितत्वेऽगस्वरूपे तावल्लक्ष्यतां दृष्टान्ततां गतोऽञ्जनचोरः स्मृतो निश्चितः । द्वितीयेंऽगे निष्कांक्षितत्वे ततोऽञ्जनचोरादन्यानन्तमतिर्लक्ष्यतां गता मता । तृतीयेंऽगे निर्विचिकित्सत्वे उद्दायनो लक्ष्यतां गतो मतः । तुरीये चतुर्थेऽङ्गे अमूढदृष्टित्वे रेवती लक्ष्यतां गता मता । ततस्तेभ्यश्चतुर्थेभ्योऽन्यो जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठी उपगूहने लक्ष्यतां गतो मतः । ततो जिनेन्द्रभक्तात् परो वारिषेणः स्थितीकरणे लक्ष्यतां गतो मतः ।

१ सम्पादनादिलक्षणा ख । २ पुष्पमध्यगतः पाठ क–पुस्तके नास्ति ।

विष्णुश्च विष्णुकुमारो वज्रनामा च वज्रकुमारः शेषयोर्वात्सल्यप्रभावनयो-र्लक्ष्यतां गतौ मतौ। गता इति बहुवचननिर्देशो दृष्टान्तभूतोक्तात्मव्यक्ति-बहुत्वापेक्षया।

तत्र निःशंकितत्वेंऽजनचोरो दृष्टान्ततां गतोऽस्य कथा।

यथा धन्वंतरिविश्वलोमौ सुकृतकर्मवशादमितप्रभविद्युत्प्रभदेवौ संजातौ चान्योन्यस्य धर्मपरीक्षणार्थमत्रायातौ। ततो यमदग्निस्ताभ्यां तपसश्चा-लितः। मगधदेशे राजगृहनगरे जिनदत्तश्रेष्टी कृतोपवासः कृष्णचतुर्द-श्यां रात्रौ स्मशाने कायोत्सर्गेण स्थितो दृष्टः। ततोऽमितप्रभदेवेनोक्तं दूरे तिष्ठंतु मदीया मुनयोऽमुं गृहस्थं ध्यानाच्चालयेति, ततो विद्युत्प्रभदेवे-नानेकधा कृतोपसर्गोपि न चलितो ध्यानात्। ततः प्रभाते मायामुपसं-हृत्य प्रशस्य चाकाशगामिनी विद्या दत्ता। तस्मै कथितं च तवेयं सिद्धाऽ न्यस्य च पंचनमस्कारार्चनाराधनविधिना सेत्स्यतीति। सोमदत्तपुष्पवटु-केन चैकदा जिनदत्तश्रेष्टी पृष्टः क्व भवान् प्रातरेवोत्थाय व्रजतीति। तेनोक्तमकृत्रिमचैत्यालयवंदनाभक्तिं कर्तुं व्रजामि। ममेत्थं विद्यालाभः संजात इति कथिते तेनोक्तं मम विद्यां देहि येन त्वया सह पुष्पादिकं गृहीत्वा वंदनाभक्तिं करोमीति। ततः श्रेष्ठिना तस्योपदेशो दत्तः। तेन च कृष्णचतुर्दश्यां श्मशाने वटवृक्षपूर्वशाखायामष्टोत्तरशतपादं दर्भशिक्यं-बन्धयित्वा तस्य तले तीक्ष्णसर्वशस्त्राण्यूर्ध्वमुखानि धृत्वा गंधपुष्पा-दिकं दत्त्वा शिक्यमध्ये प्रविश्य षष्ठोपवासेन पंचनमस्कारानुच्चार्य छुरिक-यैकैकं पादं छिंदताऽधो जाज्वल्यमानप्रहरणसमूहमालोक्य भीतेन तेन संचिंतितं यदि श्रेष्ठिनो वचनमसत्यं भवति तदा मरणं भवतीति शंकि-

---

१कथेयमस्मत्सुहृद्वर्यश्रीवासुदेवपंडितैः स्वहस्तेनोल्लिखिते पुस्तके सुमहद्रूपेण वर्तते। २ अङ्गदेशे इति ग।

तमना वारंवारं चटनोत्तरणं करोति । एतस्मिन् प्रस्तावे प्रजापालराज्ञः कनकराज्ञीहारं दृष्ट्वांजनसुंदर्या विलासिन्या रात्रावागतोंजनचोरो भणितः । यदि मे कनकराज्ञ्या हारं ददासि तदा भर्त्ता त्वं नान्यथेति । ततो गत्वा रात्रौ हारं चोरयित्वांऽजनचोर आगच्छन् हारोद्योतेन ज्ञातोंऽगरक्षैः कोट्टपालैश्च ध्रियेमाणो[1] हारं त्यक्त्वा प्रणश्य गतः, वटतले वटुकं दृष्ट्वा तस्मान्मंत्रं गृहीत्वा निःशंकितेन तेन विधिनैकवारेण सर्वशिक्यं छिन्नं शस्त्रोपरि पतितः सिद्धया विद्यया भणितं ममादेशं देहीति । तेनोक्तं जिनदत्तश्रेष्ठिपार्श्वे मां नयेति । ततः सुदर्शनमेरुचैत्यालये जिनदत्तस्याग्रे नीत्वा स्थितः । पूर्ववृत्तांतं कथयित्वा तेन भणितं यथेयं सिद्धा भवदुपदेशेन तथा परलोकसिद्धावप्युपदेहीति । ततश्चारणमुनिसान्निध्ये तपो गृहीत्वा कैलाशे केवलमुत्पाद्य मोक्षं गतः ॥ १ ॥

निःकांक्षितत्वेऽनंतमतीदृष्टांतोऽस्याः कथा ।

अंगदेशे चंपानगर्य्यां राजा वसुवर्धनो राज्ञी लक्ष्मीमती । श्रेष्टी प्रियदत्तस्तद्भार्या अंगवती पुत्र्यनंतमती । नंदीश्वराष्टम्यां श्रेष्टिना धर्मकीर्त्याचार्यपादमूलेऽष्टदिनानि ब्रह्मचर्यं गृहीतं । क्रीडयाऽनंतमती च ग्राहिता । अन्यदा संप्रदानकालेऽनंतमत्योक्तं तात ! मम त्वया ब्रह्मचर्यं दापितमतः किं विवाहेन ? श्रेष्टिनोक्तं क्रीडया मया ते ब्रह्मचर्यं दापितं । ननु तात ! धर्मे व्रते का क्रीडा । ननु पुत्रि ! नंदीश्वराष्टदिनान्येव व्रतं तव न सर्वदा दत्तं । सोवाच ननु तथा भट्टारकैरविवक्षितत्वादिति । इह जन्मनि परिणयने मम निवृत्तिरस्तीत्युक्त्वा सकलकलाविज्ञानशिक्षां कुर्वंती स्थिता यौवनभरे चैत्रे निजोद्याने आंदोलयंती विजयार्धदक्षिणश्रेणिकिन्नरपुरविद्याधरराजेन कुंडलमंडितनाम्ना सुकेशी-[2] निजभार्यया सह गगनतले गच्छता दृष्टा । किमनया विना जीवितेनेति

१ गृहीष्यमाणः इति पाठान्तरम् । २ धृत इत्यन्यत्र ।

संचिंत्य भार्यां गृहे धृत्वा शीघ्रमागत्य विलपंती तेन सा नीता। आकाशे गच्छता भार्यां दृष्ट्वा भीतेन पर्णलघुविद्याः समर्प्य महाटव्यां मुक्ता। तत्र च तां रुदन्तीमालोक्य भीमनाम्ना भिल्लराजेन निजपाल्लिकायां नीत्वा प्रधानराज्ञीपदं तव ददामिमामिच्छेति भणित्वा रात्रावनिच्छतीं भोक्तुमारब्धा। व्रतमाहात्म्येन वनदेवतया तस्य ताडनाद्युपसर्गः कृतः। देवता काचिदियमिति भीतेन तेनावासितसार्थपुष्पकनाम्नः सार्थवाहस्य समर्पिता। सार्थवाहो लोभं दर्शयित्वा परिणेतुकामो न तया वाञ्छितः। तेन चानीयायोध्याया कामसेनाकुट्टिन्याः समर्पिता, कथमपि वेश्या न जाता। ततस्तया सिंहराजस्य राज्ञो दर्शिता तेन च रात्रौ हठात् सेवितुमारब्धा। नगरदेवतया तद्व्रतमाहात्म्येन तस्योपसर्गः कृतः। तेन च भीतेन गृहान्निःसारिता। रुदती सखेदं सा कमलश्रीक्षांतिकया श्राविकेति मत्वाऽतिगौरवेण धृता। अथानंतमतीशोकविस्मरणार्थं प्रियदत्तश्रेष्ठी बहुसहायो वंदनाभक्तिं कुर्वन्नयोध्यायां गतो निजस्यालकजिनदत्तश्रेष्ठिनो गृहे संध्यासमये प्रविष्टो रात्रौ पुत्रीहरणवार्तां कथितवान्। प्रभाते तस्मिन् वंदनाभक्तिं कर्तुं गते अतिगौरवितप्राघूर्णकनिमित्तं रसवतीं कर्तुं गृहे चतुष्कं दातुं कुशला कमलश्रीक्षांतिका श्राविका जिनदत्तभार्यया आकारिता। सा च सर्वं कृत्वा वसतिकां गता। वंदनाभक्तिं कृत्वा आगतेन प्रियदत्तश्रेष्ठिना चतुष्कमालोक्यानंतमतीं स्मृत्वा गह्वरितहृदयेन गद्गदितवचनेनाश्रुपातं कुर्वता भणितं। यया गृहमंडनं कृतं तां मे दर्शयेति। ततः सा आनीता तयोश्च मेलापके जाते जिनदत्तश्रेष्ठिना च महोत्सवः कृतः। अनंतमत्या चोक्तः तात! इदानीं मे तपो दापय दृष्टमेकस्मिन्नेव भवे संसारवैचित्र्यमिति। ततः कमलश्रीक्षांतिकापार्श्वे तपो गृहीत्वा बहुना कालेन विधिना मृत्वा तदात्मा सहस्रारकल्पे देवो जातः॥ २॥

निर्विचिकित्सिते उद्दायनो दृष्टांतोऽस्य कथा।

एकदा सौधर्मेन्द्रेण निजसभायां सम्यक्त्वगुणं व्यावर्णयता भरते वत्सदेशे रौरकपुरे उद्दायनमहाराजस्य निर्विचिकित्सितगुणः प्रशंसितस्तं परीक्षितुं वासवदेव उदुंबरकुष्ठकुथितं मुनिरूपं विकृत्य तस्यैव हस्तेन विधिना स्थित्वा सर्वमाहारं जलं च मायया भक्षयित्वातिदुर्गंधं वहुवमनं कृतवान्। दुर्गंधभयान्नष्टे परिजने प्रतीच्छतो राज्ञस्तद्देव्याश्च प्रभावत्या उपरि छर्दितं, हाहा! विरुद्ध आहारो दत्तो मयेत्यात्मानं निंदयतस्तं च प्रक्षालयतो मायां परिहृत्य प्रकटीकृत्य पूर्ववृत्तान्तं कथयित्वा प्रशस्य च तं, स्वर्गं गतः। उद्दायनमहाराजो वर्धमानस्वामिपादमूले तपोगृहीत्वा मुक्तिं गतः। प्रभावती च तपसा ब्रह्मस्वर्गे देवो बभूव।

अमूढदृष्टित्वेरेवती दृष्टान्तोऽस्य कथा।

विजयार्धदक्षिणश्रेण्यां मेघकूटे नगरे राजा चन्द्रप्रभः। चन्द्रशेखरपुत्राय राज्यं दत्वा परोपकारार्थं वन्दनाभक्त्यर्थं च कियतीर्विद्या दधानो दक्षिणमथूरायां गत्वा गुप्ताचार्यसमीपे क्षुल्लको जातः। तेनैकदा वन्दनाभक्त्यर्थमुत्तरमथूरायां चलितेन गुप्ताचार्यः पृष्टः किं कस्य कथ्यते[2]? भगवतोक्तं सुव्रतमुनेर्वन्दना वरुणराजमहाराज्ञीरेवत्या आशीर्वादश्च कथनीयः त्रिपृष्टेनापि तेन एतावदेवोक्तं। ततः क्षुल्लकेनोक्तं। भव्यसेनाचार्यस्यैकादशांगधारिणोऽन्येपां नामापि भगवन् न गृह्णाति तत्र किंचित्कारणं भविष्यतीति सम्प्रधार्य तत्र गत्वा सुव्रतमुनेर्भट्टारकीयां वन्दनां कथयित्वा तदीयं च विशिष्टं वात्सल्यं दृष्ट्वा भव्यसेनवसतिकां गतः। तत्र गतस्य च भव्यसेनेन संभाषणमपि न कृतं कुण्डिकां गृहीत्वा, भव्यसेनेन सह वहिर्भूमिं गत्वा विकुर्वणया हरितकोमलतृणांकुरच्छन्नो मार्गोऽग्रे दर्शितः। तं दृष्ट्वा " आगमे किलैते

१ कच्छदेशे क, ग. २ 'कथते ख.।

जीवाः कथ्यन्ते" इति भणित्वा तत्रोरुचिं कृत्वा तृणोपरि गतः शौचसमये कुण्डिकायां जलं नास्ति तथा विकृतिश्च क्वापि न दृश्यतेऽतोऽत्र स्वच्छसरोवरे प्रशस्तमृत्तिकया शौचं कृतवान्। ततस्तं मिथ्यादृष्टिं ज्ञात्वा भव्यसेनस्याभव्यसेननाम कृतं । ततोऽन्यस्मिन् दिने पूर्वस्यां दिशि पद्मासनस्थं चतुर्मुखं यज्ञोपवीताद्युपेतं देवासुरवन्द्यमानं ब्रह्मरूपं दर्शितं । तत्र राजादयो भव्यसेनादयश्च जना गताः । रेवती तु कोऽयं ब्रह्मनाम देवः इति भणित्वा लोकैः प्रेर्यमाणापि न गता । एवं दक्षिणस्यां दिशि गरुडारूढं चतुर्भुजं च गदाशंखादिधारकं वासुदेवरूपं। पश्चिमायां दिशि वृषभारूढं सार्धचन्द्रजटाजूटगौरीगणोपतं शंकररूपं । उत्तरस्यां दिशि समवशरणमध्ये प्रातिहार्याष्टकोपेतं सुरनरविद्याधरमुनिवृन्दवन्द्यमानं पर्यंकस्थितं तीर्थंकरदेवरूपं दर्शितः । तत्र च सर्वलोका गताः । रेवती तु लोकैः प्रेर्यमाणापि न गता नवैव वासुदेवाः, एकादशैव रुद्राः, चतुर्विंशतिरेव तीर्थंकरा जिनागमे कथिताः । ते चातीताः कोऽप्ययं मायावीत्युक्त्वा स्थिता । अन्ये दिने चर्यावेलायां व्याधिक्षीणशरीरक्षुल्लकरूपेण रेवतीगृहप्रतोलीसमीपमार्गे मायामूर्च्छया पतितः । रेवत्या तमाकर्ण्य भक्त्योत्थाप्य नीत्योपचारं कृत्वा पथ्यं कारयितुमारब्धः । तेन च सर्वमाहारं भुक्त्वा दुर्गन्धवमनं कृतं । तदपनीय हा ! विरूपकं मयाऽपथ्यं दत्तमिति रेवत्या वचनमाकर्ण्य तेषां मायामुपसंहृत्य तां देवीं वन्दयित्वा गुरोराशीर्वादं पूर्ववृत्तान्तं कथयित्वा लोकमध्ये तु अमूढदृष्टित्वं तस्या उच्चैः प्रशस्य स्वस्थाने गतः । वरुणो राजा शिवकार्तिपुत्राय राज्यं दत्वा तपो गृहीत्वा माहेन्द्रस्वर्गे देवो जातः । रेवत्यपि तपः कृत्वा ब्रह्मस्वर्गे देवो बभूव ।

---

१ आगमे ।

उपगूहने जिनेन्द्रभक्तो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

सुराष्ट्रदेशे पाटलिपुत्रनगरे राजा यशोधरो राज्ञी सुसीमा पुत्रः सुवीरः सप्तव्यसनाभिभूतस्तथाभूततस्करपुरुषसेवितः। पूर्वदेशे गौडविषये ताम्रलिप्तनगर्यां जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठिनः सप्ततलप्रासादोपरि बहुरक्षकोपयुक्तपार्श्वनाथप्रतिमाछत्रत्रयोपरि विशिष्टतरानर्घ्यवैडूर्यमणिं पारंपर्येणाकर्ण्य लोभात्तेन सुवीरेण निजपुरुषाः पृष्टाःतं मणिं किं कोऽप्यानेतुं शक्तोऽस्तीति। इन्द्रमुकुटमणिमप्यहमानयामीति गलगर्जितं कृत्वा सूर्यनामा चौरः कपटेन क्षुल्लको भूत्वा अतिकायक्लेशेन ग्रामनगरक्षोभं कुर्वाणः क्रमेण तामलिप्तनगरीं गतः। तमाकर्ण्य गत्वाऽऽलोक्य वन्दित्वा संभाष्य प्रशस्य क्षुभितेन जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठिना नीत्वा पार्श्वनाथदेवं दर्शयित्वा मायया अनिच्छन्नपि स तत्र मणिरक्षको धृतः। एकदा क्षुल्लकं पृष्ट्वा श्रेष्ठी समुद्रयात्रायां चलितो नगराद्बहिर्निर्गत्य स्थितः। स चौरक्षुल्लको गृहजनमुपकरणनयनव्यग्रं ज्ञात्वा अर्धरात्रे तं मणिं गृहीत्वा चलितः। मणितेजसा मार्गे कोट्टपालैर्दृष्टो धर्तुमारब्धः। तेभ्यः पलायितुमसमर्थः श्रेष्ठिन एव शरणं प्रविष्टो मां रक्ष रक्षेति चोक्तवान् कोट्टपालानां कलकलमाकर्ण्य पर्यालोच्य तं चौरं ज्ञात्वा दर्शनोपहासप्रच्छादनार्थं भणितं श्रेष्ठिना मद्वचनेन रत्नमनेनानीतमिति विरूपकं भवद्भिः कृतं यदस्य महातपस्विनश्चौरोद्घोषणा कृता। ततस्ते तस्य प्रमाणं कृत्वा गताः। स च श्रेष्ठिना रात्रौ निर्घाटितः। एवमन्येनापि सम्यग्दृष्टिना असमर्थाज्ञानपुरुषादागतदर्शनदोषस्य प्रच्छादनं कर्तव्यं।

स्थितीकरणे वारिषेणो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

मगधदेशे राजगृहनगरे राजा श्रेणिको राज्ञी चेलिनी पुत्रो वारिषेणः उत्तमश्रावकः चतुर्दश्यां रात्रौ कृतोपवासः श्मशाने कायोत्सर्गेण स्थितः। तस्मिन्नेव दिने उद्यानिकायां गतया मगधसुन्दरीविलासिन्या श्रीकीर्तिश्रेष्ठिन्याः परिहितो दिव्यो हारो दृष्टः। ततस्तं दृष्ट्वा किमनेनालङ्कारेण विना जीवितेनेति संचिन्त्य शय्यायां पतित्वा सा स्थिता। रात्रौ समागतेन तदासक्तेन विद्यु-

चोरेणोक्तं प्रिये ! किमेवं स्थितासीति । तयोक्तं श्रीकीर्तिश्रेष्ठिन्या हारं यदि मे ददासि तदा जीवामि त्वं च मे भर्ता नान्यथेति श्रुत्वा तां समुदीर्य अर्धरात्रे गत्वा निजकौशलेन तं हारं चोरयित्वा निर्गतः । तदुद्योतेन चौरोऽयमिति ज्ञात्वा गृहरक्षकैः कोट्टपालैश्च ध्रियमाणो पलायितुमसमर्थो वारिषेणकुमारस्याग्रे तं हारं धृत्वाऽदृश्यो भूत्वा स्थितः । कोट्टपालैश्च तं तथालोक्य श्रेणिकस्य कथितं देव ! वारिषेणश्चौर इति । तं श्रुत्वा तेनोक्तं मूर्खस्यास्य मस्तकं गृह्यतामिति । मातंगेन योऽसिः शिरोग्रहणार्थं वाहितः स कण्ठे तस्य पुष्पमाला बभूव । तमतिशयमाकर्ण्य श्रेणिकेन गत्वा वारिषेणः क्षमां कारितः । लब्धाभयप्रदानेन विद्युच्चौरेण राज्ञो निजवृत्तान्ते कथिते वारिषेणो गृहे नेतुमारब्धः । तेन चोक्तं मया पाणिपात्रे भोक्तव्यमिति । ततोऽसौ सूतसेनमुनिसमीपे मुनिरभूत् । एकदा राजगृहसमीपे पलासकूटग्रामे चर्यायां स प्रविष्टः । तत्र श्रेणिकस्ययोऽग्निभूतिमंत्री । तत्पुत्रेण पुष्पजलेन स्थापितं चर्यां कारयित्वा स सोमिल्लां निजभार्यां पृष्ट्वा प्रभु पुत्रत्वाद्बालसखित्वाच्च स्तोकं मार्गानुव्रजनं कर्तुं वारिषेणेन सह निर्गतः । आत्मनो व्याघुटनार्थं क्षीरवृक्षादिकं दर्शयन् मुहुर्मुहुर्वन्दनां कुर्वन् हस्ते धृत्वा नीतो विशिष्टधर्मश्रवणं कृत्वा वैराग्यं नीत्वा तपो ग्राहितोऽपि सोमिल्लां न विस्मरति । तौ द्वावपि द्वादशवर्षाणि तीर्थयात्रां कृत्वा वर्धमानस्वामिसमवशरणं गतौ । तत्र वर्धमानस्वामिनः पृथिव्याश्च सम्बन्धिगीतं देवैर्गीयमानं पुष्पडालेन[1] श्रुतं । यथा

" मइलकुचेली दुम्मनी नाहे पवसियए[2] एण ।
कह जीवेसइ धणियधर उज्झंते हियएण ॥ "

एतदात्मनः सोमिल्लायाश्च संयोज्य उत्कण्ठितश्चलितः । स वारिषेणेन ज्ञात्वा स्थिरीकरणार्थं निजनगरं नीतः । चेलिन्या तौ दृष्ट्वा वारिषेणः किं

१ लाडेन ख । २ नाहेए वसियएण ख ।

चारित्राच्चलितः आगच्छतीति संचिन्त्य परीक्षणार्थं सरागवीतरागे द्वे आसने दत्ते । वीतरागासने वारिषेणेनोपविश्योक्तं मदीयमन्तःपुरमानीयतां ततश्चेलिन्या महादेव्या द्वात्रिंशद्भार्याः सालङ्कारा आनीता । ततः पुष्पडालो वारिषेणेन भणितः स्त्रियो मदीयं युवराजपदं च त्वं गृहाण । तच्छ्रुत्वा पुष्पडालो अतीवलज्जितः परं वैराग्यं गतः। परमार्थेन तपः कर्तुं लग्न इति।

वात्सल्ये विष्णुकुमारो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

अवन्तिदेशे उज्जयिन्यां श्रीवर्मा राजा तस्य वलिर्बृहस्पतिः प्रल्हादो नमुचिश्चेति चत्वारो मंत्रिणः तत्रैकदा समस्तश्रुताधारो दिव्यज्ञानी सप्तशतमुनिसमन्वितोऽकम्पनाचार्य आगत्योद्यानके स्थितः । समस्तसंघश्च वारितः राजादिकेऽप्यायते केनापि जल्पनं न कर्तव्यमन्यथा समस्तसंघस्य नाशो भविष्यतीति । राज्ञा च धवलगृहास्थितेन पूजाहस्तं नगरीजनं गच्छन्तं दृष्ट्वा मंत्रिणः पृष्टाः क्वायं लोकोऽकालयात्रायां गच्छतीति । तैरुक्तं क्षपणका वहवो बहिरुद्याने आयातास्तत्रायं जनो याति वयमपि तान् द्रष्टुं गच्छाम इति भणित्वा राजापि तत्र मंत्रिसमन्वितो गतः । प्रत्येकं सर्वे वान्दिताः । न च केनापि आशीर्वादो दत्तः । दिव्यानुष्ठानेनातिनिस्पृहास्तिष्ठन्तीति संचिन्त्य व्याघुटिते राज्ञि मंत्रिभिर्दुष्टाभिप्रायैरुपहासः कृतः वलीवर्दा एते न किंचिदपि जानन्ति मूर्खा दम्भमौनेन स्थिताः । एवं ब्रुवाणैर्गच्छद्भिरग्रे चर्यां कृत्वा श्रुतसागरमुनिमागच्छन्तमालोक्योक्तं "अयं तरुणवलीवर्दः पूर्णकुक्षिरागच्छति । एतदाकर्ण्य तेन ते राजाग्रेऽनेकान्तवादेन जिताः । अकम्पनाचार्यस्य चागत्य वार्ता कथिता। तेनोक्तं सर्वसंघस्त्वया मारितः । यदि वादस्थाने गत्वा रात्रौ त्वमेकाकी तिष्ठसि तदा संघस्य जीवितव्यं तव शुद्धिश्च भवति । ततोऽसौ तत्र गत्वा कायोत्सर्गेण स्थितः । मंत्रिभिश्चातिलज्जितैः क्रुद्धै रात्रौ संघं मारयितुं गच्छद्भिस्तमेकं मुनिमालोक्य येन परिभवः कृतः स एव हंतव्यः इति

पर्यालोच्य तद्वधार्थं युगपच्चतुर्भिः खड्गा उद्गीर्णाः। कंपितनगरदेवतया तथैव ते कीलिताः। प्रभाते अ (त) थैव ते सर्वलोकैर्दृष्टाः। रुष्टेन राज्ञा क्रमागता इति न मारिता गर्दभारोहणादिकं कारयित्वा निर्घाटिताः। अथ कुरुजांगलदेशे हस्तिनागपुरे राजा महापद्मो राज्ञी लक्ष्मीमती पुत्रौ पद्मो विष्णुश्च। स एकदा पद्माय राज्यं दत्वा महापद्मो विष्णुना सह श्रुतसागरचंद्राचार्यस्य समीपे मुनिर्जातः। ते च वलिप्रभृतय आगत्य पद्मराजस्य मंत्रिणो जाताः। कुम्भपुरदुर्गे च सिंहवलो राजा दुर्गबलात् पद्ममण्डलस्योपद्रवं करोति। तद्ग्रहणचिन्तया पद्मं दुर्वलमालोक्य वलिनोक्तं किं देव! दौर्बल्ये कारणमिति। कथितं च राज्ञा। तच्छ्रुत्वा आदेशं याचयित्वा तत्र गत्वा बुद्धिमाहात्म्येन दुर्गं भंक्त्वा सिंहवलं गृहीत्वा व्याघुट्यागतः। तेन पद्मस्यासौ समर्पितः। देव! सोऽयं सिंहवल इति। तुष्टेन तेनोक्तं वांछितं वरं प्रार्थयेति। वलिनोक्तं यदा प्रार्थयिष्यामि तदा दीयतामिति। अथ कतिपयदिनेषु विहरन्तस्तेऽकम्पनाचार्यादयः सप्तशतयतयस्तत्रागताः। पुरक्षोभाद्बलिप्रभृतिस्तान् परिज्ञाय राजा एतद्भक्त इति पर्यालोच्य भयात्तन्मारणार्थं पद्मः पूर्ववरं प्रार्थितः सप्तदिनान्यस्माकं राज्यं देहीति। ततोऽसौ सप्तदिनानि राज्यं दत्वाऽन्तःपुरे प्रविश्य स्थितः। वलिना च आतापनगिरौ कायोत्सर्गेण स्थितान् मुनीन् वृत्यावेष्ट्य मण्डपं कृत्वा यज्ञः कर्तुमारब्धः। उच्छिष्टसरावच्छागादिजीवकलेवरैर्धूमैश्च मुनीनां मारणार्थमुपसर्गः कृतः। मुनयश्च द्विविधसंन्यासेन स्थिताः। अथ मिथिलानगर्यामर्धरात्रे वहिर्विनिर्गतश्रुतसागरचन्द्राचार्येण आकाशं श्रवणनक्षत्रं कम्पमानमालोक्यावधिज्ञानेन ज्ञात्वा भणितं महामुनीनां महानुपसर्गो वर्तते तच्छ्रुत्वा पुष्पधरनाम्ना विद्याधरक्षुल्लकेन पृष्टं भगवन्! क्व केषां मुनीनां महानुपसर्गो वर्तते? हस्तिनापुरे अकम्पनाचार्यादीनां सप्तशत-

यतीनां । उपसर्गः कथं नश्यति ? धरणिभूषणगिरौ विष्णुकुमारमुनिर्विक्रियर्द्धिसम्पन्नस्तिष्ठति स नाशयति । एतदाकर्ण्य तत्समीपे गत्वा क्षुल्लकेन विष्णुकुमारस्य सर्वस्मिन् वृत्तान्ते कथिते मम किं विक्रिया ऋद्धिरस्तीति संचिन्त्य तत्परीक्षार्थे हस्तः प्रसारितः । स गिरिं भित्त्वा दूरे गतः । ततस्तां निर्णीय तत्र गत्वा पद्मराजो भणितः । किं त्वया मुनीनामुपसर्गः कारितः । भवत्कुले केनापीदृशं न कृतं । तेनोक्तं किं करोमि मया पूर्वमस्य वरो दत्त इति । ततो विष्णुकुमारमुनिना वामनब्राह्मणं कृत्वा दिव्यध्वनिना प्राध्ययनं कृतं । वलिनोक्तं । किं तुभ्यं दीयते । तेनोक्तं भूमेः पादत्रयं देहि । ग्रहिलब्राह्मण वहुतरमन्यत् प्रार्थयेति वारं वारं लोकैर्भण्यमानोऽपि तावदेव याचते । ततो हस्तोदकादिविधिना भूमिपादत्रये दत्ते तेनैकपादो मेरौ दत्तो द्वितीयो मानुषोत्तरगिरौ तृतीयपादेन देवविमानादीनां क्षोभं कृत्वा वलिपृष्टे तं पादं दत्वा वलिं वद्ध्वा मुनीनामुपसर्गो निवारितः । ततस्ते चत्वारोऽपि मंत्रिणः पद्मस्य भयादागत्य विष्णुकुमारमुनेरकम्पनाचार्यादीनां च पादेषु लग्नाः । ते मंत्रिणः श्रावकाश्च जाता इति ।

प्रभावनायां वज्रकुमारो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

हस्तिनापुरे वलराजस्य पुरोहितो गरुडस्तत्पुत्रः सोमदत्तः तेन सकलशास्त्राणि पठित्वा अहिच्छत्रपुरे निजमामसुभूतिपार्श्वे गत्वा भणितं । माम ! मां दुर्मुखराजस्य दर्शयेत्[1] । न च गर्वितेन तेन[2] दर्शितः । ततो ग्रहिलो भूत्वा सभायां स्वयमेव तं दृष्ट्वा आशीर्वादं दत्वा सर्वशास्त्रकुशलत्वं प्रकाश्य मंत्रिपदं लब्धवान् । तं तथाभूतमालोक्य सुभूतिमामो यज्ञदत्तां पुत्रीं परिणेतुं दत्तवान् । एकदा तस्या 'गर्भिण्या[3] वर्षाकाले आम्रफलभक्षणे

१ दर्शयतं ख, ग, २ न. ख, ग, ३ गुर्विण्याः मूलपाठः ।

दोहलको जातः । ततः सोमदत्तेन तान्युद्यानवने अन्वेषयता यत्राम्रवृक्षे सुमित्राचार्यो योगं गृहीतवांस्तं नानाफलैः फलितं दृष्ट्वा तस्मात्तान्यादाय पुरुषहस्ते प्रेषितवान् । स्वयं च धर्मं श्रुत्वा निर्विण्णस्तपो गृहीत्वा आगममधीत्य परिणतो भूत्वा नाभिगिरौ आतपनेन स्थितः । यज्ञदत्ता च पुत्रं प्रसूता नीतं[1] श्रुत्वा बंधुसमीपं गता। तस्य शुद्धिं ज्ञात्वा बन्धुभिः सह नाभिगिरिं गत्वा तमातपनस्थमालोक्यातिकोपात्तत्पादोपरि बालकं धृत्वा दुर्वचनानि दत्वा गृहं गता । अत्र प्रस्तावे दिवाकरदेवनामा विद्याधरोऽमरावतीपुर्याः पुरन्दरनाम्ना लघुभ्रात्रा राज्यान्निर्घाटितः । सकलत्रो मुनिं वन्दितुमायातः । तं बालं गृहीत्वा निजभार्यायाः समर्प्य वज्रकुमार इति नाम कृत्वा गतः । स च वज्रकुमारः कनकनगरे विमलवाहननिजमैथुनिकसमीपे सर्वविद्यापारगो युवा च क्रमेण जातः । अथ गरुडवेगाङ्गवत्योः पुत्री पवनवेगा हेमन्तपर्वते प्रज्ञप्तिं विद्यां महाश्रमेण साधयन्ती पवनाकम्पितबदरीवज्रकंटकेन लोचने विद्धा । ततस्तत्पीडया चलचित्ताया विद्या न सिद्ध्यति । ततो वज्रकुमारेण च तां तथा दृष्ट्वा विज्ञानेन कंटकमुद्धृतः । ततः स्थिरचित्तायास्तस्या विद्या सिद्धा । उक्तं च तया भवत्प्रसादेन एषा विद्या सिद्धा त्वमेव मे भर्त्तेत्युक्त्वा परिणीता । वज्रकुमारेणोक्तं तात ! अहं कस्य पुत्र इति सत्यं कथय तस्मिन् कथिते मे भोजनादौ प्रवृत्तिरिति । ततस्तेन पूर्ववृत्तान्तः सर्वः सत्य एव कथितः। तमाकर्ण्य निजगुरुं द्रष्टुं बन्धुभिः सह मथुरायां क्षत्रियगुहायां गतः । तत्र च सोमदत्तगुरोर्दिवाकरदेवेन वंदनां कृत्वा वृत्तान्तः कथितः । समस्तबन्धून् महता कष्टेन विसृज्य वज्रकुमारो मुनिर्जातः अत्रान्तर मथुरायामन्या कथा—राजा पूतिगन्धो राज्ञी उर्विला[3] । सा च सम्यग्दृष्टिरतीव जिनधर्मप्रभावनायां रता । नन्दीश्वराष्टदिनानि प्रतिवर्षं जिनेन्द्ररथयात्रायां त्रीन् वारान् कारयति । तत्रैव नगर्यां श्रेष्ठी सागरदत्तः

१ तं ख, ग । २ गिरौ, ख, ग । ३ ऊर्वी, ग ।

श्रेष्ठिनी समुद्रदत्ता पुत्री दरिद्रा। मृते सागरदत्ते दरिद्रा एकदा परगृहे निक्षिप्तसिक्थानि भक्षयन्ती चर्यां प्रविष्टेन मुनिद्वयेन दृष्ट्वा ततो लघुमुनिनोक्तं हा! वराकी महता कष्टेन जीवतीति। तदाकर्ण्य ज्येष्ठमुनिनोक्तं अत्रैवास्य राज्ञः पट्टराज्ञी वल्लभा भविष्यतीति। भिक्षां भ्रमता धर्मश्रीवदंकेन तद्वचनमाकर्ण्य नान्यथा मुनिभाषितमिति संचिन्त्य स्वविहारे तां नीत्वा मृष्टाहारैः पोषिता। एकदा यौवनभरे चैत्रमासे अन्दोलयन्तीं तां राजा दृष्ट्वा अतीव विरहावस्थां गतः। ततो मंत्रिभिस्तां तदर्थं वंदको याचितः। तेनोक्तं यदि मदीयं धर्मं राजा गृह्णाति तदा ददामीति। तत्सर्वं कृत्वा परिणीता। पट्टमहादेवी तस्य सातिवल्लभा जाता। फाल्गुननन्दीश्वरयात्रायामुर्विला रथयात्रामहारोपं दृष्ट्वा तया भणिता देव! मदीयो बुद्धरथोऽधुना पुर्यां प्रथमं भ्रमतु। राज्ञा चोक्तमेवं भवत्विति। तत उर्विला वदति मदीयो रथो यदि प्रथमं भ्रमति तदाहारे मम प्रवृत्तिरन्यथा निवृत्तिरिति प्रतिज्ञां गृहीत्वा क्षत्रियगुहायां सोमदत्ताचार्यपार्श्वे गता। तस्मिन् प्रस्तावे वज्रकुमारमुनेर्वन्दनाभक्त्यर्थमायाता दिवाकरदेवादयो विद्याधरास्तदीयवृत्तान्तं च श्रुत्वा वज्रकुमारमुनिना ते भणिताः। उर्विलायाः प्रतिज्ञारूढाया रथयात्रा कारिता तमतिशयं दृष्ट्वा पूतिमुखा बुद्धदासी अन्ये च जना जिनधर्मरता जाता इति ॥ २० ॥

ननु सम्यग्दर्शनस्याष्टभिरङ्गैः प्ररूपितैः किं प्रयोजनं? तद्विकलस्याप्यस्य संसारोच्छेदनसामर्थ्यसंभवादित्याशंक्याह:—

नांगहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम्।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनां ॥ २१ ॥

'दर्शनं कर्तृ। जन्मसन्ततिं' संसारप्रबन्धं। 'छेत्तुं' उच्छेदयितुं 'नालं' न समर्थं। कथंभूतं सत्, 'अंगहीनं' अंगैर्न्यूनं

शंकितत्वादिस्वरूपैर्हीनं विकलं । अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं दृष्टान्त माह—' नही ' त्यादि सर्पादिदष्टस्य प्रसृतसर्वांगविषवेदनस्य तदपहरणार्थं प्रयुक्तो मंत्रोऽक्षरेणापि न्यूनो हीनो 'नहि' नैव 'निहन्ति' स्फोटयति विषवेदनां । ततः सम्यग्दर्शनस्य संसारोच्छेदसाधनेऽष्टाङ्गोपेतत्वम् ।

तस्य संसारोच्छेदसाधनं स्यादिति चेदुच्यते लोकदेवतापाखंडिमूढभेदात् त्रीणि भवन्ति । तत्र लोकमूढं तावद्दर्शयन्नाह:—

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम् ।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥ २२ ॥

' लोकमूढं ' लोकमूढत्वं । किं ? ' आपगासागरस्नानं ' आपगा नदी सागरः समुद्रः तत्र श्रेयःसाधनाभिप्रायेण यत्स्नानं न वपुः शरीरप्रक्षालनाभिप्रायेण । तथा ' उच्चयः ' स्तूपविधानं । केषां ? ' सिंकताश्मनां ' सिकता वालुका, अश्मानः पाषाणास्तेषां । तथा ' गिरिपातो ' भृगुपातादिः । ' अग्निपातश्च ' अग्निप्रवेशः । एवमादिसर्वं लोकमूढं ' निगद्यते ' प्रतिपाद्यते ॥ २२ ॥

देवतामूढं व्याख्यातुमाह:—

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः ।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥ २३ ॥

' देवतामूढं ' ' उच्यते ' 'यदुपासीत' आराधयेत् । काः'देवताः' । कथंभूताः, ' रागद्वेषमलीमसाः ' रागद्वेषाभ्यां मलीमसा मलिनाः । किंविशिष्टः ? ' आशावान् ' ऐहिकफलाभिलाषी । कया ? ' वरोपलिप्सया ' वरस्य वाञ्छितफलस्य, उपलिप्सया प्राप्तुमिच्छया । नन्वेवं श्रावकादीनां शासनदेवतापूजाविधानादिकं सम्यग्दर्शनम्लानताहेतुः प्राप्नोतीति चेत् एवमेतत् यदि वरोपलिप्सया कुर्यात् । यदा तु सक्तदेवता-

त्वेन तासां तत्करोति तदा न तन्म्लानताहेतुः। तत् कुर्वतश्च दर्शनपक्षपाताद्वरमयाचितमपि ताः प्रयच्छन्त्येव। तदकरणे चेष्टदेवताविशेषात् फलप्राप्तिर्निर्विघ्नतो झटिति न सिद्ध्यति। न हि चक्रवर्तिपरिवारापूजने सेवकानां चक्रवर्तिनः सकाशात् तथा फलप्राप्तिर्दृष्टा ॥ २३ ॥

इदानीं सद्दर्शनस्वरूपे पाषण्डिमूढस्वरूपं दर्शयन्नाहः—

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्त्तवर्तिनाम्।
पाषण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम् ॥ २४ ॥

पाषण्डिमोहनं ज्ञेयं ज्ञातव्यं। कोऽसौ? 'पुरस्कारः' प्रशंसा। केषां? 'पाषण्डिनां' मिथ्यादृष्टिलिंगिनां। किं विशिष्टानां? 'सग्रन्थारंभहिंसाना' ग्रन्थाश्च दासीदासादयः, आरंभाश्च कृष्यादयः हिंसाश्च अनेकविधाः प्राणिवधाः सह ताभिर्वर्तन्त इत्येवं ये तेषां। तथा 'संसारावर्तवर्तिनां' संसारे आवर्तो भ्रमणं येभ्यो विवाहादिकर्मभ्यस्तेषु वर्तते इत्येवं शीलास्तेषां। एतैस्त्रिभिर्मूढैरपोढत्वसम्पन्नं सम्यग्दर्शनं संसारोच्छित्तिकारणं अस्मयत्वसम्पन्नवत् ॥ २४ ॥

कः पुनरयं स्मयः कतिप्रकारश्चेत्याहः—

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ २५ ॥

'आहु'र्ब्रुवन्ति। कं? 'स्मयं'। के ते? 'गतस्मयाः' नष्टमदाः जिनाः। किं तत्? 'मानित्वं'। किं कृत्वा? 'अष्टावाश्रित्य'। तथा हि। ज्ञानमाश्रित्य ज्ञानमदो भवति। ननु शिल्पमदस्य नवमस्य प्रसक्तेरष्टाविति संख्यानुत्पन्नाः इत्यप्ययुक्तं तस्य ज्ञाने एवान्तर्भावात्

अनेनाष्टविधमदेन चेष्टमानस्य दोषं दर्शयन्नाह :—

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥ २६ ॥

'स्मयेन' उक्तप्रकारेण 'गर्विताशयो' दर्पिताचित्तः यो जीवः । 'धर्मस्थान्' रत्नत्रयोपेतानन्यान् । 'अत्येति' अवधीरयति अवज्ञयातिक्रामतीत्यर्थः । 'सोऽत्येति' अवधीरयति । कं ? 'धर्मं' रत्नत्रयं । कथंभूतं ? 'आत्मीयं' जिनपतिप्रणीतं । यतो धर्मो 'धार्मिकै' रत्नत्रयानुष्ठायिभिर्विना न विद्यते ॥ २६ ॥

ननु कुलैश्वर्यादिसम्पन्नैः स्मयं कथं निषेद्धुं शक्य इत्याहः—

यदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ॥ २७ ॥

पापं ज्ञानावरणाद्यशुभं कर्म निरुद्धयते येनासौ 'पापनिरोधो' रत्नत्रयसद्भावः स यद्यस्ति तदा 'अन्यसम्पदा' अन्यस्य कुलैश्वर्यादेः सम्पदा सम्पत्त्या किमपि प्रयोजनं, तन्निरोधेऽतोऽप्यधिकाया विशिष्टतरादेतत्सम्पदः सद्भावमवबुद्ध्यमानस्य तन्निबन्धनस्मयस्यानुत्पत्तेः । 'अथ पापास्रवोऽस्ति' पापस्याशुभकर्मणः आस्रवो मिथ्यात्वाविरत्यादिरास्ति किं प्रयोजनं अग्रे दुर्गतिगमनादिकं अवबुद्ध्यमानस्य तत्सम्पदा प्रयोजनाभावस्तत्स्मयस्य कर्तुमनुचितत्वात् ॥ २७ ॥

अमुमेवार्थं प्रदर्शयन्नाहः—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम् ॥ २८॥

'देवं' आराध्यं । 'विदु'र्मन्यन्ते । के ते ? 'देवा' "देवा वितस्स णमंति जस्स धम्मे सया मणो" इत्यभिधानात् । कमपि ? 'मातंगदेहजमपि' चांडालमपि । कथंभूतं ? 'सम्यग्दर्शनसम्पन्नं' सम्यग्दर्शनेन सम्पन्नं युक्तं । अतएव 'भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसं' भस्मना गूढः प्रच्छादितः स चासावङ्गारश्च तस्य अन्तरं मध्यं तत्रैव ओजः प्रकाशो निर्मलता यस्य ॥ २८ ॥

एकस्य धर्मस्य विविधं फलं प्रकाश्येदानीमनयोर्धर्माधर्मयोर्यथाक्रमं फलं दर्शयन्नाह:—

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्बिषात् ।
कापि नाम भवेदन्या सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम् ॥ २९ ॥

'श्वापि' कुक्कुरोऽपि 'देवो' जायते। 'देवोऽपि' देवः 'श्वा' जायते। कस्मात्? 'धर्मकिल्बिषात्' धर्ममाहात्म्यात् खलु श्वापि देवो भवति। किल्बिषात् पापोदयात् पुनर्देवोऽपि श्वा भवति। एवं ततः 'कापि' वाचामगोचरा 'नाम' स्फुटं 'अन्या' न पूर्वा द्वितीया वा 'सम्पद्विभूतिविशेषो भवेत्'। कस्मात्? धर्मात्। केषां? 'शरीरिणां' संसारिणां। यत एवं ततो धर्मएव प्रेक्षावतानुष्ठातव्यः ॥ २९ ॥

ते चानुष्ठिता दर्शनम्लानता मूलतोऽपि न कर्तव्येत्याह:—

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम् ।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥ ३० ॥

'शुद्धदृष्टयो' निर्मलसम्यक्त्वाः न कुर्युः। कं? 'प्रणामं' उत्तमाङ्गेनोपनतिं। 'विनयं चैव' करमुकुलप्रशंसादिलक्षणं। केषां? कुदेवागमलिंगिनां। कस्मादपि? 'भयाशास्नेहलोभाच्च' भयं राजादिजनितं, आशा च भाविनोऽर्थस्य प्रत्याकांक्षा, स्नेहश्च मित्रानुरागः, लोभश्च वर्तमानकालेऽर्थप्राप्तिगृद्धिः, भयाशास्नेहलोभं तस्मादपि। चशब्दोऽप्यर्थः ॥ ३० ॥

ननु मोक्षमार्गस्य रत्नत्रयरूपत्वात् कस्माद्दर्शनस्यैव प्रथमतः स्वरूपाभिधानं कृतमित्याह:—

दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते ।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्ष्यते ॥ ३१ ॥

'दर्शनं' कर्तृ 'उपाश्नुते' प्राप्नोति। कं? 'साधिमानं' साधुत्वमुत्कृष्टत्वं वा कस्मात्? ज्ञानचारित्रात्। यतश्च साधिमानं तस्माद्दर्शनमुपा-

श्नुते। 'तत्' तस्मात्। 'मोक्षमार्गे' रत्नत्रयात्मके 'दर्शनं कर्णधारं' प्रधानं प्रचक्ष्यते । तथैव हि कर्णधारस्य नौखेवटकैवर्तकस्याधीना समुद्रपरतीरगमने नावः प्रवृत्तिः तथा संसारसमुद्रपरयंतगमने सम्यग्दर्शन-कर्णधाराधीना मोक्षमार्गनावः प्रवृत्तिः ॥ ३१ ॥

ननु चास्योत्कृष्टत्वे सिद्धे कर्णधारत्वं सिद्ध्यति तस्य च कुतः सिद्ध-मित्याहः—

विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः ।
न सन्त्यसतिसम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥ ३२ ॥

'सम्यक्त्वेऽसति' अविद्यमाने। 'न सन्ति'। के ते ? संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः । कस्य ? विद्यावृत्तस्य । अयमर्थः—विद्याया मतिज्ञानादिरूपायाः वृत्तस्यच सामायिकादिचारित्रस्य या संभूतिः प्रादुर्भावः, स्थितिर्यथावत्पदार्थपरिच्छेदकत्वेन कर्मनिर्जरादिहेतुत्वेन चावस्थानं, वृद्धिरुत्पन्नस्य परतर उत्कर्षः फलोदयो देवादिपूजायाः स्वर्गापवर्गादेश्च फलस्योत्पत्तिः। कस्याभावे कस्येव ते न स्युरित्याह—**बीजाभावे तरोरिव** बीजस्य मूलकारणस्याभावे यथा तरोस्ते न सन्ति तथा सम्यक्त्वास्यपि मूलकारणभूतस्याभावे विद्यावृत्तस्यापि ते न सन्तीति ॥ ३२ ॥

यश्च सम्यग्दर्शनसम्पन्नो गृहस्थोऽपि तदसम्पन्नान्मुनेरुत्कृष्टस्ततोऽपि सम्यग्दर्शनमेवोत्कृष्टमित्याहः—

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥ ३३ ॥

'निर्मोहो' दर्शनप्रतिबन्धकमोहनीयकर्मरहितः सद्दर्शनपरिणत इत्यर्थः। इत्थं भूतो गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो भवति 'अनगारो' यतिः पुनः

---

१ नौषेटककैवर्तकस्य क ।

'नैव' मोक्षमार्गस्थो भवति। किं विशिष्टः ? 'मोहवान्' दर्शनमोहोपेतः। मिथ्यात्वपरिणत इत्यर्थः। यत एवं ततो गृहस्थोऽपि निर्मोहः स 'श्रेयान्' उत्कृष्टः। कस्मात् ? मुनेः। कथंभूतात् ? 'मोहिनो' दर्शनमोहयुक्तात्। ॥ ३४ ॥

यत एवं ततः;—

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥ ३४ ॥

'तनूभृतां' संसारिणां। 'सम्यक्त्वसमं' सम्यक्त्वेन समं तुल्यं। 'श्रेयः' श्रेष्ठमुत्तमोपकारकं। 'किंचित्' अन्यवस्तु नास्ति। यतस्तस्मिन् सति गृहस्थोऽपि यतेरप्युत्कृष्टतां प्रतिपद्यते। कदा तन्नास्ति ? 'त्रैकाल्ये' अतीतानायतवर्तमानकालत्रये। तस्मिन् क्व तन्नास्ति ? 'त्रिजगत्यपि' आस्तां तावन्नियतक्षेत्रादौ तन्नास्ति अपितु त्रिजगत्यपि त्रिभुवनेऽपि तथा 'अश्रेयो' अनुपकारकं। मिथ्यात्वसमं किंचिदन्यन्नास्ति। यतस्तत्सद्भावे यतिरपि व्रतसंयमसम्पन्नो गृहस्थादपि तद्विपरीततां तदपकृष्टतां व्रजतीति ॥ ३४ ॥

इत्य (तोऽ) पि सद्दर्शनमेव ज्ञानचारित्राभ्यामुत्कृष्टमित्याहः—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥३५॥

'सम्यग्दर्शनशुद्धा' सम्यग्दर्शनं शुद्धं निर्मलं येषां ते। सम्यग्दर्शनलाभात्पूर्वं बद्धायुष्कान् विहाय अन्ये 'न व्रजन्ति' न प्राप्नुवन्ति। कानि। नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि त्वशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते नारकत्वं तिर्यक्त्वं नपुंसकत्वस्त्रीत्वमिति। न केवलमेतान्येव न व्रजन्ति किन्तु 'दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतांच' अत्रापि ताशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते ये निर्मलसम्यक्त्वाः ते न भवान्तरे दुष्कुले उत्पत्तिं विकृततां काणकुं-

ठादिरूपविकारं अल्पायुष्कतामन्तर्मुहूर्ताद्यायुष्कोत्पत्तिं, दरिद्रतां दारिद्र्योपेतकुलोत्पत्तिं । कथंभूता अपि एतत्सर्वं व्रजन्ति 'अव्रतिका अपि' अणुव्रतरहिता अपि,

यद्येतत्सर्वं न व्रजन्ति तर्हि भवान्तरे कीदृशास्ते भवन्तीत्याह:—

ओजस्तेजोविद्यावीर्य्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः ।
महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः॥३६॥

'दर्शनपूता' दर्शनेन पूताः पवित्रिताः दर्शनं वा पूतं पवित्रं येषां ते भवन्ति 'मानवतिलकाः' मानवानां मनुष्याणां तिलका मण्डनीभूता मनुष्यप्रधानाइत्यर्थः । पुनरपि कथंभूता इत्याह 'ओज' इत्यादि ओज उत्साहः तेजः प्रतापः कान्तिर्वा, विद्या सहजा अहार्या च बुद्धिः , वीर्यं विशिष्टं सामर्थ्यं, यशो विशिष्टा ख्यातिः वृद्धिः कलत्रपौत्रादिसम्पत्तिः, विजयः परविभवेनात्मनो गुणोत्कर्पः, विभवो धनधान्यद्रव्यादिसम्पत्तिः, एतैः सनाथा सहिताः । तथा 'महाकुला 'महच्च कुलं च तत्र भवाः । 'महार्था' महन्तोऽर्थो धर्मार्थकाममोक्षलक्षणा येषाम् ॥ ३६ ॥

तथा इन्द्रपदमपि सम्यग्दर्शनशुद्धा एव प्राप्नुवन्तीत्याह:—

अष्टगुणपुष्टितुष्टा दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः
अमराप्सरसां परिपदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे ॥ ३७॥

देवदेवीनां सभायां । 'चिरं' वहुतरं कालं। 'रमन्ते' क्रीडन्ति। कथंभूताः? 'अष्टगुणपुष्टितुष्टाः' अष्टगुणा अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्यं, ईशित्वं, वशित्वं कामरूपित्वमित्येतल्लक्षणास्ते च पुष्टिः स्वशरीरावयवानां सर्वदोपचितत्वं तेपां वा पुष्टिः परिपूर्णत्वं तया तुष्टाः सर्वदा प्रमुदिताः । तथा 'प्रकृष्टशोभाजुष्टा' इतरदेवेभ्यः प्रकृष्टा उत्तमा शोभा तया जुष्टा सेविताः सेवाजुष्टा सेविताः इन्द्राः सन्त इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

तथा चक्रवर्तित्वमपि त एव प्राप्नुवन्तीत्याह:—

नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम् ।
वर्त्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः॥३८॥

ये 'स्पष्टदृशो' निर्मलसम्यक्त्वाः त एव 'चक्रं' चक्रस्य रत्नं 'वर्तयितुं' आत्माधीनतया तत्साध्यनिखिलकार्येषु प्रवर्तयितुं 'प्रभवन्ति' ते समर्था भवन्ति। कथंभूताः ? सर्वभूमिपतयः सर्वा चासौ भूमिश्च षट्खण्ड पृथ्वी तस्याः पतयः चक्रवर्तिनः । पुनरपि कथंभूताः ? 'नवनिधिसप्तद्वय रत्नाधीशा' नवनिधयश्च सप्तद्वयरत्नानि सप्तानां द्वयं तेन संख्याता चतुर्दश तेषामधीशाः स्वामिनः । क्षत्रमौलिशखरचरणाः क्षत्रादोषात् त्रायन्ते रक्षन्ति प्राणिनो ये ते क्षत्रा राजानस्तेषां मौलयो मस्तकानि तेषु शिखराणि मुकुटानि तानि चरणेषु येषां ॥ ३८ ॥

तथा धर्मचाक्रिणोऽपि सद्दर्शनमाहात्म्याद्भवन्तीत्याहः—

अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादाम्भोजाः ।
दृष्टया सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ॥ ३९॥

'दृष्टया' सम्यग्दर्शनमाहात्म्येन । 'वृषचक्रधरा भवन्ति' वृषो धर्मः तस्य चक्रं वृषचक्रं तद्धरन्ति ये ते वृषचक्रधरास्तीर्थकराः। किं विशिष्टाः ? 'नूतपादाम्भोजाः' पादावेवाम्भोजे, नूते स्तुते पादाम्भोजे येषां । कैः ? 'अमरासुरनरपातिभिः' अमरपतयः ऊर्ध्वलोकस्वामिनः सौधर्मादयः, असुरपतयोऽधोलोकस्वामिनो धरणेन्द्रादयः, नरपतयः तिर्यग्लोकस्वामिनश्चक्रवर्तिनः। न केवलमेतैरेव, नूतपादाम्भोजाः किन्तु 'यमधरपतिभिश्च' यमं व्रतं धरन्ति ये ते यमधरा मुनयस्तेषां पतयो गणधरास्तैश्च। पुनरपि कथंभूतास्ते ? सुनिश्चितार्था शोभनो निश्चितः परिसमाप्ति गतोऽर्थो धर्मादिलक्षणो येषां । तथा 'लोकशरण्याः' अनेकविधदुःखदायिभिः कर्मारातिभिरुपद्रुतानां लोकानां शरणे साधवः ॥ ३९ ॥

तथा मोक्षप्राप्तिरपि सम्यग्दर्शनशुद्धानामेव भवतीत्याह;—

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशङ्कम्।
काष्ठागतसुखविद्याविभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः ॥४०॥

'दर्शनशरणाः' दर्शनं शरणं संसारापायपरिरक्षणं येषां दर्शनस्य वा शरणं संसारापायपरिरक्षकं येषां दर्शनस्य वा शरणं रक्षणं यत्र ते 'शिवं' मोक्षं भजन्त्यनुभवन्ति। कथम् 'अजरं' न विद्यते रुजा व्याधिर्यत्र। 'अक्षयं' न विद्यते लब्धानन्तचतुष्टयक्षयो यत्र। 'अव्याबाधं' न विद्यते दुःखकारणेन[1] केनचिद्विविधा विशेषेण वा आबाधा यत्र। 'विशोकभयशङ्कं' विगता शोकभयशङ्का यत्र। 'काष्ठागतसुखविद्याविभवं' काष्ठां परमप्रकर्षं गतः प्राप्तः सुखविद्ययोर्विभवो विभूतिर्यत्र। 'विमलं' विगतं मलं द्रव्यभावरूपकर्म यत्र॥ ४० ॥

यत्प्राक् प्रत्येकं श्लोकैः सम्यग्दर्शनस्य फलमुक्तं तद्दर्शनाधिकारस्य समाप्तौ संग्रहवृत्तेनोपसंहृत्य प्रतिपादयन्नाहः—

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानम्
राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोर्चनीयम्।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकम्
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः॥ ४१ ॥

'शिवं' मोक्षं। 'उपैति' प्राप्नोति। कोऽसौ? 'भव्यः' सम्यग्दृष्टिः। कथंभूतः? 'जिनभक्तिः' जिने भक्तिर्यस्य। किं कृत्वा? लब्ध्वा। कं? 'देवेन्द्रचक्रमहिमानं' देवानामिन्द्रा देवेन्द्रास्तेषां चक्रं संघातस्तत्र तस्य वा महिमानं विभूतिमाहात्म्यं। कथंभूतं? 'अमेयमानं' अमेयं अपर्यन्तं मानमस्यामेयमानं पूजाज्ञानं (?) वा यस्य। तथा 'राजेन्द्रचक्रं लब्ध्वा' राज्ञामिन्द्राश्चक्रवर्तिनस्तेषां चक्रं चक्ररत्नं। किं विशिष्टं? 'अवनीन्द्रशिरोऽ

---

1 कारणेन ख-ग।

र्चनीयं' अवन्यां निजनिजपृथिव्यां इन्द्रा मुकुटबद्धा राजानस्तेषां शिरोभिरर्चनीयं। तथा धर्मेन्द्रचक्रं लब्ध्वा धर्मस्योत्तमक्षमादिलक्षणस्य वा इन्द्रा अनुष्ठातारः प्रणेतारो वा तीर्थकरादयस्तेषां चक्रं संघातो धर्मिणां वा तीर्थकृतां सूचकं चक्रं धर्मचक्रं। कथंभूतं? 'अधरीकृतसर्वलोकं' अधरीकृतः भृत्यतां नीतः सर्वलोकस्त्रिभुवनं येन। एतत्सर्वं लब्ध्वा पश्चाच्छिवं चोपैति भव्य इति ॥ ४१ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितोपासकाध्ययनटीकायां प्रथमः परिच्छेदः ॥ १ ॥



ज्ञानाधिकारो द्वितीयः ।



अथ दर्शनरूपं धर्मं व्याख्याय ज्ञानरूपं तं व्याख्यातुमाहः—

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात् ।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥ १ ॥

'वेद' वेत्ति । 'यत्तदाहुर्ब्रुवते । 'ज्ञानं' 'भावश्रुतरूपं' । के ते ? 'आगमिनः' आगमज्ञाः । कथं वेद ? 'निःसन्देहं' निःशंसयं यथा भवति तथा । 'विना च विपरीतात्' विपरीताद्विपर्ययाद्विनैव विपर्ययव्यवच्छेदेनेत्यर्थः । तथा 'अन्यूनं' परिपूर्णं सकलं वस्तुस्वरूपं यद्वेद 'तद्ज्ञानं' न न्यूनं विकलं तत्स्वरूपं यद्वेद, तर्हि जीवादिवस्तुस्वरूपेऽविद्यमानमपि सर्वथा नित्यत्वक्षणिकत्वाद्वैतादिरूपं कल्पयित्वा यद्वेत्ति तदधिकार्थं विदित्वा ज्ञानं भविष्यतीत्यत्राह—'अनतिरिक्तं' वस्तुस्वरूपादनतिरिक्तमनाधिकं यद्वेद तज्ज्ञानं न पुनस्तद्वत्स्वरूपादधिकं कल्पनाशिल्पिकाल्पितं यद्वेद । एवं चैतद्विशेषणचतुष्टयसामर्थ्याद्यथाभूतार्थवेदकत्वं तस्य संभवति तद्दर्शयति—याथातथ्यं यथावस्थितवस्तुस्वरूपं यद्वेद तद्ज्ञानं भावश्रुतं । यद्रूपस्यैव ज्ञानस्य जीवाद्यशेषार्थानामशेषविशेषतः केवलज्ञानवत् साकल्येन स्वरूपप्रकाशनसामर्थ्यसम्भवात् । तदुक्तः—

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्वप्रकाशने
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ १ ॥ इति ।

अतस्तदेवानुधर्मत्वेनाभिप्रेयं । भेदात्तस्यैव मुख्यतो मूलकारणभूततया स्वर्गापवर्गसाधनसामर्थ्यसंभवात् ॥ १ ॥

---

१ विदितत्वात् ग ।

तस्य विषयभेदाद्भेदप्ररूपयन्नाह:—

प्रथानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् ।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥ २ ॥

'बोधः समीचीनः' सत्यं श्रुतज्ञानं । 'बोधति' जानाति । कं ? प्रथमानुयोगं । किं पुनः प्रथमानुयोगशब्देनाभिधीयते इत्याह—'चरितं पुराणमपि' एकपुरुषाश्रिता कथा चरितं त्रिषष्टिशलाकापुरुषाश्रिता कथा पुराणं तदुभयमपि प्रथमानुयोगशब्दाभिधेयं । तत्प्रकाल्पितत्वव्यवच्छेदार्थमर्थाख्यानमिति विशेषणं, अर्थस्य परमार्थस्य विषयस्याख्यानं यत्र येन वा तं । तथा पुण्यं प्रथमानुयोगं हि शृण्वतां पुण्यमुत्पद्यते इति पुण्यहेतुत्वात्पुण्यं तदनुयोगं । तथा 'बोधिसमाधिनिधानं' अप्राप्तानां हि सम्यग्दर्शनादीनां प्राप्तिर्बोधिः प्राप्तानां तु पर्यन्तप्रापणं समाधिः ध्यानं वा धर्म्मशुक्लं च समाधिः तयोर्निधानं तदनुयोगं हि शृण्वतां दर्शनादेः प्राप्त्यादिकं धर्म्मध्यानादिकं च भवति ।

तथाः—

[1]इह उड्ढतिरियलोए दिसि विदिसं जं पमाणियं भणियं ।
करणाणि तु सिद्धं दीवसमुद्दा जिणगेहा ॥ १ ॥

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च ।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ॥ ३ ॥

'तथा' तेन प्रथमानुयोगप्रकरेण । '[2]मतिर्मननं श्रुतज्ञानं' । अवैति जानाति । कं ? 'करणानुयोगं' लोकालोकविभागं पंचसंग्रहादिलक्षणं । कथं भूतमिव ? 'आदर्शमिव' यथा आदर्शो दर्पणो मुखादेर्यथावत्स्वरूपप्रकाशकस्तथा करणानुयोगोऽपि स्वविषयस्यायं प्रकाशकः । 'लोकालोक-

१ इयं गाथापि ख. ग. पुस्तकयोर्नास्ति ।
२ मतिज्ञानं नश्रुतज्ञानम् इति ग पुस्तके ।

विभक्तेः' लोक्यन्ते जीवादयः पदार्था यत्रासौ लोकस्त्रिचत्वारिंशदधिकशतत्रयपरिमितरज्जुपरिमाणः,——तद्विपरितोऽलोकोऽनन्तमानावच्छिन्नशुद्धाकाशस्वरूपः तयोर्विभक्तिर्विभागो भेदस्तस्याः आदर्शमिव तथा 'युगपरिवृत्तेः' युगस्य कालस्योत्सर्पिण्यादेः परिवृत्तिः परावर्तनं तस्या आदर्शमिव तथा 'चतुर्गतीनां च' नरकतिर्यग्मनुष्यदेवलक्षणानामादर्शमिव ॥३॥

तथाः——

तवचारित्तगुणीणं किरियाणं रिद्धिसाहियाणं ।
उवसग्गं सण्णासं संचरणाणिउपं पसंसंति ॥ १ ॥

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम् ।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥ ४ ॥

'सम्यग्ज्ञानं' भावश्रुतरूपं । विशेषेण जानाति । कं ? चरणानुयोगसमयं चारित्रप्रतिपादकं शास्त्रमाचारादि । कथंभूतं ? चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गं चारित्रस्योत्पत्तिश्चवृद्धिश्च तासामङ्गंकारणं अंगानि वा । कारणानि प्ररूप्यन्ते यत्र । केषां तदङ्गं ? 'गृहमेध्यनगाराणां' गृहमेधिनः श्रावकाः अनगारा मुनयस्तेषां ॥ ४ ॥

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च ।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥ ५ ॥

'द्रव्यानुयोगदीपो' द्रव्यानुयोगसिद्धान्तसूत्रं तत्वार्थसूत्रादिस्वरूपो द्रव्यागमः स एव दीपः स 'आतनुते' विस्तारयति अशेषविशेषतः प्ररूपयति । के ? 'जीवाजीवसुतत्त्वे' उपयोगलक्षणो जीवः तद्विपरीतोऽजीवः तावेव शोभने अबाधिते तत्वे वस्तुस्वरूपे आतनुते । तथा 'पुण्यापुण्ये' सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि हि पुण्यं ततोऽन्यत्कर्मापुण्यमुच्यते ते च मूलोत्तरप्रकृतिभेदेनाशेषविशेषतो द्रव्यानुयोगदीप आतनुते । तथा 'बन्धमोक्षौ च'

१ गाथेयं क एव । २ द्रव्यानुयोगः सिद्धान्तः ख ।

मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगलक्षणहेतुवशादुपार्जितेन कर्मणा सहात्मनः संश्लेषो बन्धः बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षलक्षणो मोक्षस्तावप्यशेषतः द्रव्यानुयोगदीप आतनुते । कथं ? श्रुतविद्यालोकं श्रुतविद्या भावश्रुतं सैवालोकः प्रकाशो यत्र तत् । न कर्माणि तद्यथा भवत्येवं जीवादीनि स प्रकाशयतीति ॥ ५ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितोपासकाध्ययनटीकायां द्वितीयः परिच्छेदः ॥ २ ॥



गुणव्रताधिकारस्तृतीयः ॥ ३ ॥



अथ चरित्ररूपं धर्मं व्याख्यासुराह;—

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः ।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥ १ ॥

'चरणं' हिंसादिनिवृत्तिलक्षणं चारित्रं । ' प्रतिपद्यते ' स्वीकरोति । कोऽसौ ? 'साधु'र्भव्यः । कथंभूतः ? अवाप्तसंज्ञानः । कस्मात् ? दर्शनलाभात् । तल्लाभोऽपि तस्य कस्मिन् सति संजातः ? ' मोहतिमिरापहरणे ' मोहोदर्शनमोहः स एव तिमिरं तस्यापहरणे यथासम्भवमुमशमे क्षये क्षयोपशमे वा । अथवा मोहो दर्शनचारित्रमोहस्तिमिरं ज्ञानावरणादि तयोरपहरणे । अयमर्थः—दर्शनमोहापहरणे दर्शनलाभः । तिमिरापहरणे सति दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः भवत्यात्मा ज्ञानावरणापगमे हि ज्ञानमुत्पद्यमानं सद्दर्शनप्रसादात् सम्यग्व्यपदेशं लभते, तथाभूतश्चात्मा चारित्रमोहापगमे चरणं प्रतिपद्यते । किमर्थं ? ' रागद्वेषनिवृत्त्यै रागद्वेषनिवृत्तिनिमित्तं ॥ १ ॥

तस्मिन्निवृत्तावेव हिंसादिनिवृत्तेः संभवादित्याहः—

रागद्वेषनिवृत्तेर्हिंसादिनिवर्त्तना कृता भवति ।
अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् ॥ २ ॥

हिंसादेः निवर्तना व्यावृत्तिःकृता भवति । कुतः ? रागद्वेषनिवृत्तेः । अयमत्र तात्पर्यार्थः—प्रवृत्तरागादिक्षयोपशमादेः हिंसादिनिवृत्तिलक्षणं चरित्रं भवति ततो भाविरागादनिवृत्तेरेव प्रकृष्टतरप्रकृष्टतमादि निवर्तते देशसंयतादिगुणस्थाने रागादिर्हिंसादिनिवृत्तिस्तावद्वर्तते यावन्निःशे-

षरागादिप्रक्षयः तस्माच्च निःशेषहिंसादिनिवृत्तिलक्षणं परमोदासीनतास्वरूपं परमोत्कृष्टचारित्रं भवतीति । अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थमर्थान्तरन्यासमाह—अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् अनपेक्षिताऽनभिलषिता अर्थस्य प्रयोजनस्य फलस्य वृत्तिः प्राप्तिर्येन स तथाविधः पुरुषः को नकोऽपि प्रेक्षापूर्वकारी सेवते नृपतीन् ॥ २ ॥

अत्रापरः प्राह—चरणं प्रतिपद्यत इत्युक्तं तस्य तु लक्षणं नोक्तं तदुच्यतां ? इत्याशंक्याह—

हिंसानृतचौर्य्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च ।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥ ३ ॥

चारित्रं भवति । कासौ ? विरतिर्व्यावृत्तिः । केभ्यः ? हिंसानृतचौर्येभ्यः हिंसादीनां स्वरूपकथनं स्वयमेवाग्रे ग्रन्थकारः करिष्यति । न केवलमेतेभ्य एव विरतिः—अपि तु मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां । एतेभ्यः कथंभूतेभ्यः ? पापप्रणालिकाभ्यः पापस्य प्रणालिका इव पापप्रणालिका आश्रवणद्वाराणि ताभ्यः । कस्य तेभ्यो विरतिः ? संज्ञस्य ससम्यजानातीति संज्ञः तस्य हेयोपादेयतत्वपरिज्ञानवता ॥ ३ ॥

तच्चेत्थं भूतं चारित्रं द्विधा भिद्यत इत्याह;—

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंगविरतानाम् ।
अनगाराणां विकलं सागाराणां ससंगानाम् ॥ ४ ॥

हिंसादिविरतिलक्षणं यच्चरणं प्राक्प्ररूपितं तत् सकलं विकलं च भवति । तत्र सकलं परिपूर्णं महाव्रतरूपं । केषां तद्भवति ? अनगाराणां मुनीनां किंविशिष्टानां सर्वसंगविरतानां वाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितानां । विकलमपरिपूर्णं अणुव्रतरूपं । केषां तद्भवति सागाराणां गृहस्थानां कथंभूतानां ? ससंगानां सग्रन्थानाम् ॥ ४ ॥

तत्र विकलमेव तावद्व्रतं व्याचष्टे:—

गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं चरणम् ।
पञ्चत्रिचतुर्भेदं त्रयं यथासङ्ख्यमाख्यातम् ॥ ५ ॥

गृहिणां सम्बन्धि यत् विकलं चरणं तत्त्रेधा त्रिप्रकारं तिष्ठति भवति । किंविशिष्टं सत् ? अणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं सत् अणुव्रतरूपं गुणव्रतरूपं शिक्षाव्रतरूपं सत् । त्रयमेव तत्प्रत्येकं । यथासंख्यं । पंचत्रिचतुर्भेदमाख्यातं प्रतिपादितं । तथा हि । अणुव्रतं पंचभेदं गुणव्रतं त्रिभेदं शिक्षाव्रतं चतुर्भेदमिति ॥ ५ ॥

तत्राणुव्रतस्य तावत्पंचभेदान् प्रतिपादयन्नाह:—

प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेयकाममूर्च्छेभ्यः ।
स्थूलेभ्यः पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रतं भवति ॥ ६ ॥

'अणुव्रतं' विकलव्रतं । किं तत् ? व्युपरमणं व्यावर्तनं यत् । केभ्यः इत्याह प्राणेत्यादि प्राणानामिन्द्रियादिकमतिपातश्चातिपतनं वियोगकरणं विनाशनं । 'वितथव्याहारश्च' वितथोऽसत्यः स चासौ व्याहारश्च शब्दः । स्तेयं च चौर्यं । कामश्च मैथुनं । मूर्च्छा च परिग्रहः मूर्च्छा च लोभावेशात् परिगृह्यते इति मूर्च्छा इति व्युत्पत्तेः । तेभ्यः कथंभूतेभ्यः ? स्थूलेभ्यः अणुव्रतधारिणो हि सर्वसावद्यविरतेरसंभवात् स्थूलेभ्य एव हिंसादिभ्यो व्युपरमणं भवति । तर्हि त्रसप्राणातिपातान्निवृत्तो न स्थावरप्राणातिपातात् । तथा पापादिभयात् परपीडादिकारणमिति मत्वा स्थूलादसत्यवचनान्निवृत्तो न तद्विपरीतात् । तथान्यपीडाकरात् राजादिभयादिना परेण परित्यक्तादप्यदत्तार्थात् स्थूलान्निवृत्तो न तद्विपरीतात् । तथा उपात्तायाश्च पराङ्गनायाः पापभयादिना निवृत्तो नान्यथा इतिस्थूलरूपाऽब्रह्म-

१ तद इति ग-पुस्तके ।

निवृत्तिः । तथा धनधान्यक्षेत्रादेरिच्छावशात् कृतपरिच्छेदा इति स्थूलरूपात् परिग्रहान्निवृत्तिः । कथंभूतेभ्यः प्राणातिपातादिभ्यः ? पापेभ्यः पापाश्रवणद्वारेभ्यः ॥ ६ ॥

तत्राद्यव्रतं व्याख्यातुमाह:—

सङ्कल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्त्वान् ।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः ॥ ७ ॥

'चरसत्वान्' त्रसजीवान् 'यन्न हिनास्ति' तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं । के ते ? निपुणाः हिंसादिविरतिव्रतविचारदक्षाः । कस्मान्नहिनास्ति ? संकल्पात्[1] संकल्पं हिंसाभिसंध्यमाश्रित्य । कथंभूतात् संकल्पात् ? कृतकारितानुमननात् कृतकारितानुमननरूपात् । कस्य सम्बन्धिनः ? योगत्रयस्य मनोवाक्कायत्रयस्य । अत्र कृतवचनं कर्तुः स्वातंत्र्यप्रतिपत्त्यर्थं । कारिता[2]नुविधानं परप्रयोगापेक्षमनुवचनं । अनु[3]मननवचनं प्रयोजकस्य मानसपरिणामप्रदर्शनार्थं । तथा हि मनसा चरसत्वहिंसां स्वयं न करोमि चरसत्वान् हिनस्ती (स्मी) ति मनः संकल्पं न करोमीत्यर्थः मनसा चरसत्वहिंसामन्यं न कारयामि चरसत्वान् हिंसय हिंसयेति मनसा प्रयोजको न भवामीत्यर्थः । तथा अन्यं चरसत्वहिंसां कुर्वन्तं मनसा नानुमन्ये सुन्दरमन्येन कृतमिति मनःसंकल्पं न करोमीत्यर्थः । एवं वचसा स्वयं चरसत्वहिंसां न करोमि चरसत्वान् हिनस्मीति स्वयं वचनं नोच्चारयामीत्यर्थः । वचसा चरसत्वहिंसां न कारयामि चरसत्वान् हिंसय हिंसयेति वचनं नोच्चारयामीत्यर्थः । तथा वचसा चरसत्वहिंसां कुर्वन्तं नानुमन्ये साधुकृतं त्वयेति वचनं नोच्चारयामीत्यर्थः । तथा कायेन चरसत्वहिंसां न करोमि चरसत्वहिंसने दृष्टिमुष्टिसन्धाने

१ संकल्पात्–हिंसाभिसन्धिमाश्रित्य ग पुस्तके । २ कारिताभिधानं ग पुस्तके । ३ अनुवचनं ख–पुस्तके । अनुमननं वचनं ग–पुस्तके ।

स्वयं कायव्यापारं न करोमीत्यर्थः[1]। तथा कायेन चरसत्त्वहिंसां न कारयामि चरसत्त्वहिंसने कायसंज्ञया परं नप्रेरयामीत्यर्थः। तथा चरसत्त्वहिंसां कुर्वन्तमन्यं नखच्छोटिकादिना कायेन नानुमन्ये। इत्युक्तमहिंसाणुव्रतम् ॥ ७ ॥

तस्येदानीमतीचारानाहः—

छेदनबन्धनपीडनमतिभारारोपणं व्यतीचाराः।
आहारवारणापि च स्थूलवधाद्व्युपरतेः पञ्च ॥ ८ ॥

व्यतीचारा विविधा विरूपका वा अतीचारा दोषाः। कति? पंच। कस्य? स्थूलवधाद्युपरतेः। कथमित्याह छेदनेत्यादि कर्णनासिकादीनामवयवानामपनयनं छेदनं। अभिमतदेशे गतिनिरोधहेतुर्बन्धनं पीडा दण्डकशाद्यभिघातः। अतिभारारोपणं। न्याय्यभारादधिकभारारोपणं। न केवलमेतच्चतुष्टयमेव किन्तु आहारवारणापि च आहारस्यअन्नपानलक्षणस्य वारणा निषेधो धारणा वा निरोधः ॥ ८ ॥

एवमहिंसाणुव्रतं प्रतिपाद्येदानीमनृतविरत्यणुव्रतं प्रतिपादयन्नाहः—

स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे।
यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम् ॥ ९ ॥

स्थूलश्चासौमृषावादश्च तस्माद्वैरमणं विरमणमेववैरमणं तद्वदन्ति। के ते? सन्तः सत्पुरुषाः। गणधरदेवादयः। तत्किं सन्तो वदन्ति किं तत् अलीकमसत्यं। कथंभूतं? स्थूलं यस्मिन्नुक्ते स्वपरयोर्वधबन्धादिकं राजादिभ्यो भवति। तत्स्वयं तावन्न वदति। तथा। परानन्यान् तथाविधमलीकं न वादयति। न केवलमलीकं किन्तु सत्यमपि चोरोऽयमित्यादिरूपं न स्वयं वदति न परान् वादयति। किं विशिष्टं यदुक्तं सत्यं परस्य विपदेऽपकाराय भवति ॥ ९ ॥

---

1 करोमीत्यर्थं इति क-ख-पाठः।

साम्प्रतं सत्याणुव्रतस्यातीचारानाह:—

परिवादरहोभ्याख्या पैशून्यं कूटलेखकरणं च ।
न्यासापहारितापि च व्यतिक्रमाः पञ्च सत्यस्य ॥ १० ॥

परिवादो मिथ्योपदेशोऽभ्युदयनि:श्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेष्वन्यस्यान्यथाप्रवर्तनमित्यर्थ: । रहोऽभ्याख्या रहसि एकान्ते स्त्रीपुंसाभ्यामनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्याभ्याख्या प्रकाशनं । पैशून्यं अंगविकारभ्रूविक्षेपादिभि: पराभिप्रायं ज्ञात्वा असूयादिना तत्प्रकटनं साकारमन्त्रभेद इत्यर्थ: । कूटलेखकरणं च अन्येनानुक्तमननुष्ठितं यत्किंचिदेव तेनोक्तमनुष्ठितं चेति वंचनानिमित्तं कूटलेखकरणं कूटलेखक्रियेत्यर्थ: । न्यासापाहारिता द्रव्यनिक्षेप्तुर्विस्मृतसंख्यस्याल्पसंख्यं द्रव्यमाददानस्य एवमेवेत्यभ्युपगमवचनं । एवं परिवादयश्चत्वारो न्यासापहारिता पंचमीति सत्यस्याणुव्रतस्य पंच व्यतिक्रमा: अतीचारा भवन्ति ॥ १० ॥

अधुना चौर्यविरत्यणुव्रतस्य स्वरूपं प्ररूपयन्नाह:—

निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टं ।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्यादुपारमणम् ॥ ११॥

अकृशचौर्यात् स्थूलचौर्यात् । उपारमणं तत् । यत् किं यत् नहरति न गृण्हाति । किं तत् ? परस्वं परद्रव्यं । कथंभूतं ? निहितं वा धृतं । तथा पतितं वा । तथा सुविस्मृतं वा अतिशयेन विस्मृतं । वा शब्द: सर्वत्र परस्परसमुच्चये । इत्थंभूतं परस्वं अविसृष्टं अदत्तं यत्स्वयं न हरति न दत्तेऽन्यस्मै तदकृशचौर्यादुपारमणं प्रतिपत्तव्यम् ॥ ११ ॥

तस्येदानीमतिचारानाह:—

चौरप्रयोगचौरार्थादानविलोपसदृशसन्मिश्रा: ।
हीनाधिकविनिमानं पञ्चास्तेये व्यतीपाता: ॥ १२ ॥

अस्तेये चौर्यविरमणे। व्यतीपाता अतीचाराः पंच भवन्ति। तथा हि। चोरप्रयोगः चोरयतः स्वयमेवान्येन वा प्रेरणं प्रेरितस्य वा अन्येनानुमोदनं। चौरार्थादानं च अप्रेरितेनाननुमतेन च चोरेणानीतस्यार्थस्यग्रहणं। विलोपश्च उचितन्यायादनपेतप्रकारेणार्थस्यादानं विरुद्धराज्यातिक्रम इत्यर्थः विरुद्धराज्ये ह्यल्पमूल्यानि महार्घ्याणि द्रव्याणीति। सदृशसन्मिश्रश्च प्रतिरूपकव्यवहार इत्यर्थः सदृशेन तैलादिना सन्मिश्रं घृतादिकं करोति। कृत्रिमैश्च हिरण्यादिभिर्वंचनापूर्वकं व्यवहारं करोति। हीनाधिकविनिमानं विविधं नियमेन मानं विनिमानं मानोन्मानमित्यर्थं मानं हि प्रस्थादि, उन्मानं तुलादि तच्च हीनाधिकं हीनेन अन्यस्मै ददाति अधिकेन स्वयं गृण्हातीति ॥ १२ ॥

साम्प्रतमब्रह्मविरत्यणुव्रतस्वरूपं प्रतिपादयन्नाहः—

न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च
पापभीतेर्यत्। सा परदारनिवृत्तिः स्वदारस-
न्तोपनामापि ॥ १३ ॥

'सा परादारनिवृत्तिः' यत् परदारान्[1] परिगृहीतानपरिगृहीतांश्च स्वयं 'न च' नैव गच्छति। तथा परानन्यान् परदारलम्पटान् न गमयति * परदारेपु गच्छतो यत्प्रयोजयति न च *। कुत ? पापभीतेः पापोपार्जनभयात् न पुनः नृपत्यादिभयात्। न केवलं सा परदारनिवृत्तिरेवोच्यते किन्तु[2] स्वदारसन्तोपनामापि स्वदारेषु सन्तोपः स्वदारसन्तोपस्तन्नामयस्याः[3] ॥ १३ ॥

तस्यातीचारानाहः[4]—

१ परदारान् क-ख-पाठः। * पुष्पमध्यगतो पाठः ग-पुस्तके नास्ति।
२ अपि तु ख ग-पाठः। ३ यस्य क-पाठः। ४ अस्य ग-पाठः।

अन्यविवाहाकरणानङ्गक्रीडाविटत्वविपुलतृषः ।
इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पञ्च व्यतीचाराः ॥ ॥ १४

'अस्मरस्याब्रह्मनिवृत्त्यणुव्रतस्य' पंच व्यतीचाराः । कथमित्याह—अन्येत्यादि कन्यादानं विवाहोऽन्यस्य विवाहोऽन्यविवाहः तस्य आसमन्तात् करणं तच्च अनङ्गक्रीडा च अंगं लिंगं योनिश्च तयोरन्यत्र मुखादिप्रदेशे क्रीडा अनङ्गक्रीडा । विटत्वं भण्डिमाप्रधानकायवाक्प्रयोगः । विपुलतृषा च कामतीव्राभिनिवेशः । इत्वरिकागमनं च परपुरुषानेति गच्छतीत्येवं शीला इत्वरी पुंश्चली कुत्सायां के कृते इत्वरिका भवति तत्र गमनं चेति ॥ १४ ॥

अथेदानीं परिग्रहविरत्यणुव्रतस्य स्वरूपं दर्शयन्नाह:—

धनधान्यादिग्रन्थंपरिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृ-
हता । परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाण-
नामापि ॥ १५ ॥

'परिमितपरिग्रहो' देशतः परिग्रहविरतिरणुव्रतं स्यात् । कासौ ? या 'ततोऽधिकेषु' 'निःस्पृहता' ततस्तेभ्य इच्छावशात् कृतपरिसंख्यातेभ्योऽर्थेभ्योऽधिकेष्वर्थेषु या निःस्पृहता वाञ्छाव्यावृत्तिः । किं कृत्वा ? 'परिमाय' देवगुरुपादाग्रे परिमितं कृत्वा । कं ? धनधान्यादिग्रन्थं धनं गवादि, धान्यं व्रीह्यादि । आदिशब्दाद्दासीदासभार्यागृहक्षेत्रद्रव्यसुवर्णरूप्याभरणवस्त्रादिसंग्रहः । स चासौ ग्रन्थश्च तं परिमाय । स च परिमितपरिग्रहः इच्छापरिमाणनामापि स्यात्, इच्छायाः परिमाणं यस्य स इच्छापरिमाणस्तन्नाम यस्य स तथोक्तः ॥ १५ ॥

तस्यातिचारानाह:—

अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि ।
परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते ॥ १६ ॥

'विक्षेपा' अतीचारः। पंच 'लक्ष्यन्ते' निश्चीयन्ते। कस्य? परिमितपरिग्रहस्य न केवलमहिंसाद्यणुव्रतस्य पंचातीचारा निश्चीयन्ते अपि तु परिमितपरिग्रहस्यापि। चशब्दोऽत्रापिशब्दार्थे। के तस्यातीचारा इत्याहः—अतिवाहनेत्यादि लोभातिगृद्धिवृत्त्यर्थं परिग्रहपरिमाणे कृते-पुनर्लोभावेशवशादतिवाहनं करोति यावन्तं हि मार्गं बलीवर्दादयः सुखेन गच्छन्ति ततोऽप्यतिरेकेण वाहनमतिवाहनं। अतिशब्दः प्रत्येकं लोभान्तानां सम्बध्यते। इदं धान्यादिकमग्रे विशिष्टं लाभं दास्यतीति लोभावेशादतिशयेन तत् संग्रहं करोति; तत्प्रतिपन्नलाभेन विक्रीते तस्मिन् मूलतोऽप्यसंग्रहीते वाधिकेऽर्थे तत्क्रपाणकेन लब्धे लोभावेशादतिविस्मयं विषादं करोति। विशिष्टेऽर्थे लब्धेऽप्यधिकलाभाकांक्षावशादतिलोभं करोति। लोभावेशादधिकभारारोपणमतिभारवाहनं। ते विक्षेपाः पंच॥ १६॥

एवं प्ररूपितानि पंचाणुव्रतानि निरतिचाराणि किं कुर्वन्तीत्याहः—

पञ्चाणुव्रतनिधयो निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकं।
यत्रावधिरष्टगुणा दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते॥ १७॥

फलन्ति फलं प्रयच्छन्ति। के ते? पंचाणुव्रतनिधयः पंचाणुव्रतान्येव निधयो निधानानि। कथंभूतानि? निरतिक्रमणा निरतिचाराः। किं फलन्ति? सुरलोकं। यत्र सुरलोके लभ्यन्ते। कानि? अवधिरवधिज्ञानं। अष्टगुणा अणिमामहिमेत्यादयः। दिव्यशरीरं च सप्तधातुविवर्जितं शरीरं। एतानि सर्वाणि यत्र लभ्यन्ते॥ १७॥

इह लोके किं कस्याप्यहिंसाद्यणुव्रतानुष्ठानफलप्राप्तिर्दृष्टा येन परलोकार्थं तदनुष्ठीयते इत्याशंक्याहः—

मातंगो धनदेवश्च वारिषेणस्ततः परः।
नीली जयश्च संप्राप्ताः पूजातिशयमुत्तमम्॥ १८॥

हिंसाविरत्यणुव्रतात् मातंगेन चांडालेन उत्तमः पूजातिशयः प्राप्तः ।

अस्य कथा।

सुरम्यदेशे पोदनपुरे[1] राजा महाबलः । नन्दीश्वराष्टम्यां राज्ञा अष्टदिनानि जीवामारणघोषणायां कृतायां बलकुमारेण चात्यन्तमांसासक्तेन कंचिदपि पुरुषमपश्यता राजोद्याने[2] राजकीयमेण्ढकः प्रच्छन्नेन मारयित्वा संस्कार्य भक्षितः । राज्ञा च मेण्ढकमारणवार्तामाकर्ण्य रुष्टेन मेण्ढकमारको गवेषयितुं प्रारब्धः । तदुद्यानमालाकारेण च वृक्षोपरिचटितेन स तन्मारणं कुर्वाणो दृष्टः । रात्रौ च निजभार्यायाः कथितं ततः प्रच्छन्नचरपुरुषेणाकर्ण्य राज्ञः कथितं । प्रभाते मालाकारोऽप्याकारितः । तेनैव पुनः कथितं । मदीयामाज्ञां मम पुत्रः खण्डयतीति । रुष्टेन राज्ञा कोट्टपालो भणितो बलकुमारं नवखण्डं कारयेति ततस्तं कुमारं मारणस्थानं नीत्वा मातङ्गमानेतुं ये गताः पुरुषास्तान् विलोक्य मातङ्गेनोक्तं प्रिये ! मातङ्गो ग्रामं गत इति कथय त्वमेतेषामित्युक्त्वा गृहकोणे प्रच्छन्नो भूत्वा स्थितः । तलारैश्चाकारिते मातङ्गे ! कथितं मातंग्या सोऽद्य ग्रामं गतः । भणितं च तलारैः स पापोऽपुण्यवानद्य ग्रामं गतः कुमारमारणात्तस्य बहुसुवर्णरत्नादिलाभो भवेत् तेषां वचनमाकर्ण्य द्रव्यलुब्धया तया[3] हस्तसंज्ञया स दर्शितो ग्रामं गत इति पुनः पुनर्भणन्त्या । ततस्तैस्तं गृहान्निःसार्य तस्य मारणार्थं स कुमारः समर्पितः । तेनोक्तं नाहम् (द्य) चतुर्दशीदिने जीवघातं करोमि । ततस्तलारैः स नीत्वा राज्ञः कथितः देव ! अयं राजकुमारं न मारयति । तेन च राज्ञः कथितं सर्पदष्टो मृतः श्मशाने निक्षिप्तः सर्वौषधिमुनिशरीरस्य वायुना पुनर्जीवितोऽहं तत्पार्श्वे चतुर्दशीदिवसे मया जीवाहिंसाव्रतं गृहीतमतोऽद्य

---

१ पोदनापुरे क-ग-पाठः । २ राज्योद्याने ख-ग-पाठः । ३ तया मातङ्गभीतया ग-पाठः ।

न मारयामि देवो यज्जानाति तत्करोतु। अस्पृश्यचाण्डालस्य व्रतमिति संचिन्त्य रुष्टेन राज्ञा द्वावपि गाढं बन्धयित्वा सुमारद्रहे[1] निक्षेपितौ। तत्र मातङ्गस्य प्राणात्ययेऽप्यहिंसाव्रतमपरित्यजतो व्रतमाहात्म्याज्जलदेवतया जलमध्ये सिंहासनमणिमण्डीपकादुन्दभिसाधुकारादिप्रतिहार्यादिकं[2] कृतं। महाबलराजेन चैतदाकर्ण्य भीतेन पूजयित्वा निजच्छत्रतलेस्नापयित्वा[3] स स्पृश्यो विविष्ट कृत इति[4] प्रथमाणुव्रतस्य।

अनृतविरत्यणुव्रताद्धनदेवश्रेष्ठिना पूजातिशयः प्राप्तः।

अस्य कथा।

जम्बूद्वीपे पूर्वविदेहे पुष्कलावतीविषये पुण्डरीकिण्यां पुर्यां वणिजौ जिनदेवधनदेवौ स्वल्पद्रव्यौ। तत्र धनदेवः सत्यवादी द्रव्यस्य लाभं द्वावप्यर्धमर्धं गृहीष्याव इति निःसाक्षिकां व्यवस्थां कृत्वा दूरदेशं गतौ बहुद्रव्यमुपार्ज्य व्याघुट्य कुशलेन पुण्डरीकिण्यामायातौ। तत्र जिनदेवो लाभार्धं (र्धं) धनदेवाय न ददाति। स्तोकद्रव्यमौचित्येन ददाति ततो झकटके[5] न्याये च सति स्वजनमहाजनराजाग्रतो निःसाक्षिकव्यवहारबलाज्जिनदेवो वदति न मयाऽस्य लाभार्धं भणितमुचितमेव भणितं। धनदेवश्च सत्यमेव वदति द्वयोरर्धमेव। ततो राजनियमात्तयोर्द्रव्यं दत्तं धनदेवः शुद्धो नेतरः ततः सर्वं द्रव्यं धनदेवस्य समर्पितं तथा सर्वैः पूजितः साधुकारितश्चेति द्वितीयाणुव्रतस्य।

अचौर्यविरत्यणुव्रताद्वारिषेणेन पूजातिशयः प्राप्तः। अस्य कथा स्थितिकरणगुणव्याख्यानप्रघट्टके 'कथितेह[6] द्रष्टव्येति तृतीयाणुव्रतस्य'।

---

१ शिशुमारहृदे पाठः ग पुस्तके। २ सिंहासनमणिमण्डपिकादेवकादुंदुभिसाधुकारादिप्रातिहार्यंकृतं पाठः। ३ स्थापयित्वा ग ४ संस्पृश्यो विशिष्टः कृतः इति पाठः। ५ कटकेति पाठः। ६ तत्र, इति पुस्त।

ततः परं नीली जयश्च । ततस्तेभ्यः परं यथा भवन्त्येवं पूजातिशयं प्राप्तौ । तत्राब्रह्मविरत्यणुव्रतान्नीली वणिक्पुत्री पूजातिशयं प्राप्ता ।

अस्याः कथा ।

लाटदेशे[1] भृगुकच्छपत्तने राजा वसुपालः। वणिग्जिनदत्तो भार्या जिनदत्ता पुत्री नीली अतिशयेन रूपवती। तत्रैवापरः श्रेष्ठी समुद्रदत्तो भार्या सागरदत्ता पुत्रः सागरदत्तः। एकदा महापूजायां वसन्तौ कायोत्सर्गेण संस्थितां सर्वाभरणविभूषितां नीलीमालोक्य सागरदत्तेनोक्तं किमेषापि देवता काचिदे तदाकर्ण्य तन्मित्रेण प्रियदत्तेन भणितं—जिनदत्तश्रेष्ठिन इयं पुत्री नीली। तद्रूपालोकनादतीवासक्तो भूत्वा कथमियं प्राप्यत इति तत्परिणयनचिन्तया दुर्बलो जातः। समुद्रदत्तेन चैतदाकर्ण्य भणितः—हे पुत्र! जैनं मुक्त्वा नान्यस्य जिनदत्तो ददातीमां पुत्रिकां परिणेतुं। ततस्तौ कपटश्रावकौ जातौ परिणीता च सा ततः पुनस्तौ बुद्धभक्तौ जातौ, नील्याश्च पितृगृहे गमनमपि निषिद्धं, एवं वंचनेजाते भणितं जिनदत्तेन इयं मम न जाता कूपादौ वा पतिता यमेन वा नीता इति। नीली च श्वशुरगृहे भर्तुः वल्लभा भिन्नगृहे जिनधर्ममनुष्ठतीति दर्शनात् संसर्गाद्वचनधर्मदेवाकर्णनाद्वा कालेनेयं बुद्धभक्ता भविष्यतीति पर्यालोच्य समुद्रदत्तेन भणिता नीली-पुत्रि! ज्ञानिनां वन्दकानामस्मदर्थे भोजनं देहि। ततस्तया वन्दकानामामंत्र्याहूय च तेषामेकैका प्राणहितातिपिष्टा संस्कार्य तेषामेवं भोक्तुं दत्ता। तैर्भोजनं भुक्त्वा गच्छद्भिः प्रष्टं-क प्राणहिताः? तयोक्तंभवन्त एव ज्ञानेन जानन्तु यत्र तास्तिष्ठन्ति यदि पुनर्ज्ञानं नास्ति तदा वमनं कुर्वन्तु भवतामुदरे प्राणहितास्तिष्ठन्तीति। एवं वमनं कृतं दृष्टानि[2] प्राणहिताखण्डानि। ततो रुष्टश्च श्वशुरपक्षजनः। ततः सागरदत्तभगिन्या कोपात्तस्या असत्यपरपुरुषदोषोद्भावना कृता। तस्मिन् प्रसिद्धिं

---

१ ललाटदेशे ग. । २ नृष्टा ग.

गते सा नीली देवाग्रे संगृहीत्वा कायोत्सर्गेण स्थिता दोषोत्तारे भोजनादौ प्रवृत्तिर्मम नान्यथेति । ततः क्षुभितनगरदेवतया आगत्य रात्रौ सा भणिता- हे महासति ! मा प्राणत्यागमेवं कुरु अहं राज्ञः प्रधानानां पुरजनस्य स्वप्नं ददामि । लग्ना यथा नगरप्रतोल्यः कीलिता महासती वामचरणेन संस्पृश्य उद्घरिष्यन्तीति ताश्च प्रभाते भवच्चरणं स्पृष्ट्वा एवं वा उद्घरिष्यन्तीति पादेन प्रतोली स्पर्शं कुर्यास्त्वमिति भणित्वा राजादीनां तथा स्वप्नं दर्शयित्वा पत्तनप्रतोलीः कीलित्वा स्थिता सा नगरदेवता प्रभाते कीलिताः प्रतोलीर्दृष्ट्वा राजादिभिस्तं स्वप्नं स्मृत्वा नखरस्त्रीचरणताडनं प्रतोलीनां कारितं । न चैकापि प्रतोली कयाचिदप्युद्घरिता । सर्वासां पश्चान्नीली तत्रोत्क्षिप्य नीता । तच्चरणस्पर्शात् सर्वा अप्युद्घरिताः प्रतोल्यः, निर्दोषा राजादिपूजिता नीली जाता चतुर्थाणुव्रतस्य ।

परिग्रहविरत्यणुव्रताज्जयः पूजातिशयं प्राप्तः ।

अस्य कथा

कुरुजांगलदेशे हस्तिनागपुरे कुरुवंशे राजा सोमप्रभः पुत्रो जयः परिमितपरिग्रहो भार्यासुलोचनायामेव प्रवृत्तिः । एकदा पूर्वविद्याधरभवकथनानन्तरं समायातपूर्वजन्मविद्यो[1] हिरण्यधर्मप्रभावती[2] विद्याधररूपमादाय च मेर्वादौ वन्दनाभक्तिं कृत्वा कैलासगिरौ भरतप्रतिष्ठापितचतुर्विंशतिजिनालयान् वन्दितुमायातौ सुलोचनाजयौ । तत्प्रस्तावे च सौधर्मेन्द्रेण जयस्य स्वर्गे परिग्रहपरिमाणव्रतप्रशंसा कृता । तां परीक्षितुं रतिप्रभदेवः समायातः । ततः स्त्रीरूपमादाय चतसृभि विंलासिनीभिः सह जयसमीपं गत्वा भणितो जयः । सुलोचनास्वयंवरे येन त्वया सह संग्रामः कृतः तस्य नमिविद्याधरपते राज्ञीं सुरूपामभिनवयौवनां सर्वविद्याधारिणीं

१ जन्माद्यः ग. घ. । २ धर्म ग. घ. ।

तद्विरक्तचित्तामिच्छ यदि तस्य राज्यमात्मजीवितं च वाञ्छसीति । एतदाकर्ण्य जयेनोक्तं हे सुन्दरि ! मैवं ब्रूहि परस्त्री मम जननीसमानेति । ततस्तया जयस्योपसर्गे महति कृतेऽपि चित्तं न चालितं । ततो मायामुपसंहृत्य पूर्ववृत्तं कथयित्वा प्रशस्य वस्त्रादिभिः पूजयित्वा स्वर्गं गत इति पंचाणुव्रतस्य ॥ १८ ॥

एवं पंचानामहिंसादिव्रतानां प्रत्येकं गुणं प्रतिपाद्येदानीं तद्विपक्षभूतानां हिंसाद्युपेतानां दोषं दर्शयन्नाह;—

धनश्रीसत्यघोषौ च तापसारक्षकावपि ।
उपाख्येयास्तथा श्मश्रुनवनीतो यथक्रमम् ॥ १९ ॥

धनश्री श्रेष्ठिनी हिंसातो बहुप्रकारं दुःखफलमनुभूतं । सत्यघोषपुरोहितेनानृतात् । तापसेन चौर्यात् । आरक्षकेन कोट्टपालेन ब्रह्माणि वृत्त्यभावात् । ततोऽव्रतप्रभवदुःखानुभवने उपाख्येया दृष्टान्तत्वेन प्रतिपाद्याः । के ते । धनश्रीसत्यघोषौ च । न केवलं एता एव किन्तु तापसारक्षकावपि । तथा तेनैव प्रसिद्धप्रकारेण श्मश्रुनवनीतो वणिक्, यतस्तेनापि परिग्रहनिवृत्त्यभावतो बहुतरदुःखमनुभूतं । यथाक्रमं उक्तक्रमानतिक्रमेण हिंसादिविरत्यभावे एते उपाख्येयाः प्रतिपाद्याः । तत्र धनश्री हिंसातो बहुदुःखं प्राप्ता

अस्याः कथा ।

लाटदेशे भृगुकच्छपत्तने राजा लोकपालः । वणिग्धनपालो भार्या धनश्री मनागपि जीववधेऽविरता । तत्पुत्री सुन्दरी पुत्रो गुणपालः । अत्र काले धनश्रिया यः पुत्रबुद्ध्या कुण्डलो नाम बालकः पोषितः, धनपाले मृते तेन सह धनश्री कुकर्मरता जाता । गुणपले च गुणदोषपरिज्ञानके जाते धनश्रिया तच्छंकितया भणितः प्रसरे गोधनं चारयितुमटव्यां गुणपालं प्रेषयामि लग्नस्त्वं

तत्र मारय येनावयोर्निरंकुशमवस्थानं भवतीति ब्रुवाणां मातरमाकर्ण्य सुन्दर्या गुणपालस्य कथितं—अद्य रात्रौ गोधनं गृहीत्वा प्रसरे त्वामटव्यां प्रेषयित्वा कुण्डलहस्तेन माता मारयिष्यत्यतः सावधानो भवेस्त्वमिति । धनश्रिया च रात्रिपश्चिमप्रहरे गुणपालो भाणितो हे पुत्र कुंडलस्य शरीरं विरूपकं वर्तते अतः प्रसरे गोधनं गृहीत्वाद्य त्वं व्रजेति । स च गोधनमटव्यां नीत्वा काष्टं च वस्त्रेण पिधाय तिरोहितो भूत्वा स्थितः । कुण्डलेन चागत्य गुणपालोऽयमिति मत्वा वस्त्रप्रच्छादितकाष्टे घातः कृतो गुणपालेन च स खड्गेण हत्वा मारितः। गृहे आगतो गुणपालो धनश्रिया पृष्टः क्व रे कुण्डलः तेनोक्तं कुण्डलवार्तामियं खड्गोऽभिजानाति । ततो रक्तलिप्तं बाहुमालोक्य स तेनैव खड्गेन मारितः । तं च मारयन्तीं धनश्रियं दृष्ट्वा सुन्दर्या मुशलेन सा हता । कोलाहले जाते कोट्टपालै र्धनश्री र्धृत्वा राज्ञोऽग्रेनीता । राज्ञा च गर्दभारोहणे कर्णनासिकाछेदनादिनिग्रहे कारिते मृत्वा दुर्गतिं गतेति प्रथमाणुव्रतस्य ।

सत्यघोषोऽनृताद्बहुदुःखं प्राप्तः ।

इत्यस्य कथा ।

जंबूद्वीपे भरतक्षेत्रे सिंहपुरे राजा सिंहसेनो राज्ञी रामदत्तः, पुरोहितः श्रीभूतिः स ब्रह्मसूत्रे कर्तिकां बध्वा भ्रमति । वदति च यद्यसत्यं ब्रवीमि तदाऽनया कर्त्रिकया निजजिह्वाच्छेदं करोति (मि)। एवं कपटेन वर्तमानस्य तस्य सत्यघोष इति द्वितीयं नाम संजातः । लोकाश्च विश्वस्तास्तत्पार्श्वे द्रव्यं धरन्ति च । तद्द्रव्यं किंचित्तेषां समर्प्य स्वयं गृह्णाति । पूत्कर्तुं च बिभेति लोकः । न च पूत्कृतं राजा शृणोति । अथैकदा पद्मखण्डपुरादागत्य समुद्रदत्तो वणिपुत्रस्तत्र सत्यघोषपार्श्वेऽनर्घाणि पंच माणिक्यानि धृत्वा परतीरे द्रव्यमुपार्जयितुं गतः । तत्र च तदुपार्ज्य व्याघुटितः स्फुटितप्रवहण

एकफलेकनोत्तीर्य समुद्रं धृतमाणिक्यवांछया सिंहपुरे सत्यघोषसमीप- मायातः । तं च रंकसमानमागच्छन्तमालोक्य तन्माणिक्यहरणार्थिना सत्यघोषेण प्रत्ययपूरणार्थं समीपोपविष्टपुरुषाणां कथितं । अयं पुरुषः स्फुटितप्रवहणः ततो ग्रहिलो जातोऽत्रागत्य माणिक्यानि याचिष्यतीति । तेनागत्य प्रणम्य चोक्तं भो सत्यघोष पुरोहित ! ममार्थोपार्जनार्थं गतस्यो- पार्जनार्थस्य महानर्थोजात इति मत्वा यानि मया तव रत्नानि धर्तुं समर्पितानि तानीदानीं प्रसादं कृत्वा देहि । येनात्मानं स्फुटितप्रवहणात् गतद्रव्यं समुद्धरामि । तद्वचनमाकर्ण्य कपटेन सत्यघोषेण समीपो- पविष्टा जना भणिता मया प्रथमं यद् भणितं तद् भवतां सत्यं जातं । तैरुक्तं भवन्त एव जानन्त्ययं ग्रहिलोऽस्मात् स्थानान्निः- सार्यतामित्युक्त्वा तैः समुद्रदत्तो गृहान्निःसारितः ग्रहिल इति भयणमानः । पत्तने पूत्कारं कुर्वन् ममानर्घ्यपंचमाणिक्यानि सत्यघोषेण गृहीतानि तथा राजगृहसमीपे चिंचावृक्षमारुह्य पश्चिमरात्रे पूत्कारं कुर्वन् पण्मसान् स्थितः तां पूत्कृतिमाकर्ण्य रामदत्तया भणितः सिंहसेनः—देव ! नायं पुरुषः ग्रहिलः । राज्ञापि भणितं किं सत्यघोषस्य चौर्यं संभाव्यते ? । पुनरुक्तं राज्ञ्या देव ! संभाव्यते तस्य चौर्यं यतोऽ- यमेतादृशमेव सर्वदा वचनं ब्रवीति । एतदाकर्ण्य भणितं राज्ञा-यदि सत्यघोषस्यैतत् संभाव्यते तदा त्वं परीक्षयेति । लब्धादेशया रामदत्तया सत्यघोषो राजसेवार्थमागच्छन्नाकार्य पृष्टः—किं वृहद्वेलायामागतोऽसि ? तेनोक्तं—मम ब्राह्मणीभ्राताद्य प्राघूर्णकः समायातस्ते भोजयतो वृहद्वेला लग्नेति । पुनरप्युक्तं तया—क्षणमेकमत्रोपविश ममातिकौतुकं जातं । अक्षक्रीडां कुर्मः । राजापि तत्रैवागतस्तेनाप्येवं कुर्वित्युक्तं । ततोऽक्षद्यूते क्रीडया संजाते रामदत्तया निपुणमतिविलासिनी कर्णे लगित्वा भणिता सत्यघोषः पुरोहितो राज्ञीपार्श्वे तिष्ठति तेनाहं ग्रहिल-

माणिक्यानि याचितुं प्रेषितेति तद्ब्राह्मण्यग्रे भणित्वा तानि याचयित्वा च शीघ्रमागच्छेति । ततस्तया गत्वा याचितानि । तद्ब्राह्मण्या च पूर्वं सुतरां निषद्धया न दत्तानि । तद्विलासिन्या चागत्य देविकर्णे कथितं सा न ददातीति । ततो जितमुद्रिका तस्य साभिज्ञानं दत्ता पुनः प्रेपिता तथापि तया न दत्तानि । ततस्तस्य कर्त्रिका यज्ञोपवीतं जितं साभिज्ञानं दत्तं दर्शितं च । तया ब्राह्मण्या तद्दर्शनाद्दुष्टया भीतया च तया समर्पितानि माणिक्यानि ताद्विलासिन्याः । तया च रामदत्तायाः समर्पितानि । तया च राज्ञो दर्शितानि । तेन च वहुमाणिक्यमध्ये निक्षेप्याकार्य च ग्रहिलो भणितः रे निजमाणिक्यानि परिज्ञाय गृहाण । तेन च तथैव गृहीतेपु तेषु राज्ञा रामदत्तया च पुत्रः प्रतिपन्नः । ततो राज्ञा सत्यघोपः पृष्टः—इदं कर्म त्वया कृतमिति । तेनोक्तं देव ! न करोमि किं ममेदृशं कर्तुं युज्यते ? । ततोऽतिरुष्टेन तेन राज्ञा तस्य दण्डत्रयं कृतं । गोमयभृतं भाजनत्रयं भक्षय, मल्लमुष्टिघातं वा सहस्व, द्रव्यं वा सर्वं देहि । तेन च पर्यालोच्य गोमयं खादितुमारब्धं । तदशक्तेन मुष्टिघातः सहितुमारब्धः । तदशक्तेन द्रव्यं दातुमारब्धं । तदशक्तेन गोमयभक्षणं पुनर्मुष्टिघात इति । एवं दण्डत्रयमनुभूय मृत्वातिलोभवशाद्राजकीयभांडागारे अंगधनसर्पो जातः । तत्रापि मृत्वा दीर्घसंसारी जात इति द्वितीयव्रतस्य ।

तापसश्चौर्याद्बहुदुःखं प्राप्तः ।

इत्यस्य कथा ।

वत्स्यदेशे कौशाम्बीपुरी राजा सिंहरथो राज्ञी विजया । तत्रैकश्चौरः कौटिल्येन तापसो भूत्वा परभूमिमस्पृशदवलम्बमान शिक्यस्थो दिवसे पंचाग्निसाधनं करोति । तत्र च कौशांबीं मुपित्वा तिष्ठति । एकदा महाजनान्मुष्टं नगरमाकर्ण्य राज्ञा कोट्टपालो भणितो रे

सप्तरात्रमध्ये चौरं निजशिरो वाऽऽनय। ततश्चौरमलभमानश्चिन्तापरः तलारोऽपराह्ने बुभुक्षितब्राह्मणेन चैकदागत्य भोजनं प्रार्थितः। तेनोक्तं-हे ब्राह्मण! छन्दसोऽसि मम प्राणसन्देहो वर्तते त्वं च भोजनं प्रार्थयसे एतद्वचनमाकर्ण्य पृष्टं ब्राह्मणेन कुतस्ते प्राणसन्देहः?। कथितं च तेन। तदाकर्ण्य पुनः पृष्टं ब्राह्मणेन—अत्र किं कोऽप्यतिनिस्पृहपुरुषोऽप्यस्ति? उक्तं तलारेण—अस्ति विशिष्टतपस्वी, न च तस्यैतत् सम्भाव्यते। भणितं ब्राह्मणेन-स एव चौरो भविष्यति अतिनिस्पृहत्वात्। श्रूयतामत्र मदीयां कथां—मम ब्राह्मणी महासती परपुरुषशरीरं न स्पृशतीति निजपुत्रस्याप्यतिकुक्कुटात् कर्पटेन सर्वं शरीरं प्रच्छाद्य स्तनं ददाति। रात्रौ तु गृहपिण्डारेण सह कुकर्म करोति। तद्दर्शनात् संजातवैराग्याऽहं संबलार्थं सुवर्णशलाकां वंशयष्टिमध्ये निक्षिप्य तीर्थयात्रायां निर्गतः। अग्रे गच्छतश्च ममैकबटुको मिलितो न तस्य विश्वासं गच्छाम्यहं यष्टिरक्षां यत्नतः करोमि। तेनाऽऽकलितां यष्टिं संगे बिभर्मि। एकदा रात्रौ कुंभकारगृहे निद्रां कृत्वा दूराद्गत्वा तेन निजमस्तके लग्नं कुथिततृणमालोक्यातिकुक्कुटे ममाग्रतो, हा हा मया नोक्तं परतृणमदत्तं ग्रसितमित्युक्त्वा व्याघुट्य तृणं तत्रैव कुंभकारगृहे निक्षिप्य दिवसावसाने कृतभोजनस्य ममागत्य मिलितः। भिक्षार्थं गच्छतस्तस्यातिशुचिरयमिति मत्वा विश्वसितेन मया यष्टिः कुक्कुरादिवारणार्थं समर्पिता। तां गृहीत्वा स गतः (२)। ततो मया महाटव्यां गच्छतातिवृद्धपक्षिणोऽतिकुर्कुटं दृष्टं यथा एकस्मिन् महति वृक्षे मिलिताः पक्षिगणो रात्रावेकेनातिवृद्धपक्षिणा निजभाषया भणितो रे रे पुत्राः? अहं अतीव गन्तुं न शक्नोमि बुभुक्षितमनाः कदाचिद्भवत्पुत्राणां भक्षणं करोमि चित्तचापल्यादतो मम मुखं

१ शाम्बलार्थमिति ख, ग।

प्रभाते वध्वा सर्वेऽपि गच्छन्तु । तदुक्तं हा हा तात ! पितामहस्त्वं किं तवैतत् संभाव्यते ? तेनोक्तं—" वुभुक्षितः किं न करोति पापं " इति । एवं प्रभाते तस्य पुनर्वचनात् तन्मुखं वद्ध्वा गताः । स च वद्धो गतेषु चरणाभ्यां मुखाद्बन्धनं दूरीकृत्वा तद्बालकान् भक्षयित्वा तेषामागमन-समये पुनः चरणाभ्यां वन्धनं मुखे संयोज्यातिकुर्कुटेन क्षीणोदरो भूत्वा स्थितः (३) । ततो नगरगतेन चतुर्थमतिकुर्कुटं दृष्टं मया यथा तत्र नगरे एकश्चौरस्तपस्विरूपं धृत्वा वृहच्छिलां च मस्तकस्योपरि हस्ताभ्यामूर्ध्वं गृहीत्वा नगरमध्ये दिवा रात्रौ चातिकुर्कुटेनापसरपादं ददामीति भणन् भ्रमति । 'अपसरजीवेति' चासौ भक्तसर्वजनैर्भण्यते । स च गर्तादिविजनस्थाने दिगवलोकनं कृत्वा सुवर्णभूपितमेकाकिनं प्रणमन्तं तया शिलया मारयित्वा तद्रव्यं गृह्णाति (४) । इत्यातिकुर्कु-टचतुष्टयमालोक्य मया श्लोकोऽयं कृतः—

अबालस्पर्शका नारी ब्राह्मणस्तृणहिंसकः ।
वने काष्ठमुखः पक्षी पुरेऽपसरजीवकः ॥ इति

इति कथयित्वा तलारं धीरयित्वा सन्ध्यायां ब्राह्मणः शिक्यतपस्विसमीपं गत्वा तपस्विप्रतिचारकैर्निर्धार्य्यमाणोऽपि रात्र्यन्धो भूत्वा तत्र पतित्वैकदेशे स्थितः । ते च प्रतिचारकाः रात्र्यन्धपरीक्षणार्थं तृणकंडुकांगुल्यादिकं तस्याक्षिसमीपं नयन्ति । स च पश्यन्नपि न पश्यति । वृहद्रात्रौ गुहा-यामन्धकूपे नगरद्रव्यं ध्रियमाणमालोक्य तेषां खानपानादिकंचालोक्य प्रभाते राज्ञा मार्यमाणस्तलारोरक्षितः तेन रात्रिदृष्टमावेद्य संशिक्यतपस्वी चौरस्तेन तलारेण वहुकदर्थनादिभिः कदर्थ्यमानो मृत्वा दुर्गतिं गतस्तृती-यव्रतस्य ।

आरक्षिणाऽव्रह्मनिवृत्त्यभावाद्दुःखं प्राप्तम् ।

अस्य कथा ।

आभीरदेशे[1] नाशिकानगरे राजा कनकरथो राज्ञी कनकमाला, तलारो यमदण्डस्तस्य माता वहुसुन्दरी तरुणरण्डा पुंश्चली । सा एकदा वध्वा धर्तुं समर्पिताभरणं गृहीत्वा रात्रौ संकेतितजारपार्श्वे गच्छन्ता यमदण्डेन दृष्ट्वा सेविता चैकान्ते । तदाभरणं चानीय तेन निजभार्याया दत्तं । तया च दृष्ट्वा भणितं—मदीयमिदमाभरणं, मया-श्वश्रूहस्ते धृतं । तद्वचनमाकर्ण्य तेन चिन्तितं या मया सेविता सा मे जननी भविष्यति । ततस्तस्या जारसंकेतगृहं गत्वा तां सेवित्वा तस्यामासक्तो गूढवृत्त्या तया सह कुकर्मरतःस्थितः । एकदा तद्भार्यया असहनादिति रुष्टया रजक्या कथितं । मम भर्ता निजमात्रा सह तिष्ठति । रजक्या च मालकारिण्याः कथितं । अतिविश्वस्ता मालाकारिणी च कनकमाला राज्ञीनिमित्तं पुष्पाणि गृहीत्वा गता । तया च पृष्टा सा कुतूहलेन, जानासि हे काप्यपूर्वा वार्ता । तया तलारद्विष्टतया कथितं राज्ञ्यः[2] देवि ? यमदण्डतलारो निजजनन्या सह तिष्ठति । कनकमालया च राज्ञः कथितं । राज्ञा गूढपुरुषद्वारेण तस्य कुकर्म निश्चित्य तलारो गृहीतो दुर्गतिं गतः चतुर्थव्रतस्य ।

परिग्रहनिवृत्यभावात् श्मश्रुनवनीतेन बहुतरं दुःखं प्राप्तं ।

अस्य कथा ।

अस्त्ययोध्यायां श्रेष्ठी भवदत्तो भार्या धनदत्ता पुत्रो लुब्धदत्तः वाणिज्येन दूरं गतः । तत्र स्वमुपार्जितं तस्य चौरैर्नीतं । ततोऽतिनिर्धनेन तेन मार्गे आगच्छता तत्रैकदा गोदुहः तक्रं पातुं याचितं । तक्रे पीते स्तोकं नवनीतं कूर्चेलग्नमालोक्य गृहीत्वा चिन्तितं तेन वाणिज्यं भविष्यत्यनेन मे, एवं च तत्संचितं तत् स्वस्य श्मश्रुनवनीत इति नाम जातं । एवमेकदा प्रस्थप्रमाणे घृते जाते घृतस्य भाजनं पादान्ते

१ अहीरदेशे ख, ग । २ गोकुले. ख. ग. घ ।

धृत्वा शीतकाले तृणकुटीरकद्वारे अग्निं च पादान्ते कृत्वा रात्रौ संस्तरे पतितः संचिन्तयति अनेन घृतेन वहुतरमर्थमुमार्ज्य सार्थवाहो भूत्वा सामन्तमहासामन्तराजाधिराजपदं प्राप्य क्रमेण सकलचक्रवर्ती भविष्यामि यदा तदा च मे सप्ततलप्रसादे शय्यागतस्य पादान्ते समुपविष्टं स्त्रीरत्नं पादौ मुग्ध्या ग्रहीष्यति न जानासि पादमर्दनं कर्तुमिति स्नेहेन भाणित्वा स्त्रीरत्नमेवं पादेन ताडयिष्यामि एवं चिन्तयित्वा तेन चक्रवर्तिरूपाविष्टेन पादेन हत्वा पातितं तद्घृतभाजनं तेन च घृतेन द्वारसंधुक्षितोऽग्निः सुतरां प्रज्वालितः । ततो द्वारे ज्वलिते निसर्तुमशक्तो दग्धो मृतो दुर्गतिं गतः । इच्छाप्रमाणरहितपंचमव्रतस्य ॥ १८ ॥

यानि चेमानि पंचाणुव्रतान्युक्तानि मद्यादित्रयत्यागसमन्वितान्यष्टौ मूलगुणा भवन्तीत्याहः—

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम् ।
अष्टौमूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥ २० ॥

गृहिणामष्टौ मूलगुणानाहुः । के ते ? श्रवणोत्तमा जिनाः । किं तत् ? अणुव्रतपंचकं । कैः सह ? 'मद्यमांसमधुत्यागैः' मद्यं च मासं च मधु च तेषां त्यागास्तैः ॥ २० ॥

एवं पंचप्रकारमणुव्रतं प्रतिपाद्येदानीं त्रिःप्रकारं गुणव्रतं प्रतिपादयन्नाहः—

दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम् ।
अनुबृंहणाद्गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यायाः ॥ २१

"आख्यान्ति" प्रतिपादयन्ति । कानि ? "गुणव्रतानि" । के ते ? "आर्याः" गुणैर्गुणवाद्भि र्वाआर्यन्ते प्राप्यन्त इत्यार्यास्तीर्थकरदेवादयः । किं तद्गुणव्रतं ? "दिग्व्रतं" दिग्विरतिं । न केवलमेतदेव किन्तु "अनर्थद-

१ भृत्वा. ग. ।

ण्डव्रतं" चानर्थदण्डविरतिं । तथा "भोगोपभोगपरिमाणं" सकृद्भुज्यत इति भोगोऽशनयानगन्धमाल्यादिः पुनः पुनरुपभुज्यत इत्युपभोगो वस्त्राभरणयानजंपानादिस्तयोः परिमाणं कालनियमनं यावज्जीवनंवा । एतानि त्रीणि कस्माद्गुणव्रतान्युच्यन्ते "अनुवृंहणात" वृद्धिनयनात् । केषां "गुणानाम्, अष्टमूलगुणानाम्" ॥ २१ ॥

तत्र दिग्व्रतस्वरूपं प्ररूपयन्नाह;—

दिग्वलयं परिगणितं कृत्वातोऽहं वहिर्न यास्यमि ।
इति सङ्कल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै ॥ २२ ॥

'दिग्व्रतं' भवति । कोऽसौ ? 'संकल्पः' । कथंभूतः ? 'अहं वहिर्न यास्यामी'त्येवं रूपः । किं कृत्वा ? 'दिग्वलयं परिगणितं कृत्वा' समर्यादं कृत्वा । कथं ? 'आमृति' मरणपर्यन्तं यावत् । किमर्थं ? 'अणुपापविनिवृत्यै' सूक्ष्मस्यापि पापस्य विनिवृत्यर्थम् ॥ २२ ॥

तत्र दिग्वलयस्य परिगणितत्वे कानि मर्यादा इत्याहः—

मकराकरसरिदटवीगिरिजनपदयोजनानि मर्य्यादाः ।
प्राहुर्दिशां दशानां प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि ॥ २३ ॥

प्राहुर्मयादाः । कानीत्याह—'मकराकरे'त्यादि मकराकरश्च समुद्रः, सरितश्च नद्यो गंगाद्याः, अटवी दंडकारण्यादिका, गिरिश्च पर्वतः सह्यविन्ध्यादिः, जनपदो देशो वराट वापीतटादिः, योजनानि विंशतित्रिंशतादिसंख्यानि । किं विशिष्टान्येतानि ? प्रसिद्धानि दिग्विरतिमर्यादानां दातुर्गृहीतुश्च प्रसिद्धानि । कासां मर्यादाः ? दिशां । कतिसंख्यावच्छिन्नानां दशानां । कस्मिन् कर्तव्ये सति मर्यादाः ? प्रतिसंहारे इतः परतो न यास्यामीति व्यावृतौ ॥ २३ ॥

एवं दिग्विरतिव्रतं धारयतां मर्यादातः परतः किं भवतीत्याहः—

---

१ स्त्रीजनोपसेवनादि ख. । २ जम्पत्यादीति लक्ष्यते ।

अवधेर्बहिरणुपापप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम्।
पञ्चमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥ २४॥

अणुव्रतानि प्रपद्यन्ते। कां? पंचमहाव्रतपरिणतिं। केषां। धारयतां। कानि? दिग्व्रतानि। कुतस्तत्परिणतिं प्रपद्यन्ते? अनुपापं प्रति विरतेः सूक्ष्ममतिपापं प्रति विरतेः व्यावृत्तेः। क्व? वहिः। कस्मात्? अवधेः कृतमर्यादायाः ॥ २४ ॥

तथा तेषां तत्परिणतावपरमपि हेतुमाह:—

प्रत्याख्यानतनुत्वान्मन्दतराश्चरणमोहपरिणामाः।
सत्त्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ॥ २५॥

'चरणमोहपरिणामा' भावरूपाश्चारित्रमोहपरिणतयः। 'कल्प्यन्ते' उपचर्यन्ते। किमर्थं? महाव्रतनिमित्तं। कथंभूताः सन्तः? 'सत्वेन' 'दुरवधारा' अस्तित्वेन महता कष्टेनावधार्यमाणाः सन्तोऽपि तेऽस्तित्वेन लक्षयितुं न शक्यन्त इत्यर्थः। कुतस्ते दुरवधाराः? 'मन्दतरा' अतिशयेनानुत्कटाः। मन्दतरत्वमप्येषां कुतः! 'प्रत्याख्यानतनुत्वात्' प्रत्याख्यानशब्देन प्रत्याख्यानावरणाः। द्रव्यक्रोधमानमायालोभा गृह्यन्ते नामैकदेशे हि प्रवृत्ताः शब्दा नाम्न्यपि वर्तन्ते भीमादिवत्। प्रत्याख्यान हिंसाविल्पेन हिंसादिविरतिलक्षणः संयमस्तदावृण्वन्ति ये ते प्रत्याख्यानावरणा द्रव्यक्रोधादयः, यदुदये ह्यात्मा कार्त्स्न्यात्तद्विरतिं कर्तुं न शक्नोति अतो द्रव्यरूपादीनां क्रोधादीनां तनुत्वान्मन्दोदयत्वाद्भावरूपाणां मन्दतरत्वं सिद्धं

ननु कुतस्ते महाव्रताय कल्प्यन्ते ततः साक्षान्महाव्रतरूपा भवन्तीत्याह:—

पञ्चनां पापानां हिंसादीनां मनोवचःकायैः।
कृतकारितानुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महताम् ॥ २६ ॥

"त्यागस्तु" पुनर्महाव्रतं भवति। केषां त्यागः "हिंसादीनां" "पंचानां"। कथंभूतानां "पापानां" पापोपार्जनहेतुभूतानां। कैस्तेषां त्यागः "मनोवचःकायैः। तैरपि कैः कृत्वा त्यागः "कृतकारितानुमोदैः। अयमर्थः—हिंसादीनां मनसा कृतकारितानुमोदैस्त्यागः। तथा वचसा कायेन चेति। केषां तैस्त्यागो महाव्रतं "महतां" प्रमत्तादिगुणस्थानवर्तिनां विशिष्टात्मनान्॥ २६॥

इदानीं दिग्विरतिव्रतस्यातिचारानाहः—

ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्रवृद्धिरवधीनाम्।
विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः पञ्चमन्यन्ते॥ २७॥

"दिग्विरतेरत्याशा" अतीचाराः "पंच मन्यन्तेऽभ्युपगम्यन्ते। तथा हि। अज्ञानात् प्रमादाद्वा ऊर्ध्वदिशोऽधस्ताद्दिशस्तिर्यग्दिशश्च व्यतीपाता विशेषेणातिक्रमणानि त्रयः। तथाऽज्ञानात् प्रमादाद्वा 'क्षेत्रवृद्धिः' क्षेत्राधिक्यावधारणं। तथाऽ'वधीनां' दिग्विरतेः कृतमर्यादानां 'विस्मरण मिति॥ २७॥

इदानीमनर्थदण्डद्वितीयं विरतिलक्षणं गुणव्रतं व्याख्यातुमाह;—

अभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थिकेभ्यः सपापयोगेभ्यः।
विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रतधराग्रण्यः॥ २८॥

'अनर्थदण्डव्रतं विदु'र्जानन्ति। के ते? 'व्रतधराग्रण्यः' व्रतधराणां यतीनां मध्येऽग्रण्यः प्रधानभूतास्तीर्थकरदेवादयः। 'विरमणं' व्यावृत्तिः। केभ्यः? 'सपापयोगेभ्यः' पापेन सह योगः सम्बन्धः पापयोगस्तेन सह वर्तमानेभ्यः पापोपदेशाद्यनर्थदण्डेभ्यः किं विशिष्टेभ्यः? 'अपार्थिकेभ्यः' निष्प्रयोजनेभ्यः। कथं तेभ्यो विरमणं? 'अभ्यन्तरं दिगवधेः' दिगवधेरभ्यन्तरं यथा भवत्येवं तेभ्यो विरमणं। अतएव दिग्विरतिव्रतादस्य

१ इदानीं द्वितीयमनर्थदण्डव्रतं इति ख.

भेदः । तद्व्रते हि मर्यादातो वहिः पापोपदेशादिविरमणं अनर्थदण्डविरतिव्रते तु ततोऽभ्यन्तरेतद्विरमणं अथ के ते अनर्थ दण्डा यतो विरमणं स्यादित्याह

पा[1]पोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतीःपञ्च ।
प्राहुः प्रमादचर्य्यामनर्थदण्डानदण्डधराः ॥ २९ ॥

दंडा इव दण्डा अशुभमनोवाक्कायाः परपीडाकरत्वात्, तान्न धरन्तीत्यदण्डधरा गणधरदेवादयस्ते प्राहुः । कान् ? अनर्थदण्डान् । कति ? पंच । कथमित्याह पापेत्यादि । पापोपदेशश्च हिंसादानं च अपध्यानं च दुःश्रतिश्च एताश्चतस्रः प्रमादचर्या चेति पंचमी ॥ २९ ॥

तत्र पापोपदेशस्य तावत् स्वरूपं प्ररूपयन्नाहः—

तिर्य्यक्क्लेशवणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम् ।
कथाप्रसङ्गप्रसवः स्मर्त्तव्यः पाप उपदेशः ॥ ३० ॥

स्मर्तव्यो ज्ञातव्यः । कः ? पापोपदेशः पापः पापोपार्जनहेतुरुपदेशः कथंभूतः ? कथाप्रसंगः कथानां तिर्यक्क्लेशादिवार्तानां प्रसंगः पुनः पुनः प्रवृत्तिः । किं विशिष्टः ? प्रसवः प्रसूत इति प्रभवः उत्पादकः । केषामित्याह—तिर्यगित्यादि तिर्यक्क्लेशश्च हस्तिदमनादिः, वाणिज्या च वणिजां कर्म क्रयविक्रयादि, हिंसा च प्राणिवधः, आरंभश्च कृष्यादिः,

---

१ अनर्थदण्डः पंचधाऽपध्यानपापोदेशप्रमादाचरितहिंसाप्रदानाशुभश्रुतिभेदात् ॥ क्लेशतिर्यग्वणिज्यावधकारंभकादिषु पापसंयुतं वचनं पापोपदेशः ॥ तद्यथा-अस्मिन् देशे दासा दास्यः सुलभास्तानमुं देशं नीत्वा विक्रयकृते महानर्थलाभो भवतीति क्लेशवणिज्या । गोमहिष्यादीनमुत्र गृहीत्वाऽन्यत्र देशे व्यवहारे कृते भूरिवित्तलाभ इति तिर्यग्वणिज्या । वागुरिकसौकरिकशाकुनिकादिभ्यो मृगवराह-शकुन्तप्रभृतयोऽमुष्मिन् देशे सन्तीति वचनं वधकोपदेशः । आरंभकेभ्यः कृषीवलादिभ्यः क्षित्युदकज्वलनपवनवनस्पत्यारंभोऽनेनोपायेन कर्तव्य इत्याख्यानमारंभकोपदेशः । इत्येवं प्रकारं पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः ।

प्रलम्भनं च वंचनं तानि आदिर्येषां मनुष्यक्लेशादीनां तानि तथोक्तानि तेषाम् ॥ ३० ॥

अथ हिंसादानं किमित्याह;—

परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधश्रृङ्गिश्रृंखलादीनाम् ।
वधहेतूनां दानं हिंसादानंब्रुवन्ति बुधाः ॥ ३१ ॥

'हिंसादानं ब्रुवन्ति' । के ते ? 'बुधा' गणधरदेवादयः । किं तत् ? 'दानं' । यत्केषां ? 'वधहेतूनां' हिंसाकारणानां । केषां तत्कारणानामित्याह—'परशि'त्यादि । परशुश्च कृपाणश्च खनित्रं च ज्वलनश्चाऽऽयुधानि च क्षुरिकालकुटादीनि श्रृंगि च विषं सामान्यं श्रृंखला च ता आदयो येषां ते तथोक्तास्तेषाम् ॥ ३१ ॥

इदानीमपध्यानस्वरूपं व्याख्यातुमाह;—

वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः ।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥ ३२ ॥

'अपध्यानं शासति' प्रतिपादयन्ति । के ते ? 'विशदा' विचक्षणाः । क ? 'जिनशासने' । किं तत् ? 'आध्यानं' चिन्तनं । कस्य ? 'वधबंधच्छेदादेः' । कस्मात् ? 'द्वेषात्' । न केवलं द्वेषादपि 'रागाद्वा'ध्यानं । कस्य ? 'परकलत्रादेः' ॥ ३२ ॥

साम्प्रतं दुःश्रुतिस्वरूपं प्ररूपयन्नाह;—

आरम्भसङ्गसाहसमिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनैः ।
चेतःकलुषयतां श्रुतिवरधीनां दुःश्रुतिर्भवति ॥ ३३ ॥

---

१ विषशस्त्राग्निरज्जुकशादण्डादिहिंसोपकरणप्रदानं हिंसाप्रदानमित्युच्यते ॥ परेषां जयपराजयवधाऽङ्गच्छेदस्वहरणादि कथं स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानं ॥ हिंसारागादिप्रवर्धितदुष्टकथाश्रवणशिक्षणव्यापृतिरशुभश्रुतिरित्याख्यायते ॥

'दुःश्रुतिर्भवति'। कासौ 'श्रुतिः श्रवणं। केषां 'अवधीनां' शास्त्राणां किं कुर्वतां 'कलुषयतां' मलिनयतां। किं तत् 'चेतः' क्रोधमानमायालोभाविष्टं चित्तं कुर्वतामित्यर्थः। कैः कृत्वेत्याह—'आरंभेत्यादि आरंभश्च कृष्यादिः संगश्च परिग्रहः तयोः प्रतिपादनं वार्ता नीतौ विधीयते "कृषिः पशुपाल्यं वाणिज्यं च वार्ता" इत्यभिधानात्, साहसं चात्यद्भुतं कर्म वीरकथायां प्रतिपाद्यते, मिथ्यात्वं चाद्वैतक्षणिकमित्यादिप्रमाणविरुद्धार्थप्रतिपादकशास्त्रेण क्रियते, द्वेषश्च विद्वेषीकरणादिशास्त्रेणाभिधीयते-रागश्च वशीकरणादिशास्त्रेण विधीयते, मदश्च वर्णानां ब्राह्मणो गुरुरित्यादिग्रन्थाज्ज्ञायते, मदनश्च रतिगुणविलासपताकादिशास्त्रादुत्कृष्टो भवति तैः एतैः कृत्वा चेतः कलुषयतां शास्त्राणां श्रुतिर्दुःश्रुति र्भवति॥ ३३॥

अधुना प्रमादचर्यास्वरूपं निरूपयन्नाह;—

क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदं।
सरणं सारणमपि च प्रमादचर्यां प्रभापन्ते॥ ३४॥

'प्रभापन्ते' प्रतिपादयन्ति। कां? 'प्रमादचर्यां। किं तदित्याह 'क्षितीत्यादि। क्षितिश्च सलिलं च दहनश्च तेषामरंभं क्षितिखननसलिलप्रक्षेपण-दहनप्रज्वालन-पवनकरणलक्षणं। किं विशिष्टं? 'विफलं' निष्प्रयोजनं। तथा 'वनस्पतिच्छेदं' विफलं। न केवलमेतदेव किन्तु, 'सरणं' 'सारणमपिच' सरणं स्वयं निष्प्रयोजनं पर्यटनं सारणमन्यं निष्प्रयोजनं गमनप्रेरणं॥ ३४॥

एवमनर्थदण्डविरतिव्रतं प्रतिपाद्येदानीं तस्यातीचारानाह,—

कन्दर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनं पञ्च।
असमीक्ष्य चाधिकरणं व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्विरतेः॥ ३५॥

१ प्रयोजनमन्तरेणापि वृक्षादिच्छेदन-भूमिकुट्टन-सलिलसेचनवधकर्म प्रमादचरितमिति कथ्यते॥

व्यतीतयोऽतीचारा भवन्ति । कस्य ? अनर्थदण्डकृद्विरतेः अनर्थं निष्प्रयोजनं दण्डं दोषं कुर्वन्तीत्यनर्थदंडकृतः पापोपदेशादयस्तेषांविरतिर्यस्य तस्य । कति ? पंच । कथमित्याह-कन्दर्पेत्यादि रागोद्रेकात्प्रहासमिश्रो भण्डिमाप्रधानो वचनप्रयोगः कंदर्पः, प्रहासो भंडिमावचनं भंडिमोपेतकायव्यापारप्रयुक्तं कौतुकुच्यं, धाष्टर्यप्रायं बहुप्रलापितत्वं मौखर्यं, यावतार्थेनोपभोगोपरिभोगौ भवतस्ततोऽधिकस्य करणमतिप्रसाधनमेतानि चत्वारि, असमीक्ष्याधिकरणं पंचमं असमीक्ष्य प्रयोजनमपर्यालोच्य आधिक्येन कार्यस्य करणमसमीक्ष्याधिकरणं ॥ ३५ ॥

साम्प्रतं भोगोपभोगपरिमाणलक्षणं गुणव्रतमाख्यातुमाह;—

अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम् ।
अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये ॥ ३६ ॥

'भोगोपभोगपरिमाणं' भवति । किं तत् ? 'यत्परिसंख्यानं' परिगणनं । केषां ? 'अक्षार्थाना'मिन्द्रियविषयाणां । कथंभूतानामपि तेषां ? 'अर्थवतामपि' सुखादिलक्षणप्रयोजनसंपादकानामपि अथवाऽर्थवतां सग्रन्थानामपि श्रावकाणां । तेषां परिसंख्यानं किमर्थं ? 'तनूकृतये' कृशतरत्वकरणार्थं । कासां ? 'रागरतीनां' रागेण विषयेषु रागोद्रेकेण रतयः आसक्तयस्तासां । कस्मिन् सति ? अवधौ विषयपरिमाणे ॥ ३६ ॥

अथ को भोगः कश्चोपभोगो यत्परिमाणं क्रियते इत्याशंक्याह;—

भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः ।
उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिः पञ्चेन्द्रियो विषयः ॥३७॥

---

१ भोगसंख्यानं पंचविधं त्रसघातप्रमादबहुवधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात् । २ मधुमांसं सदा परिहर्तव्यं त्रसघातं प्रति निवृत्तचेतसा । ३ मद्यमुपसेव्यमानं कार्याकार्यविवेकसंमोहकरमिति तद्वर्जनं प्रमादविरहाय अनुष्ठेयं ।

'पंचेन्द्रियाणामयं' पंचेन्द्रिणां विषयः। 'मुक्त्वा' परिहातव्य,स्ताज्यः स भोगोऽशनपुष्पगंधविलेपनप्रभृतिः। यः पूर्वं भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः स उपभोगो वसनाभरणप्रभृति वसनं वस्त्रम् ॥ ३७ ॥

मद्यादिभोगरूपोऽपि त्रसजन्तुवधहेतुत्वादणुव्रतधारिभिस्त्याज्य इत्याहः—

त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये ।
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥ ३८

वर्जनीयं। किं तत् ? 'क्षौद्रं' मधु । तथा 'पिशितं' । किमर्थं ? 'त्रसहतिपरिहरणार्थं त्रसानां द्वीन्द्रियादीनां हतिर्वध'स्तत्परिहरणार्थं। तथा 'मद्यं च' वर्जनीयं। किमर्थं ? 'प्रमादपरिहृतये' माता भार्येति विवेकाभावः प्रमादस्य परिहृतये परिहारार्थं । कैरेतद्वर्जनीयं ? शरणमुपयातैः शरणमुपगतैः। कौ ? जिनचरणौ श्रावकैस्तत्याज्यमित्यर्थः ॥ ३८ ॥

तथैतदपि तैस्त्याज्यमित्याह,—

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि ।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥ ३९ ॥

'अवहेयं' त्याज्यं। किं तत् ? 'मूलकं'। तथा 'शृंगवेराणि' आर्द्रकाणि। किं विशिष्टानि ? 'आर्द्राणि' अपक्वानि। तथा नवनीतनिम्बकुसुममित्युपलक्षणं सकलकुसुमविशेषाणां तेषां कैतकं केतक्या इदं कैतकं गुधरा इत्येवं, इत्यादि सर्वमवहेयं कस्मात् 'अल्पफलबहुविघातात्' अल्पं फलं यस्यासावल्पफलः बहूनां त्रसजीवानां विघातो विनाशो बहुविघातः अल्पफलश्चासौ विघातश्च तस्मात् ॥ ३९ ॥

प्रासुकमपि यदेवंविधं तत्त्याज्यमित्याह;—

१ केतक्यर्जुनपुष्पादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानानि शृङ्गवेरमूलकहरिद्रानिम्बकुसुमादीन्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि एतेषामुपसेवने बहुघातोऽल्पफलमिति तत्परिहारः श्रेयान् ।

यदनिष्टं तदव्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात् ।
अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति ॥४०॥

'यदनिष्टं' उदरशूलादिहेतुतया प्रकृतिसात्म्यकं यन्न भवति 'तद्व्रतयेत्' व्रतं निवृत्तिं कुर्यात् त्यजेदित्यर्थः । न केवलमेतदेव व्रतयेदपितु 'यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्' यच्च यदपि गोमूत्र-करभदुग्ध-शंखचूर्ण-ताम्बूलोद्गल-लाला-मूत्र-पुरीष-श्लेष्मादिकमनुपसेव्यं प्रासुकमपि शिष्टलोकानां स्वादनायोग्यं एतदपि जह्यात् व्रतं कुर्यात् । कुत एतदित्याह—अभिसन्धीत्यादि अनिष्टया अनुपसेव्यतया च व्यावृत्तेर्योग्याद्विषयादभिसन्धिकृताऽभिप्रायपूर्विका या विरतिः सा यतो व्रतं भवति ॥ ४० ॥

तच्च द्विधा भिद्यत इतिः—

नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारे ।
नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥ ४१ ॥

भोगोपभोगसंहारात् भोगोपभोगयोः संहारात् परिमाणात् तमाश्रित्य । द्वेधा विहितौ द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां द्वेधा व्यवस्थापितौ । कौ? नियमो यमश्चेत्येतौ । तत्र को नियमः कश्च यम इत्याह—नियमः परिमितकालो वक्ष्यमाणः परिमितः कालो यस्य भोगोपभोगसंहारस्य स नियमः । यमश्च यावज्जीवं ध्रियते ।

तत्संहारलक्षणनियमं दर्शयन्नाह:—

भोजनवाहनशयनस्नानपवित्राङ्गरागकुसुमेषु ।
ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसंगीतगीतेषु ॥ ४२ ॥

१ शातवाहनाभरणादिषु एतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्तव्यं ।
२ न ह्यसति अभिसन्धिनियमे व्रतमितीष्टानामपि चित्रवस्त्रविकृतवेशाभरणादीनामनुपसेव्यानां परित्यागः कार्यः ।

अद्य दिवा रजनी वा पक्षो मासस्तथर्त्तुरयनं वा।
इति कालपरिच्छित्त्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः ॥ ४३ ॥

युगलं। नियमो भवेत्। किंतत्? प्रत्याख्यानं। कया? कालपरिच्छित्या। तामेव कालपरिच्छित्तिं दर्शयन्नाह—अद्येत्यादि अद्येति प्रवर्तमानघटिकाप्रहरादिलक्षणकालपरिच्छित्या प्रत्याख्यानं। तथा दिवेति। रजनि रात्रिरिति वा। पक्ष इति वा। मास इति वा। ऋतुरिति वा मासद्वयं। अयनमिति वा पण्मासा। इत्येवं कालपरिच्छित्या प्रत्याख्यानं। केष्वित्याह—भोजनेत्यादि भोजनं च, वाहनं च घोटकादि, शयनं च पल्यङ्कादि, स्नानं च, पवित्राङ्गरागश्च पवित्रश्चासावङ्गरागश्च कुंकुमादिविलेपनं। उपलक्षणमेतदञ्जनतिलकादीनां पवित्रविशेपणाद्दोपापनयनार्थमौषधाद्यङ्गरागो निरस्तः। कुसुमानि च तेपु विषयभूतेपु। तथा ताम्बूलं च वसनं च वस्त्रं भूषणं च कटकादि मन्मथश्च कामसेवा संगीतं च गीतनृत्यवादित्रत्रयं गीतं च केवलं नृत्यवाद्यरहितं तेपु च विषयेपु अद्येत्यादिरूपं कालपरिच्छित्या यत्प्रत्याख्यानं स नियम इति व्याख्यातम् ॥ ४२—४३ ॥

भोगोपभोगपरिमाणस्येदानीमतीचारानाहः—

विपयविपतोऽनुपेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमति-
तृपाऽनुभवो। भोगोपभोगपरिमा व्यतिक्रमा
पञ्च कथ्यन्ते ॥ ४४ ॥

भोगोपभोगपरिमाणं तस्य व्यतिक्रमा अतीचारा पंच कथ्यन्ते। के ते इत्याह विपयेत्यादि विपय एव विपं प्राणिनां दाहसंतापादिविधायित्वात् तेपु ततोऽनुपेक्षा उपेक्षायास्त्यागस्याभावोऽनुपेक्षा आदर इत्यर्थः। विपयवेदना प्रतिकारार्थो हि विपयानुभवस्तस्मात्तत्प्रतीकारे जातेऽपि पुनर्यत्संभापणालिंगनाद्यादर सोऽत्यासक्तिजनकत्वादतीचारः। अनुस्मृ-

तिस्तदनुभवात्प्रतीकारे जातेऽपि पुनर्विषयाणां सौंद (क) र्यसुखसाधनत्वादनुकरणमत्यासक्तिहेतुत्वादतीचारः। अतिलौल्यमतिगृद्धिस्तत्प्रतीकार जातेऽपि पुनः पुनस्तदनुभवाकांक्षेत्यर्थः। अतितृषा भाविभोगोपभोगादेरतिगृद्ध्या प्राप्त्याकांक्षा। अत्यनुभवो नियतकालेऽपि यदा भोगोपभोगोऽनुभवति तदाऽत्यासक्त्यानुभवति न पुनर्वेदनाप्रतीकारतयाऽतोऽतीचारः ॥ ४४ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामि-
विरचितोपासकाध्ययनटीकायां
तृतीयः परिच्छेदः ॥ ३ ॥

शिक्षाव्रताधिकारश्चतुर्थः ।



साम्प्रतं शिक्षाव्रतस्वरूपप्ररूपणार्थमाह:—

देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोपधोपवासो वा ।
वैयावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि ॥ १ ॥

शिष्टानि प्रतिपादितानि । कानि ? शिक्षाव्रतानि । कति ? चत्वारि कस्मात् ? देशावकाशिकमित्यादिचतुःप्रकारसद्भावात् । वाशब्दोऽत्र परस्परप्रकारसमुच्चये । देशावकाशिकादीनां लक्षणं स्वयमेवाग्रे ग्रन्थकारः करिष्यति ॥ १ ॥

तत्र देशावकाशिकस्य तावल्लक्षणं:—

देशावकाशिकं स्यात्कालपरिच्छेदनेन देशस्य ।
प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य ॥ २ ॥

देशावकाशिकं देशे मर्यादीकृतदेशमध्येऽपि स्तोकप्रदेशेऽवकाशो नियतकालमतस्थानं सोऽस्यास्तीति देशावकाशिकं शिक्षाव्रतं स्यात् । कोऽसौ ? प्रतिसंहारो व्यावृत्तिः । कस्य ? देशस्य । कथंभूतस्य ? विशालस्य वहोः । केन ? कालपरिच्छेदनेन दिवसादिकालमर्यादा । कथं ? प्रत्यहं प्रतिदिनं । केषां ? अणुव्रतानां अणूनि सूक्ष्माणि व्रतानि येषां तेषां श्रावकाणामित्यर्थः ॥ २ ॥

अथ देशावकाशिकस्य का मर्यादा इत्याह;—

गृहहारिग्रामाणां क्षेत्रनदीदावयोजनानां च ।
देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीमा तपोवृद्धाः ॥ ३ ॥

तपोवृद्धाश्चिरन्तनाचार्या गणधरदेवादयः। सीम्नां स्मरन्ति मर्यादाः प्रतिपाद्यन्ते। सीम्नामित्यत्र "स्मृत्यर्थदयीशां कर्म" इत्यनेन षष्ठी। केषां सीमाभूतानां ? गृहहारिग्रामाणां हारिः कटकं। तथा क्षेत्रनदीदावयोजनानां च दावो वनं। कस्यैतेषां सीमाभूतानां देशावकाशिकस्य देशनिवृत्तिव्रतस्य।

एवं द्रव्यावधिं योजनावधिं प्रतिपादयन्नाह:—

संवत्सरमृतुरयनं मासचतुर्मासपक्षमृक्षं च।
देशावकाशिकस्य प्राहुः कालावधिं प्राज्ञाः॥ ४॥

देशावकाशिकस्य कालावधिं कालमर्यादं प्राहुः। प्राज्ञः गणधरदेवादयः। किं तदित्याह संवत्सरमित्यादि संवत्सरं यावदेतावत्येव देशे मयाऽवस्थातव्यं। तथा ऋतुरयनं वा यावत्। तथा मासचतुर्मासपक्षं यावत्। ऋक्षं च चन्द्रमुक्त्या आदित्यमुक्त्या वा इदं नक्षत्रं यावत्

एवं देशावकाशिकव्रते कृते सति ततः परतः किं स्यादित्याहः—

सीमन्तानां परतः स्थूलेतरपञ्चपापसंत्यागात्।
देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते॥ ५॥

प्रसाध्यन्ते व्यवस्थाप्यन्ते। कानि ? महाव्रतानि। केन ? देशावकाशिकेन च न केवलं दिग्विरत्यापि देशावकाशिकेनापि। कुतः ? स्थूलेतरपंचपापसंत्यागात् स्थूलेतराणि च तानि हिंसादिलक्षणपंचपापानि च तेषां सम्यक् त्यागं। क ? सीमान्तानां परतः देशावकशिकव्रतस्य सीमाभूता ये 'अन्ताधर्मा'गृहादयः संवत्सरादिविशेषाः तेषां वा अन्ताः पर्यन्तास्तेषां परतः यस्मिन् भागे इदानीं तदतिचारान् दर्शयन्नाहः—

प्रेषणशब्दानयनं रूपाभिव्यक्तिपुद्गलक्षेपौ।
देशावकाशिकस्य व्यपदिश्यन्तेऽत्ययाः पञ्च॥ ६॥

अत्यया अतिचाराः। पंच व्यपदिश्यन्ते कथ्यन्ते। के ते इत्याह— प्रेपणेत्यादि मर्यादीकृते देशे स्वयं स्थितस्य ततो वहिरिदं कुर्विति विनियोगः प्रेपणं। मर्यादीकृतदेशाद्वहिर्व्यापारं कुर्वतः कर्मकरान् प्रति खातकरणादिः शब्दः। तद्देशाद्वहिः प्रयोजनवशादिदमानयेत्याज्ञापनमानयनं। मर्यादीकृतदेशे स्थितस्य वहिर्देशे कर्म कुवतां कर्मकरणां स्वविग्रहप्रदर्शनं रूपाभिव्यक्तिः। तेपामेव लोष्टादिनिपातः पुद्गलक्षेपः॥६॥

एवं देशावकाशिकरूपं शिक्षाव्रतं व्याख्यायेदानीं सामायिकरूपं तद्व्याख्यातुमाह,—

आसमयमुक्ति मुक्तं पञ्चाघानामशेपभावेन।
सर्वत्र च सामयिकाः सामायिकं नाम शंसन्ति॥ ७॥

सामयिकं नाम स्फुटं शसंन्ति प्रतिपादयान्ति। के ते? सामयिकाः समयमागमं विन्दन्ति ये ते सामायिका गणधरदेवादयाः। किं तत्? मुक्तं मोचनं परिहरणं यत् तत् सामयिकं। केपां मोचनं? पंचाघानां हिंसादिपंचपापानां। कथं? आसमयमुक्ति वक्ष्यमाणलक्षणसमयमोचनं आसमन्ताद्व्याप्य गृहीतनियमकालमुक्तिं यावादित्यर्थः। कथं तेपां मोचनं? अशेपभावेन समास्त्येन न पुनर्देशतः। सर्वत्र च अवधेः परभागे च अनेन देशावकाशिकादस्य भेदः प्रतिपादितः॥ ७॥

आसमयमुक्तिमत्र यः समयशब्दः प्रतिपादितस्तदर्थं व्याख्यातुमाह;—

मूर्धरुहमुष्टिवासोवन्धं पर्य्यंकवन्धनं चापि।
स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञाः॥ ८॥

समयज्ञा आगमज्ञाः। समयं जानान्ति। किं तत्? मूर्धरुहमुष्टिवासोवन्धं वन्धशब्दः प्रत्येकमभिसम्बद्ध्यते मूर्धरूहाणां केशानां वन्धं वन्धकालं समयं जानन्ति। तथा मुष्टिवन्धं वासोवन्धं वस्त्रग्रन्थि पयङ्कवन्धनं

चापि उपविष्टकायोत्सर्गमपि च स्थानमूर्ध्वकायोत्सर्गं उपवेशनं वा सामान्येनोपविष्टावस्थानमपि समयं जानन्ति ॥ ८ ॥

एवं विधे समये भवत् यत्सामायिकं पंचप्रकारपापात् साकल्येन व्यावृत्तिस्वरूपं तस्योत्तरोत्तरा वृद्धिः कर्तव्येत्याहः—

एकान्ते सामयिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च ।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया ॥ ९ ॥

परिचेतव्यं वृद्धिं नेतव्यं । किं तत् ? सामायिकं । क्व ? एकान्ते स्त्रीपशुपाण्डुविवर्जिते प्रदेशे । कथंभूते ? निर्व्याक्षेपे चित्तव्याकुलतारहिते शीतवातदेशमशकादिबाधावर्जित इत्यर्थः इत्थंभूते एकान्ते । क्व ? वनेषु अटवीषु, वास्तुषु च गृहेषु, चैत्यालयेषु च अपिशब्दाद्गिरिगव्हरादिपरिग्रहः । केन चेतव्यं ? प्रसन्नधिया प्रसन्ना अविक्षिप्ता धीर्यस्यात्मनस्तेन अथवा प्रसन्नासौ धीश्च तया कृत्वा आत्मना परिचेतव्यमिति ॥९॥

इत्थंभूतेषु स्थानेषु कथं तत्परिचेतव्यमित्याहः—

व्यापारवैमनस्याद्विनिवृत्त्यामन्तरात्मविनिवृत्त्या ॥
सामयिकं बध्नीयादुपावासे चैकभुक्ते वा ॥ १० ॥

बध्नीयादनुतिष्ठेत् । किं तत् ? सामयिकं । कस्यां ? विनिवृत्त्या । कस्मात् ? व्यापारवैमनस्यात् व्यापारः कायादिचेष्टा वैमनस्यं मनोव्यग्रता चित्तकालुष्यं वा तस्माद्विनिवृत्यामपि सत्यां अन्तरात्मविनिवृत्या कृत्वा तद्बध्नीयात् अन्तरात्मनो विकल्पश्च विशेषेण विनिवृत्या । कस्मिन् सति तस्यां तद्बध्नीयात् ? उपवासे चैकभुक्ते वा ॥ १० ॥

इत्थं भूतं तर्त्कि कदाचित्परिचेतव्यमन्यथा चेत्यत्राहः—

सामयिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यं ।
व्रतपञ्चकपरिपूरणकारणमवधानयुक्तेन ॥ ११ ॥

चेतव्यं वृद्धिं नेतव्यं। किं? सामायिकं। कदा? प्रतिदिवसमपि न पुनः कदाचित् पर्व दिवसे एव। कथं? यथावदपि प्रतिपादितस्वरूपानतिक्रमेणैव। कथंभूतेन? अनलसेनाऽऽलास्यरहितेन उद्यतेनेत्यर्थः। तथाऽवधानयुक्तेनैकाग्रचेतसा। कुतस्तादित्थं परिचेतव्यं? व्रतपंचकपरिपूरणकारणं यतः व्रतानां हि सविरत्यादीनां पंचकं तस्य परिपूरणं परिपूरणत्वं महाव्रतरूपत्वं तस्य कारणं यथोक्तसामायिकानुष्टानकाले हि अणुव्रतान्यपि महाव्रतत्वं प्रतिपद्यन्तेऽतस्तत्कारणं॥ ११॥

एतदेव समर्थयमानः प्राहः—

सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावं॥ १२॥

सामयिके सामायिकावस्थायां। नैव सन्ति न विद्यन्ते। के? परिग्रहाः सङ्गाः। कथंभूताः? सारम्भाः कृष्याद्यारम्भसहिताः। कति? सर्वेऽपि "बाह्याभन्तराश्चेतनेतरादिरूपा" वा। यत एव ततो याति प्रतिपद्यते। कं? यतिभावं यतितत्वं। कोऽसौ? गृही श्रावकः। कदा? सामायिकावस्थायां। कइव? चेलोपसृष्टमुनिरिव चेलेन वस्त्रेण उपसृष्टा उपसर्गवशाद्वेष्टितः स चासौ मुनिश्च स इव तद्वत्॥ १२॥

तथा सामायिके स्वीकृतवन्तो ये तेऽपरमपि किं कुर्वन्तीत्याहः—

शीतोष्णदंशमशकपरीषहमुपसर्गमपि च मौनधराः।
सामायिकं प्रतिपन्ना अधिकुर्वीरन्नचलयोगाः॥१३॥

अधिकुर्वीरन् सहेरान्नित्यर्थः। के ते? सामयिकं प्रतिपन्नाः सामायिकं स्वीकृतवन्तः। किं विशिष्टाः सन्तः? अचलयोगाः स्थिरसमाधयः प्रतिज्ञातानुष्टानापरित्यागिनो वा। तथा मौनधरास्तत्पीडायां सत्यामपि क्लीवादिवचनानुच्चारकाः। कमधिकुर्वीरन्नित्याह—शीतेत्यादि शीतोष्ण-

दंशमशकानां पीडाकारणां तत्परिसमन्तात् सहनं तत्परीषहस्तं, न केवलं तमेव अपि तु उपसर्गमपि च देवमनुष्यतिर्यक्कृतं ॥ १३ ॥

तं चाधिकुर्वाणाः सामायिके स्थिताः एवं विधं संसारमोक्षयोः स्वरूपं चिन्तयेयुरित्याह;—

अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवम् ।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके ॥ १४ ॥

तथा सामायिके स्थिता ध्यायन्तु । कं ? भवं स्वोपात्तकर्मवशाच्चतुर्गतिपर्यटनं । कथंभूतं ? अशरणं न विद्यते शरणमपापपरिरक्षकं यत्र । अशुभमशुभकारणप्रभवत्वादशुभकार्यकारित्वाच्चाशुभं । तथाऽनित्यं चतसृष्वपि गतिषु पर्यटनस्य नियतकालतयाऽनित्यत्वादनित्यं । तथा दुःखहेतुत्वाद्दुःखं । तथानात्मानमात्मस्वरूपं न भवति । एवं विधं भवमावसामि एवं विधे तिष्ठामीत्यर्थः । यद्येवं विधः संसारस्तर्हि मोक्षः कीदृश इत्याह—मोक्षस्तद्विपरीतात्मा तस्मादुक्तभवस्वरूपाद्विपरीतस्वरूपतः शरणशुभादि स्वरूपः, इत्येवं ध्यायन्तु चिन्तयन्तु सामायिके स्थिताः ॥ १४ ॥

साम्प्रतं सामायिकस्यातीचारानाह;—

वाक्कायमानसानां दुःप्रणिधानान्यनादरस्मरणे ।
सामयिकस्यातिगमा व्यज्यन्ते पञ्च भावेन ॥ १५ ॥

व्यज्यन्ते कथ्यन्ते । के ते ? अतिगमा अतिचाराः । कस्य ? सामयिकस्य । कति ? पंच । कथं ? भावेन परमार्थेन । तथा हि । वाक्कायमानसानां दुष्प्रणिधानमित्येतानि त्रीणि । अनादरोऽनुत्साहः । अस्मरणमनैकाग्रम् ॥ १५ ॥

अथेदानीं प्रोषधोपवासलक्षणं शिक्षाव्रतं व्याचक्षाणः प्राह;—

पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोपधोपवासस्तु।
चतुरभ्यवहार्य्याणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः १६॥

प्रोपधोपवासः पुनर्ज्ञातव्यः। कदा पर्वणि चतुर्दश्यां न केवलं पर्वणि अष्टम्यां च। किं पुनः प्रोपधोपवासशब्दाभिधेयं? प्रत्याख्यानं। केषां? चतुरभ्यवहार्याणां चत्वारि अशनपानखाद्यलेह्यलक्षणानि तानि चाभ्यवहार्याणि च भक्षणीयानि तेषां। किं कस्यां सदैवाष्टम्यां चतुर्दश्यां च तेषां प्रत्याख्यानमित्याह—सदा सर्वकालं। काभिः इच्छाभिर्व्रतविधानवाञ्छाभिस्तेषां प्रत्याख्यानं न पुनर्व्यवहारकृतधरणकादिभिः॥१६॥

उपवासदिने चोपोषितेन किं कर्तव्यमित्याहः—

पञ्चानां पापानामलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम्।
स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्य्यात्॥ १७॥

उपवासदिने परिहृतिं परित्यागं कुर्यात्। केषां? पंचानां हिंसादीनां। तथा अलंक्रियारंभगंधपुष्पाणां अलंक्रिया मण्डनं आरंभो वाणिज्यादिव्यापारः गन्धपुष्पाणामित्युपलक्षणं रागहेतून्? गीतनृत्यादीनां। तथा स्नानंच अञ्जनं च वा नस्यश्च तेषाम्॥ १७॥

एतेषां परिहारं कृत्वा किं तद्दिनेऽनुष्टातव्येत्याहः—

धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान्। ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः॥ १८॥

उपवसन्नुपवासं कुर्वन् धर्मामृतं पिबतु धर्म एवामृतं सकलप्राणिनामाप्यायकत्वात् तत् पिबतु। काभ्यां? श्रवणाभ्यां। कथंभूतः? सतृष्णः साभिलाषः पिबन् न पुनरुपरोधादिवशात्। पाययेद्वान्यान् स्वयमेवावगतधर्मस्वरूपस्तु अन्यतो धर्मामृतं पिबन् अन्यानविदिततत्स्वरूपान् पाययेत् तत् ज्ञानध्यानपरो भवतु ज्ञानपरो वा द्वादशानुप्रेक्षाद्युपयोगनिष्टः॥

अध्रुवाशरणे चैव भव एकत्वमेव च।
अन्यत्वमशुचित्वं च तथैवास्रवसंवरौ ॥ १ ॥
निर्जराच तथाः लोक वोधिदुर्लभधर्मता।
द्वादशैता अनुप्रेक्षा भापिता जिनपुंगवैः ॥ २ ॥

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयलक्षणधर्मध्यानपरः तन्निष्टः भवतु। किं विशिष्टः ? अतन्द्रालुः निद्रालस्यरहितः ॥ १८ ॥

अधुना प्रोपधोपवासस्तल्लक्षणं कुर्वन्नाहः—

चतुराहारविसर्ज्जनमुपवासः प्रोपधः सकृद्भुक्तिः।
स प्रोपधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥ १९ ॥

चत्वारश्च ते आहाराश्चाशनपानखाद्यलेह्यलक्षणाः, अशनं हि भक्तमुद्गादि, पानं हि पेयमथितादि, खाद्यं मोदकादि, लेह्यं रब्रादि तेषां विसर्जनं परित्यजनमुपवासो विधीयते। प्रोपधः पुनः सकृद्भुक्तिधारणकदिने एकभक्तविधानं यत्पुनरुपोष्य उपवासं कृत्वा पारणकदिने आरंभं सकृद्भुक्तिमाचरत्यनुतिष्टति स प्रोपधोपपासोऽभिधीयते इति ॥ १९ ॥

अथ केऽस्यातीचारा इत्याहः—

ग्रहणविसर्गास्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे।
यत्प्रोपधोपवासव्यतिलङ्घनपञ्चकं तदिदम् ॥ २० ॥

प्रोपधोपवासस्य व्यतिलंघनपंचकमतिचारपंचकं। तदिदं पूर्वार्धप्रतिपादितप्रकारं। तथा हि। ग्रहणविसर्गास्तरणानि त्रीणि। कथं भूतानि? अदृष्टमृष्टानि दृष्टं दर्शनं जन्तवः सन्ति न सन्तीति वा चक्षुपावलोकनं मृष्टं मदुनोपकरणेन प्रमार्जनं तदुभौ न विद्येते येपु ग्रहाणादिपु तानि तथोक्तानि। तत्र वुभुक्षापीडितस्यादृष्टमृष्टस्यार्हदादिपूजोपकरणस्यात्मपरिधानाद्यर्थस्य च ग्रहणं भवति। तथा अदृष्टममृष्टायां भूमौ मूत्रपुरीपादेरुत्सर्गो भवति। तथा अदृष्टमृष्टे प्रदेशे आस्तरणं संस्तरोपक्रमो भवतीत्ये-

तानि त्रीणि। अनादरास्मरणे च द्वे। तथा आवश्यकादौ हि बुभुक्षा पीडितत्वादनादरोऽनेकाग्रतालक्षणमस्मरणं भवति॥ २०॥

इदानीं वैयावृत्यलक्षणशिक्षाव्रतस्य स्वरूपं प्ररूपयन्नाह;—

दानं वैयावृत्त्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।
अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन॥ २१॥

भोजनादिदानमपि वैयावृत्यमुच्यते। कस्मै दानं? तपोधनाय तप एव धनं यस्य तस्मै। किंविशिष्टाय? गुणनिधये गुणानां सम्यग्दर्शनादीनां निधिराश्रयस्तस्मै। तथाऽगृहाय भावद्रव्यागाररहिताय। किमर्थं? धर्माय धर्मनिमित्तं,। किं विशिष्टं तद्दानं? अनपेक्षितोपचारोपक्रियं उपचार प्रतिदानं उपक्रिया मंत्रतंत्रादिना प्रत्युपकरणं ते न अपेक्षिते येन कथं। तद्दानं? विभवेन विधिद्रव्यादिसम्पदा॥ २१॥

न केवलं दानमेव वैयावृत्यमुच्यतेऽपितुः—

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्त्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम्॥ २२॥

व्यापत्तयो विविधाव्याध्यादिजनिता आपदस्तासां व्यपनोदो विशेषेणापनोदः स्फेटनं यत्तद्वैयावृत्यमेव। तथा पादयोः संवाहनं पादयोर्मर्दनं। कस्मात्? गुणरागात् भक्तिवशादित्यर्थः—न पुनर्व्यवहारात् दृष्टफलापेक्षणाद्वा। न केवलमेतावदेव वैयावृत्यं किन्तु अन्योऽपि संयमिनां देशसकलव्रतान्तं सम्बन्धी यावात् यत्परिमाण उपग्रह उपकारः स सर्वो वैयावृत्यमेवोच्यते॥ २२॥

अथ किं दानमुच्यत इत्यत आहः—

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन।
अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम्॥ २३॥

दानमिष्यते । कासौ ? प्रतिपत्तिः गौरवं आदरस्वरूपा । केषां ? आर्याणां सद्दर्शनादिगुणोपेतमुनीनां । किंविशिष्टानां ? अपसूनारम्भाणां सूनाः पंचजीवघातस्थानानि । तदुक्तम्

खंडनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भः प्रमार्जनी ।
पंचसूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति ॥ १३ ॥

खंडनी उलूखलं, पेषणी. घरट्ट, चुल्ली—चुल्हकः, उदकुंभः—उदकघटः, प्रमार्जनी—बोहारिका । सूनाश्चारंभाश्च कृष्यादयस्तेऽपगता येषां तेषां । केन प्रतिपत्तिः कर्तव्या ? सप्तगुणसमाहितेन.

श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा सत्यं ।
यस्यैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति ॥

इत्येतैः सप्तभिर्गुणैः समाहितेन तु दात्रा दानं दातव्यं । कैः कृत्वा ? नव पुण्यैः—

पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयमच्चणं च पणमं च ।
मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धी य नवविहं पुण्णं ॥

एतैर्नवभिः पुण्यैः पुण्योपार्जनहेतुभिः ॥ २३ ॥

इत्थं दीयमानस्य फलं दर्शयन्नाह;—

गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम् । अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि ॥ २४ ॥

विमार्ष्टि स्फेटयति । खलु स्फुटं । किं तत् ? कर्म पापरूपं । कथंभूतं ? निचितमपि उपार्जितमपि पुष्टमपि वा । केन ? गृहकर्मणा सावद्यव्यापारेण । कोऽसौ कर्तृ ? प्रतिपूजा दानं । केषामपि ? अतिथीनां न विद्यते तिथिर्येषां तेषां । किं विशिष्टानां गृहविमुक्तानां गृहरहितानां अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं दृष्टान्तमाह—रुधिरमलं धावते वारि अलंशब्दो

यथार्थे अयमर्थो रुधिरं यथा मलिनमपवित्रं च वारि कर्तृ निर्मलं पवित्रं च धावते प्रक्षालयति तथा दानं पापं विमार्ष्टि ॥ २४ ॥

साम्प्रतं नवप्रकारेषु प्रतिग्रहादिषु क्रियमाणेषु कस्मात् किं फलं सम्पद्यत इत्याहः—

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा ।
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥ २५ ॥

तपोनिधिषु यतिषु । प्रणतेः प्रणामकरणादुच्चैर्गोत्रं भवति । तथा दानाद्दर्शनशुद्धिलक्षणाद्भोगो भवति । उपासनात् प्रतिग्रहणादिरूपात् सर्वत्र पूजा भवति । भक्तेर्गुणानुरागजनितान्तःश्रद्धाविशेषलक्षणायाः सुन्दररूपं भवति । स्तवनात् श्रुतजलधीत्यादिस्तुतिविधानात् सर्वत्र कीर्तिर्भवति ॥ २५ ॥

नन्वेवंविधं विशिष्टं फलं स्वल्पं दानं कथं सम्पादयतीत्याशंकाऽपनोदार्थमाहः—

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले ।
फलतिच्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम् ॥ २६ ॥

अल्पमपि दानमुचितकाले पात्रगतं सत्पात्रे दत्तं शरीरभृतां संसारिणामिष्टं फलं बह्वनेकप्रकारमुंदररूपं भोगोपभोगादिलक्षणं फलति । कथंभूतं ? छायाविभवं छाया माहात्म्यं विभवं सम्पत् तौ विद्यते यत्र । अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं क्षितीत्यादिदृष्टान्तमाह—क्षितिगतं सुक्षेत्रे निक्षिप्तं यथा अल्पमपि वटबीजं बहुफलं फलति । कथं ? छायाविभवं छाया आतपनिरोधिनी तस्या विभवः प्राचुर्यं यथा भवत्येवं फलति ॥ २६ ॥

तच्चैवंविधफलसम्पादकं दानं चतुर्भेदं भवतीत्याहः—

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन ।
वैयावृत्त्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ॥ २७ ॥

वैयावृत्यं दानं ब्रुवते प्रतिपादयति च । कथं ? चतुरात्मत्वेन चतुःप्रकारत्वेन। के ते? चतुरस्राः पण्डिताः। तानेव चतुष्प्रकारान् दर्शयन्नाहारेत्याद्याह—आहारश्च भक्तपानादिः औषधं च व्याधिस्फेटकं द्रव्यं तयोर्द्वयोरपि दानेन । न केवलं तयोरेव अपि तु उपकरणावासयोश्च उपकरणं ज्ञानोपकरणादिः आवासो वसतिकादिः ॥ २७ ॥

तच्चतुष्प्रकारं दानं किं केन दत्तमित्याहः—

श्रीषेणवृषभसेने कौण्डेशः शूकरश्च दृष्टान्ताः ।
वैयावृत्त्यस्यैते चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः ॥ २८ ॥

चतुर्विकल्पस्य चतुर्विधवैयावृत्यस्य दानस्यैते श्रीषेणादयो दृष्टान्ता मन्तव्याः ।

तत्राहारदाने श्रीषेणो दृष्टान्तः । अस्य कथा—

मलयदेशे रत्नसंचयपुरे राजा श्रीषेणो राज्ञी सिंहनन्दिता द्वितीया अनिन्दिता च। पुत्रौ क्रमेण तयोरिन्द्रोपेन्द्रौ । तत्रैव ब्राह्मणः सात्यकिनामा, ब्राह्मणी जम्बू, पुत्री सत्यभामा। पाटलिपुत्रनगरे ब्राह्मणो रुद्रभट्टो वटुकान् वेदं पाठयति। तदीयचेटिकापुत्रश्च कपिलनामा तीक्ष्णमतित्वात् छद्मना वेदं शृण्वन् तत्पारगो जातो रुद्रभट्टेन च कुपितेन पाटलिपुत्रान्निर्धाटितः । सोत्तरीयं यज्ञोपवीतं परिधाय ब्राह्मणो भूत्वा रत्नसंचयपुरे गतः । सात्यकिना च तं वेदपारगं सुरूपं च दृष्ट्वा सत्यभामाया योग्योऽयमिति मत्वा सा तस्मै दत्ता । सत्यभामा च रतिसमये विटचेष्टां तस्य दृष्ट्वा कुलजोऽयं न भविष्यतीति सा सम्प्रधार्य चित्ते विषादं वहन्ती तिष्ठति। एतस्मिन् प्रस्तावे रुद्रभट्टस्तीर्थयात्रां कुर्वाणो रत्नसंचयपुरे समायातः । कपिलेन प्रणम्य निजधवलगृहे नीत्वा भोजनपरिधानादिकं कारयित्वा सत्यभामायाः सकललोकानां च मदीयोऽयं पितेति कथितम्। सत्यभामया चैकदा रुद्रभट्टस्य विशिष्टं भोजनं बहुसुवर्णं च दत्वा पादयोर्लगित्वा

पृष्टं—तात ! तत्र शीलस्य लेशोऽपि कपिले नास्ति ततः किमयं तव पुत्रो भवति न वेति सत्यं मे कथय। ततस्तेन कथितं पुत्रि ! मदीयचेटिकापुत्र इति। एतदाकर्ण्य तदुपरि विरक्ता सा हठादयं मामभिगमिष्यतीति मत्वा सिंहनन्दिताग्रमहादेव्याः शरणं प्रविष्टा, तया च सा पुत्री ज्ञाता। एवमेकदा श्रीषेणराजेन परमभक्त्या विधिपूर्वकमर्ककीर्त्यामितगतिचारणमुनिभ्यां दानं दत्तम्। तत्फलेन राज्ञा सह भोगभूमावुत्पन्ना। तदनुमोदनात् सत्यभामापि तत्रैवोत्पन्ना। स राजा श्रीषेणो दानप्रथमकारणात् पारंपर्येण शान्तिनाथतीर्थकरो जातः। आहारदानफलम्।

औषधदाने वृषभसेनाया दृष्टान्तः। अस्याः कथा—

जनपददेशे कावेरीपत्तने राजोग्रसेनः, श्रेष्ठी धनपतिः, भार्या धनश्रीः पुत्री वृषभसेना, तस्या धात्री रूपवती नामा। एकदा वृषभसेनास्नानजलगर्तायां रोगगृहीतं कुक्कुरं पतितलुठितोऽत्थितं रोगरहितमालोक्य चिन्तितं धात्र्या—पुत्रीस्नानजलमेवात्रारोग्यत्वे कारणम्। ततस्तया धात्र्या निजजनन्या द्वादशवार्षिकाक्षिरोगगृहीतायाः कथिते तया लोचने तेन जलेन परीक्षार्थमेकदिने धौते दृष्टी च शोभने जाते ततः सर्वरोगापनयने सा धात्री प्रसिद्धा तत्र नगरे संजाता। एकदोग्रसेनेन रणपिंगलमंत्री बहुसैन्योपेतो मेघपिंगलोपरि प्रेषितः। स तं देशं प्रविष्टो विषोदकसेवनात् ज्वरेण गृहीतः। स च व्याघुट्यागतः रूपवत्या च तेन जलेन निरोगीकृतः। उग्रसेनोऽपि कोपात्तत्र गतः तथा ज्वरितो व्याघुट्यायातो रणपिंगलाज्जलवृत्तान्तमाकर्ण्य तज्जलं याचितवान्। ततो मंत्री उक्तो धनश्रिया भोः श्रेष्ठिन्! कथं नरपतेः शिरसि पुत्रीस्नानजलं क्षिप्यते ? धनपतिनोक्तं यदि पृच्छति राजा जलस्वभावं तदा सत्यं कथ्यते न दोषः। एवं भणिते रूपवत्या तेन जलेन नीरोगीकृत उग्रसेनः ततो नीरोगेण राज्ञा पृष्टा रूपवती जलस्य माहात्म्यम्। तया च सत्यमेव कथितं। ततो

राज्ञा व्याहूतः श्रेष्ठी, सच भीतः राज्ञः समीपमायातः । राजा च गौरवं कृत्वा वृषभसेनां परिणेतुं स याचितः । ततः श्रेष्टिना भणितं देव! यद्यष्टाह्निकां पूजां जिनप्रतिमानां करोषि तथा पंजरस्थान् पक्षिगणान् मुञ्चसि तथा गुप्तिषु सर्वमनुष्यांश्च मुञ्चसि तदा ददामि । उग्रसेनेन च तत् सर्वं कृत्वा परिणीता वृषभसेना पट्टराज्ञी च कृता । अतिवल्लभया तयैव च सह विमुक्तानाकार्य क्रीडां करोति । एतस्मिन् प्रस्तावे यो वाराणस्याः पृथिवीचन्द्रो नाम राजा धृत आस्ते सोऽतिप्रचण्डत्वात्तद्विवाहकालेऽपि न मुक्तः । ततस्तस्य या राज्ञी नारायणदत्ता तया मंत्रिभिः सह मंत्रयित्वा पृथिवीचन्द्रमोचनार्थं वाराणस्यां सर्वत्रावारितसत्कारा वृषभसेनाराज्ञी नाम्ना कारिता, तेषु भोजनं कृत्वा कावेरीपत्तनं ये गतास्तेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यस्तं वृत्तान्तमाकर्ण्य रुष्टया रूपवत्या भणिता वृषभसेने त्वं मामपृच्छन्ती वाराणस्यां कथं सत्कारान् कारयसि? तया भणितमहं न कारयामि किन्तु मम नाम्ना केनचित्कारणेन केनापि कारिताः तेषां शुद्धिं कुरु त्वमिति चरपुरुषैः कृत्वा यथार्थं ज्ञात्वा तया वृषभसेनायाः सर्वं कथितम् । तया च राजानं विज्ञाप्य मोचितः पृथ्वीचन्द्रः । तेन च चित्रफलके वृषभसेनोग्रसेनयो रूपे कारिते । तयोरधो निजरूपं सप्रणामं कारितम् । स फलकस्तयोर्दर्शितः भणिता च वृषभसेना राज्ञी—देवि! त्वं मम मातासि त्वत्प्रसादादिदं जन्म सफलं मे जातं। तत उग्रसेनः सन्मानं दत्वा भणितवान् त्वया मेघपिंगलस्योपरि गंतव्यमित्युक्त्वा स च ताभ्यां वाराणस्यां प्रेषितः । मेघपिंगलोऽप्येतदाकर्ण्य ममायं पृथ्वीचन्द्रो मर्मभेदीति पर्यालोच्यागत्य चोग्रसेनस्यातिप्रसादितः सामन्तो जातः। उग्रसेनेन चास्थानस्थितस्य यन्मे प्राभृतमागच्छति तस्यार्धं मेघपिंगलस्य दास्यामि अर्धं च वृषभसेनाया इति व्यवस्था कृता। एवमेकदा रत्नकंबलद्वयमागतमेकैकं सनामाङ्कं कृत्वा तयोर्दत्तं। एकदा मेघपिंगलस्य

राज्ञी विजयाख्या मेघपिंगलकम्बलं प्रावृत्य प्रयोजनेन रूपवतीपार्श्वे गता। तत्र कम्बलपरिवर्तो जातः। एकदा वृषभसेनाकम्बलं प्रावृत्य मेघपिंगलः सेवायामुग्रसेनसभायामागतः राजा च तमालोक्यातिकोपाद्रक्ताक्षो बभूव। मेघपिंगलश्च तं तथाभूतमालोक्य ममोपरि कुपितोऽयं राजेति ज्ञात्वा दूरं नष्टः। वृषभसेना च रुष्टेनोग्रसेनेन मारणार्थं समुद्रजले निक्षिप्ता। तया च प्रतिज्ञा गृहीता यदि एतस्मादुपसर्गादुद्धरिष्यामि तदा तपः करिष्यामीति। ततो व्रतमाहात्म्याज्जलदेवतया तस्याः सिंहासनादिप्रातिहार्यं कृतम्। तच्छ्रुत्वा पश्चात्तापं कृत्वा राजा तमानेतुं गतः। आगच्छता वनमध्ये गुणधरनामाऽवधिज्ञानी मुनिर्दृष्टः। स च वृषभसेनया प्रणम्य निजपूर्वभवचेष्टितं पृष्टः। कथितं च भगवता यथा—पूर्वभवे त्वमत्रैव ब्राह्मणपुत्री नागश्री नामा जातासि। राजकीयदेवकुले सम्मार्जनं करोपि। तत्र देवकुले चैकदाऽपराह्णे प्राकाराभ्यन्तरे निर्वातगर्तायां मुनिदत्तनामा मुनिः पर्यंककायोत्सर्गेण स्थितः। त्वया च रुष्टया भणितः कटकाद्राजा समायातोऽत्रागमिष्यतीत्युत्तिष्ठोत्तिष्ठ सम्मार्जनं करोमि लग्नेति ब्रुवाणायास्तत्र मुनिकायोत्सर्गं विधाय मौनेन स्थितः। ततस्त्वया कचवारेण पूरयित्वोपरि सम्मार्जनं कृतम्। प्रभाते तत्रागतेन राज्ञा तत्प्रदेशे क्रीडता उच्छ्वसितनिःश्वसितप्रदेशं दृष्ट्वा उत्खन्य निःसारितश्च स मुनिः। ततस्त्वयात्मनिन्दां कृत्वा धर्मे रुचिः कृता। परमादरेण च तस्य मुनेस्त्वया तत्पीडोपशमनार्थं विशिष्टमौषधदानं वैयावृत्त्यं च कृतम्। ततो निदानेन मृत्वेह धनपतिधनश्रियोः पुत्री वृषभसेना नाम जातासि। औषधदानफलात् सर्वौषधर्द्धिफलं जातम्। कचवारपूरणात् कलङ्किता च। इति श्रुत्वात्मानं मोचयित्वा वृषभसेना तत्समीपे आर्यिका जाता। औषधदानस्य फलम्।

श्रुतदाने कौण्डेशो दृष्टान्तः। अस्य कथा—

कुरुमणिग्रामे[1] गोपालो गोविन्दनामा। तेन च कोटरादुद्धृत्य चिरन्तनपुस्तकं प्रपूज्य भक्त्या पद्मनन्दिमुनये दत्तम्। तेन पुस्तकेन तत्राटव्यां

---

१ कुरुमरि इति ग, कुमार ख।

पूर्वभट्टारकाः केचित् किल पूजां कृत्वा कारयित्वा च व्याख्यानं कृतवन्तः कोटरे धृत्वा च गतवन्तश्च। गोविन्देन च बाल्यात्प्रभृति तं दृष्ट्वा नित्यमेव पूजा कृता वृक्षकोटरस्यापि। एवं स गोविन्दो निदानेन मृत्वा तत्रैव ग्रामकूटस्य पुत्रोऽभूत्। तमेव पद्मनन्दिमुनिमालोक्य जातिस्मरो जातः। तपो गृहीत्वा कोण्डेशनामा महामुनिः श्रुतधरोऽभूत्। इति श्रुतदानस्य फलम्।

वसतिदाने सूकरो दृष्टान्तः। अस्य कथा—

मालवदेशे घटग्रामे कुम्भकारो देविलनामा नापितश्च धमिल्लनामा। ताभ्यां पथिकजनानां वसतिनिमित्तं देवकुलं कारितम्। एकदा देविलेन मुनये तत्र प्रथमं वसतिर्दत्ता धमिल्लेन च पश्चात् परिव्राजकस्तत्रानीय धृतः। ताभ्यां च धमिल्लपरिव्राजकाभ्यां निःसारित स मुनिर्वृक्षमूले रात्रौ दंशमशकशीतादिकं सहमानः स्थितः प्रभाते देविलधमिल्लौ तत्कारणेन परस्परं युद्धं कृत्वा मृत्वा विन्ध्ये क्रमेण सूकरव्याघ्रौ प्रौढौ जातौ। यत्र च गुहायां स सूकरस्तिष्ठति तत्रैव च गुहायामेकदा समाधिगुप्तत्रिगुप्तमुनी आगत्य स्थितौ तौ च दृष्ट्वा जातिस्मरो भूत्वा देविलचरसूकरो धर्ममाकर्ण्य व्रतं गृहीतवान्। तत्प्रस्तावे मनुष्यगन्धमाघ्राय मुनिभक्षणार्थं स व्याघ्रोऽपि तत्रायातः। सूकरश्च तयो रक्षानिमित्तं गुहाद्वारे स्थितः। तत्रापि तौ परस्परं युद्ध्वा मृतौ। सूकरो मुनिरक्षणाभिप्रायेण शुभाभिसन्धित्वात् मृत्वा सौधर्मे महर्द्धिको देवो जातः। व्याघ्रस्तु मुनिभक्षणाभिप्रायेणातिरौद्राभिप्रायत्वान्मृत्वा नरकं गतः। वसतिदानस्य फलम्॥ २८॥

यथा वैयावृत्यं विदधता चतुर्विधं दानं दातव्यं तथा पूजाविधानमपि कर्तव्यमित्याह:—

१ वृक्षस्य इति ग. पूजां कृत्वा वृक्षकोटरे स्थापितं इति ख. २ धम्मिल धम्मिल्ल इति ग.

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम् ।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ॥ २९ ॥

आदृतः आदरयुक्तो नित्यं परिचिनुयात् पुष्टं कुर्यात् । किं ? परिचरणं पूजां। किंविशिष्टं ? सर्वदुःखनिर्हरणं निःशेषदुःखविनाशकं । क ? देवाधिदेवचरणे देवानामिन्द्रादीनामधिको वन्द्यो देवाधिदेवस्तस्य चरणः पादः तस्मिन् । कथं भूते ? कामदुहि वाञ्छितप्रदे । तथा कामदाहिनि कामविध्वंसके ॥ २९॥

पूजामाहात्म्यं किं कापि केन प्रकटितमित्याशंक्याहः—

अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत् ।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥ ३० ॥

भेको मण्डूकः प्रमोदमत्तो विशिष्टधर्मानुरागेण हृष्टः अवदत् कथितवान् । किमित्याह—अर्हदित्यादि, अर्हतश्चरणौ अर्हच्चरणौ तयोः सपर्या पूजा तस्याः महानुभावं विशिष्टं माहात्म्यं । केषामवदत् ? महात्मनां भव्यजीवानां । केन कृत्वा ? कुसुमेनैकेन । क ? राजगृहे ।

अस्य कथा—

मगधदेशे राजगृहनगरे राजा श्रेणिकः श्रेष्ठी नागदत्तः श्रेष्ठिनी भवदत्ता । स नागदत्तः श्रेष्ठी सर्वदा मायायुक्तत्वान्मृत्वा निजप्राङ्गणवाप्यां भेको जातः । तत्र चागतामेकदा भवदत्ताश्रेष्ठिनीमालोक्य जातिस्मरो भूत्वा तस्याः समीपे आगत्य उपर्युत्प्लुत्य चटितः । तया च पुनःपुनर्निर्घाटितो रटति, पुनरागत्य चटति च ततस्तया कोऽप्ययं मदीयो इष्टो भविष्यतीति सम्प्रधार्यावधिज्ञानी सुव्रतमुनिः पृष्टः । तेन च तद्वृत्तान्ते कथिते गृहे नीत्वा परमगौरवेणासौ धृतः । श्रेणिकमहाराजश्चैकदा वर्धमानस्वामिनं वैभारपर्वते समागतमाकर्ण्य आनन्दभेरीं दापयित्वा महता विभवेन तं वन्दितुं गतः । श्रेष्ठिन्यादौ च गृहजने वन्दनाभक्त्यर्थं गते स भेकः प्रांगणवापीकमलं पूजा-

निमित्तं गृहीत्वा गच्छन् हस्तिना पादेन चूर्णयित्वा मृतः। पूजानुरागवशेनोपार्जितपुण्यप्रभावात् सौधर्मे महर्द्धिकदेवो जातः। अवधिज्ञानेन पूर्वभववृत्तान्तं ज्ञात्वा निजमुकुटाग्रे भेकचिह्नं कृत्वा समागत्य वर्धमानस्वामिनं वन्दमानः श्रेणिकेन दृष्टः। ततस्तेन गौतमस्वामी भेकचिह्नेऽस्य किं कारणमिति पृष्टः तेन च पूर्ववृत्तान्तः कथितः। तच्छ्रुत्वा सर्वे जनाः[1] पूजातिशयविधाने उद्यताः संजाता इति ॥ ३० ॥

इदानीमुक्तप्रकारस्य वैयावृत्यस्यातीचारानाहः—

हरितपिधाननिधाने ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि ।
वैयावृत्त्यस्यैते व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥ ३१ ॥

पंचैते आर्यापूर्वार्धकथिता वैयावृत्त्यस्य व्यतिक्रमाः कथ्यन्ते। तथा हि। हरितपिधाननिधाने हरितेन पद्मपत्रादिना पिधानं झंपनं[2]माहारस्य। तथा हरिते तस्मिन् निधानं स्थापनं। तस्य अनादरः प्रयच्छतोऽप्यादराभावः। अस्मरणमाहारादिदानमेतस्यां वेलायामेवंविधपात्राय दातव्यमिति दत्तमदत्तमिति वास्मृतेरभावः। मत्सरत्वमन्यदातृदानगुणासहिष्णुत्वमिति ॥ ३१ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामि-
विरचितोपासकाध्ययनटीकायां
चतुर्थः परिच्छेदः।

---

१ भव्यजना इति ख. २ आच्छादनं इति ख.

सल्लेखना-प्रतिमाधिकारः पंचमः ।



अथ सागारिणाणुव्रतादिवत् सल्लेखनाप्यनुष्ठातव्येत्याहः[1]—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे ।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥ १ ॥

आर्या गणधरदेवादयः सल्लेखनामाहुः । किं तत् ? तनुविमोचनं शरीरत्यागः । कस्मिन् सति ? उपसर्गे तिर्यङ्मनुष्यदेवकृते । निःप्रतीकारे प्रतीकारागोचरे । एतच्च विशेषणं दुर्भिक्षजरारुजानां प्रत्येकं सम्बन्धनीयं। किमर्थं तद्विमोचनं ? धर्माय रत्नत्रयाराधनार्थं न पुनः परस्य ब्रह्महत्याद्यर्थं ॥ १ ॥

सल्लेखनायां भव्यैर्नियमेन प्रयत्नः कर्तव्योऽत आहः—

अन्तःक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते ।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥ २ ॥

सकलदर्शिनः स्तुवते प्रशंसन्ति । किं तत् ? तपःफलं तपसः फलं तपःफलं सफलं तप इत्यर्थः । कथंभूतं सत् ? अन्तःक्रियाधिकरणं अन्ते क्रिया संन्यासः तस्या अधिकरणं समाश्रयो यत्तपस्तत्फलं । यत एवं, तस्माद्यावद्विभवं यथाशक्ति समाधिमरणे प्रयतितव्यं प्रकृष्टो यत्नः कर्तव्यः ॥ २ ॥

तत्र यत्नं कुर्वाण एवं कृत्वेदं कुर्यादित्याहः—

स्नेहं वैरं सङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः ।
स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः ॥ ३ ॥

---

[1] सा च किं स्वरूपा कदाचानुष्ठातव्येत्याह इति ग.

आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम् ।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम् ॥ ४ ॥ युगलं ।

स्वयं क्षान्त्वा प्रियैर्वचनैः स्वजनं परिजनमपि क्षमयेत् । किं कृत्वा ? अपहाय त्यक्त्वा । कं ? स्नेहमुपकारके वस्तुनि प्रीत्यनुबन्धं । वैरमनुपकारके द्वेषानुबन्धं । संगं पुत्रस्त्र्यादिकं ममेदमहमस्येत्यादिसम्बंधं परिग्रहं बाह्याभ्यन्तरं । एतत्सर्वमपहाय शुद्धमना निर्मलचित्तः सन् क्षमयत् । तथा आरोपयेत् स्थापयेदात्मनि । किं तत् ? महाव्रतम् कथंभूतं ? आमरणस्थायि मरणपर्यन्तं निःशेषं च पंच प्रकारमपि । किं कृत्वा? आलोच्य । किं तत् ? एनो दोषं । किं तत् ? सर्वं कृतकारितानुमतं च । स्वयं हि कृतं हिंसादिदोषं, कारितं हेतुभावेन, अनुमतमन्येन क्रियमाणं मनसा श्लाघितं । एतत्सर्वमेनो निर्व्याजं दशालोचनादोषवर्जितं यथा भवत्येवमालोचयेत् । दश हि आलोचनादोषा भवन्ति । तदुक्तं—

आकंपिय अणुमाणिय जंदिट्ठं बादरं च सुहमं च ।
छन्नं सद्दाउलयं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी ॥ १ ॥ इति ।

एवं विधामालोचनां कृत्वा महाव्रतमारोप्यैतत् कुर्यादित्याहः—

शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा ।
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ॥ ५ ॥

प्रसाद्यं प्रसन्नं कार्यं । कितत् ? मनः । कैः ? श्रुतैरागमवाक्यैः । कथंभूतैः ? अमृतैः अमृतोपमैः संसारदुःखसन्तापापनोदकैरित्यर्थः । किं कृत्वा ? हित्वा । किं तदित्याह—शोकमित्यादि शोकं—इष्टवियोगे तद्गुणशोचनं, भयं—क्षुत्पिपासादिपीडानिमित्तमिहलोकादिभयं वा, अवसादं विषादं खेदं वा, क्लेदं स्नेहं, कालुष्यं क्वचिद्विषये रागद्वेषपरणतिं । न केवलं प्रागुक्तमेव अपि तु अरतिमपि अप्रसक्तिमपि । न केवलमेतदेव कृत्वा किन्तु उदीर्य च प्रकाश्य च । कं ? सत्वोत्साहं सल्लेखनाकरणेऽकातरत्वं ॥ ५ ॥

इदानीं सल्लेखनां कुर्वाणस्याहारत्यागे क्रमं दर्शयन्नाह:—

आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम्।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः ॥ ६ ॥

स्निग्धं दुग्धादिरूपं पानं विवर्धयेत् परिपूर्णं दापयेत्। किं कृत्वा? परिहाप्य परित्याज्य। कं? आहारं कवलाहाररूपं। कथं? क्रमशः प्रागशनादिक्रमेण पश्चात् खरपानं कंजिकादिशुद्धपानीयरूपं वा। किंकृत्वा? हापयित्वा। किं? स्निग्धं च स्निग्धमपि पानकं। कथं? क्रमशः। स्निग्धं हि परिहाप्य कंजिकादिरूपं खरपानं पूरयेत् विवर्धयेत्। पश्चात्तदपि परिहाप्य शुद्धपानीयरूपं खरपानं पूरयेदिति ॥ ६ ॥

खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥ ७ ॥

खरपानहापनामपि कृत्वा। कथं? शक्त्या स्वशक्तिमनतिक्रमेण स्तोकस्तोकतरादिरूपं। पश्चादुपवासं कृत्वा तनुमपि त्यजेत्। कथं? सर्वयत्नेन सर्वस्मिन् व्रतसंयमचारित्रध्यानधारणादौ यत्नस्तात्पर्यं तेन। किं विशिष्टः सन्? पंचनमस्कारमनाः पंचनमस्काराहितचित्तः ॥ ७ ॥

अधुना सल्लेखनाया अतिचारानाह:—

जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः।
सल्लेखनातिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ॥ ८

जीवितं च मरणं च तयोराशंसे आकांक्षे. भयमिहपरलोकभयं इहलोकभयं हि क्षुत्पिपासापीडादिविषयं परलोकभयं—एवंविधदुर्धरानुष्ठानाद्विशिष्टं फलं परलोके भविष्यति न वेति। मित्रस्मृतिः बाल्याद्यवस्थायां सह-क्रीडितमित्रानुस्मरणं। निदानं भाविभोगाद्याकांक्षणं। एतानि पंचनामानि येषां ते तन्नामानः सल्लेखनायाः पंचातिचारा जिनेन्द्रैस्तीर्थकरैः समा-दिष्टा आगमे प्रतिपादिताः॥ ८ ॥

एवंविधैरतिचारै रहितां सल्लेखनां अनुतिष्ठन् कीदृशं फलं प्राप्नोत्याहः—

निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम् ।
निःपिबति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः ॥ ९ ॥

निष्पिबति आस्वादयति अनुभवति वा कश्चित् सल्लेखनानुष्ठाता । किं तत् ? निःश्रेयसं निर्वाणं । किंविशिष्टं ? सुखाम्बुनिधिं सुखसमुद्रस्वरूपं तर्हि सपर्यन्तं तद्भविष्यतीत्याह—निस्तीरं तीरात्पर्यन्तान्निष्क्रान्तं काश्चित्पुनस्तदनुष्ठाता अभ्युदयमहमिन्द्रादिसुखपरंपरां निष्पिबति । कथंभूतं ? दुस्तरं महता कालेन प्राप्यपर्यन्तं । किंविशिष्टः सन् ? सर्वैर्दुःखैरनालीढः सर्वैः शारीरमानसादिभिर्दुःखैरनालीढोऽसंस्पृष्टः । कीदृशः सन्नेतद्द्वयं निष्पिबति ? पीतधर्मा पीतोऽनुष्ठितो धर्म उत्तमक्षमादिरूपः चारित्रस्वरूपो वा येन ॥ ९ ॥

किं पुनर्निःश्रेयसशब्देनोच्यत इत्याह;—

जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम् ।
निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम् ॥ १० ॥

निःश्रेयसमिष्यते । किं ? निर्वाणं । कथंभूतं शुद्धसुखं शुद्धं प्रतिद्वन्द्वरहितं सुखं यत्र । तथा नित्यं अविनश्वरस्वरूपं । तथा परिमुक्तं रहितं । कैः ? जन्मजरामयमरणैः, जन्म च पर्यायान्तरप्रार्दुभावः जरा च वार्द्धक्यं, आमयाश्च रोगाः, मरणं च शरीरादिप्रच्युतिः । तथा शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तं ॥ १० ॥

इत्थंभूते च निःश्रेयसे कीदृशः पुरुषाः तिष्ठन्तीत्याह,—

विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्यप्रह्लादतृप्तिशुद्धियुजः ।
निरतिशया निरवधयो निःश्रेयसमावसन्ति सुखम् ॥ ११ ॥

निःश्रेयसमावसन्ति निःश्रेयसि तिष्ठन्ति । के ते इत्याह—विद्येत्यादि विद्या केवलज्ञानं, दर्शनं केवलदर्शनं, शक्तिरनन्तवीर्यं, स्वास्थ्यं परमोदासीनता,

प्रल्हादोऽनन्तसौख्यं, तृप्तिर्विषयानाकांक्षा, शुद्धिर्द्रव्यभावस्वरूपकर्ममलरहितता, एता युजन्ति आत्मसम्बन्धाः कुर्वन्ति ये ते तथोक्ताः। तथा निरतिशया अतिशयाद्विद्यादिगुणहीनाधिकभावान्निष्क्रान्ताः। तथा निरवधयो नियतकालावधिरहिताः। इत्थंभूता ये ते निःश्रेयसमावसन्ति। सुखं सुखरूपं निःश्रेयसं। अथवा सुखं यथा भवत्येवं ते तत्रावसन्ति॥ ११॥

अनन्ते काले गच्छति कदाचित् सिद्धानां विद्याद्यन्यथाभावो भविष्यत्यतः कथं निरतिशया निरवधयश्चेत्याशंकायामाह:—

कालेकल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या।
उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोकसंभ्रान्तिकरणपटुः॥१२॥

न लक्ष्या न प्रमाणपरिच्छिद्या। कासौ? विक्रिया विकारः स्वरूपान्यथाभावः। केषां? शिवानां सिद्धानां। कदा? कल्पशतेऽपि गते काले। तर्हि उत्पातवशात्तेषां विक्रिया स्यादित्याह—उत्पातोऽपि यदि स्यात् तथापि न तेषां विक्रिया लक्ष्या। कथंभूतः उत्पातः? त्रिलोकसम्भ्रान्तिकरणपटुः त्रिलोकस्य सम्भ्रान्तिरावर्त्तस्तत्करणे पटुः समर्थः॥ १२॥

ते तत्राविकृतात्मानः सदा स्थिताः किं कुर्वन्तीत्याह;—

निःश्रेयसमधिपन्नास्त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं दधते।
निष्किट्टिकालिकाच्छविचामीकरभासुरात्मानः॥ १३॥

निःश्रेयसमधिपन्नाः प्राप्तास्ते दधते धरन्ति। कां? त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं त्रैलोक्यस्य शिखा चूडाऽग्रभागस्तत्र मणिश्रीः चूडामणिश्रीः तां। किंविशिष्टाः सन्ता इत्याह—निष्किट्टेत्यादि किट्टं च कालिका च ताभ्यां निष्क्रान्ता सा छविर्यस्य तच्चामीकारं च सुवर्णं तस्येव भासुरो निर्मलतया प्रकाशमान आत्मस्वरूपं येषां॥ १३॥

एवं सल्लेखनामनुतिष्टता निःश्रेयसलक्षणं फलं प्रतिपाद्य अभ्युदयलक्षणं फलं प्रतिपादयन्नाह:—

पूजार्थाज्ञैश्वर्यैर्बलपरिजनकामभोगभूयिष्ठैः ।
अतिशयितभुवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः ॥ १४ ॥

अभ्युदयं इन्द्रादिपदावाप्तिलक्षणं फलति अभ्युदयफलं ददाति। कोऽसौ ? सद्धर्मः सल्लेखनानुष्ठानोपार्जितं विशिष्टं पुण्यं। कथंभूतमभ्युदयं ? अद्भुतं साश्चर्यं । कथंभूतं तदद्भुतं अतिशायितभुवनं यतः । कैः कृत्वा ? पूजार्थाज्ञैश्वर्यैः ऐश्वर्यशब्दः पूजार्थाज्ञानां प्रत्येकं सम्बध्यते । किंविशिष्टैरेतैरित्याह—बलेत्यादि बलं सामर्थ्यं परिजनः परिवारः कामभोगौ प्रसिद्धौ । एतैर्भूयिष्टा अतिशयेन बहवो येषु। एतैरुपलक्षितैः पूजादिभिरतिशयितभुवनमित्यर्थः॥ १४ ॥

साम्प्रतं योऽसौ सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकस्तस्य कति प्रतिमा भवन्तीत्याशंक्याहः—

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु ।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः ॥ १५ ॥

देशितानि प्रतिपादितानि। कानि ? श्रावकपदानि श्रावकगुणस्थानानि श्रावकप्रतिमा इत्यर्थः। कति ? एकादश । कैः ? देवैस्तीर्थंकरैः । येषु श्रावकपदेषु खलु स्फुटं सन्तिष्ठन्तेऽवस्थितिं कुर्वन्ति । के ते ? स्वगुणाः स्वकीयगुणस्थानसम्बद्धाः गुणाः । कैः सह ? पूर्वगुणैः पूर्वगुणस्थानवर्तिगुणैः सह । कथंभूताः ? क्रमविवृद्धाः सम्यग्दर्शनमादिं कृत्वा एकादशपर्यन्तमेकोत्तरवृद्धया क्रमेण विशेषेण वर्धमानाः ॥ १५ ॥

एतदेव दर्शयन्नाहः—

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः।
पञ्चगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ॥ १६ ॥

दर्शनमस्यास्तीति दर्शनिको दर्शनिकश्रावको भवति। किंविशिष्टः? सम्यग्दर्शनशुद्धः सम्यग्दर्शनं शुद्धं निरतिचारं यस्य असंयतसम्यग्दृष्टिः। कोऽस्य

विशेष इत्यत्राह—संसारशरीरभोगनिर्विण्ण इत्यनेनास्य लेशतो व्रतांशसंभवात्ततो विशेषः प्रतिपादितः। एतदेवाह—तत्त्वपथगृह्यः तत्त्वानां व्रतानां पंथा मार्गाः मद्यादिनिवृत्तिलक्षणा अष्टमूलगुणास्ते गृह्याः पक्षा यस्य। पंचगुरुचरणशरणः पंचगुरवः पंचपरमेष्ठिनस्तेषां चरणाः शरणमपायपरिरक्षणोपायो यस्य ॥ १६ ॥

तस्येदानीं परिपूर्णदेशव्रतगुणसम्पन्नत्वमाहः—

निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि।
धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः ॥१७॥

व्रतानि यस्य सन्तीति व्रतिको मतः। केषां? व्रतिनां गणधरदेवादीनां। कोऽसौ? निःशल्यः सन् योऽसौ धारयते। किं तत्? निरतिक्रमणमणुव्रतपंचकमपि पंचाप्यणुव्रतानि निरतिचाराणि धारयते इत्यर्थः। न केवलमेतदेव धारयते अपि तु शीलसप्तकं चापि त्रिःप्रकारगुणव्रतचतुःप्रकारशिक्षाव्रतलक्षणं शीलम् ॥ १७ ॥

अधुना सामायिकगुणसम्पन्नत्वं श्रावकस्य प्ररूपयन्नाहः—

चतुरावर्त्तत्रितयश्चतुः प्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी ॥१८॥

सामयिकः समयेन प्राक्प्रतिपादितप्रकारेण चरतीति सामयिकगुणोपेतः। किंविशिष्टः? चतुरावर्तत्रितयः चतुरो वारानावर्तत्रितयं यस्य एकैकस्य हि कायोत्सर्गस्य विधाने 'णमो अरहंताणस्य थोसामे'श्चाद्यन्तयोः प्रत्येकमावर्तत्रितयमिति एकैकस्य हि कायोत्सर्गविधाने चत्वार आवर्ता। तथा तदाद्यन्तयोरेकैकप्रणामकरणाच्चतुःप्रणामः। स्थित ऊर्ध्वकायोत्सर्गोपेतः। यथाजातो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहचिन्ताव्यावृत्तः। द्विनिषद्यो द्वे निषद्ये उपवेशने यस्य देववन्दनां कुर्वता हि प्रारंभे समाप्तौ चोपविश्य प्रणामः कर्तव्यः। त्रियोगशुद्धः त्रयो योगा मनोवाक्कायव्यापाराः शुद्धा सावद्यव्यापाररहिता यस्य। अभिवन्दी अभिवन्दत इत्येवं शीलः। कथं? त्रिसंध्यं ॥१८॥

साम्पतं प्रोषधोपवासगुणव्रतं श्रावकस्य प्रतिपादयन्नाहः—

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य ।
प्रोपधनियमविधायी प्रणधिपरः प्रोपधानशनः ॥ १९ ॥

प्रोपधेनानशनमुपवासो यस्यासौ प्रोपधानशनः । किमनियमेनापि यः प्रोपधोपवासकारी सोऽपि प्रोपधानशनव्रतसम्पन्न इत्याह—प्रोपधनियमविधायी प्रोपधस्य नियमोऽवश्यंभावस्तं विदधातीत्येवंशीलः। क तन्नियमविधायी ? पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि द्वयोश्चतुर्दश्योर्द्वयोश्चाष्टम्योरिति । किं चातुर्मास्यादौ तद्विधायीत्याह—मासे मासे । किं कृत्वा ? स्वशक्तिमनिगुह्य तद्विधाने आत्मसामर्थ्यमप्रच्छाद्य । किं विशिष्टः ? प्रणधिपरः एकाग्रतांगतः शुभध्यानरत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

इदानीं श्रावकस्य सचित्तविरतिस्वरूपं प्ररूपयन्नाहः—

मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनबीजानि ।
नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः ॥२०॥

सोऽयं श्रावकः सचित्तविरतिगुणसम्पन्नः यो नात्ति न भक्षयति । कानीत्याह-मूलेत्यादि मूलं च फलं च शाकश्च शाखाश्च कोपलाः करीराश्च वंशकिरणाः[1] कंदाश्च प्रसूनानि च पुष्पाणि बीजानि च तान्येतानि आमानि अपक्वानि यो नात्ति । कथंभूतः सन् ? दयामूर्तिः दयास्वरूपः सकरुणचित्त इत्यर्थः ॥ २० ॥

अधुना रात्रिभुक्तिविरतिगुणं श्रावकस्य व्याचक्षाणः प्राहः—

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम् ।
स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः ॥२१॥

स च श्रावको रात्रिभुक्तिविरतोऽभिधीयते यो विभावर्यां रात्रौ नाश्नाति न भुंक्ते । किं तदित्याह—अन्नमित्यादि अन्नं भक्तमुद्गादि, पानं द्राक्षादि पानकं, खाद्यं मोदकादि, लेह्यं रब्रादि[2] । किंविशिष्टः ? अनुकम्पमानमनाः सकरुणहृदयः । केषु ? सत्वेषु प्राणिषु ॥ २१ ॥

१ वंशकिरला इति ग. २ द्रवद्रव्यं आम्रादि इति ख.

साम्प्रतमब्रह्मविरतत्वगुणं श्रावकस्य दर्शयन्नाह:—

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धि बीभत्सं ।
पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥ २२ ॥

अनङ्गात् कामाद्यो विरमति व्यावर्तते स ब्रह्मचारी । किं कुर्वन् ? पश्यन् । किं तत् ? अङ्गं शरीरं । कथंभूतमित्याह—मलेत्यादि मलं शुक्रशोणितं बीजं कारणं यस्य । मलयोनिं मलस्य मलिनतायाः अपवित्रत्वस्य योनिः कारणं । गलन्मलं गलन् स्रवन् मलो मूत्रपुरीषस्वेदादिलक्षणो यस्मात् । पूतिगंधि दुर्गन्धोपेतं । बीभत्सं सर्वावयवेषु पश्यतां बीभत्सभावोत्पादकं ॥ २२ ॥

इदानीमारम्भविनिवृत्तिगुणं श्रावकस्य प्रतिपादयन्नाह:—

सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपारमति ।
प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्तः ॥ २३ ॥

यो व्युपारमति विशेषेण उपरतः व्यापारेभ्य आसमन्तात् जायते असावारम्भविनिवृत्तो भवति । कस्मात् ? आरम्भतः । कथंभूतात् ? सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखात्, सेवाकृषिवाणिज्याःप्रमुखा आद्या यस्य तस्मात् । कथंभूतात् ? प्राणातिपातहेतोः प्राणानामतिपातो वियोजनं तस्य हेतोः कारणभूतात् । अनेन स्नपनदानपूजाविधानाद्यारंभादुपरतिर्निराकृताः तस्य प्राणातिपातहेतुत्वाभावात् प्राणिपीडापरिहारेणैव तत्संभवात् । वाणिज्याद्यारम्भादपि तथा संभवस्तर्हि विनिवृत्तिर्न स्यादित्यपि नानिष्टं प्राणिपीडाहेतोरेव तदारम्भात् निवृत्तस्य श्रावकस्यारम्भविनिवृत्तत्वगुणसम्पन्नतोपपत्तेः ॥ २३ ॥

अधुना परिग्रहनिवृत्तिगुणं श्रावकस्य प्ररूपयन्नाह:—

बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः ।
स्वस्थः सन्तोषपरः परिचित्तपरिग्रहाद्विरतः ॥ २४ ॥

परि समन्तात् चित्तस्थः परिग्रहो हि परिचित्तपरिग्रहस्तस्माद्विरतः श्रावको भवति। किंविशिष्टः सन्? स्वस्थो मायादिरहितः। तथा सन्तोषपरः परिग्रहाकांक्षाव्यावृत्त्या सन्तुष्टः। तथा निर्ममत्वरतः। किं कृत्वा? उत्सृज्य परित्यज्य। किं तत्? ममत्वं मूर्च्छा। क? बाह्येषु दशसु वस्तुषु। एतदेव दशधा परिगणनं बाह्यवस्तूनां दृश्यते।

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम्।
शयनासनं च यानं कुप्यं भाण्डमिति दश॥

क्षेत्रं सस्याधिकरणं वडोलिकादि[1]। वास्तु गृहादि। धनं सुवर्णादि। धान्यं व्रीह्यादि। द्विपदं दासीदासादि। चतुष्पदं गवादि। शयनं खट्वादि। आसनं विष्टरादि। यानं डोलिकादि। कुप्यं क्षौमकार्पासकौशेयकादि। भाण्डं श्रीखण्ड[2]मंजिष्ठाकांस्यताम्रादि॥ २४॥

साम्प्रतमनुमतिविरतिगुणं श्रावकस्यप्ररूपयन्नाह:—

अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे ऐहिकेषु कर्मसु वा।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः॥२५॥

सोऽनुमतिविरतो मन्तव्यः यस्य खलु स्फुटं नास्ति। का सौ? अनुमतिरभ्युपगमः। क? आरंभे कृष्यादौ। वा शब्दः सर्वत्र परस्परसमुच्चयार्थः। परिग्रहे वा धान्यदासीदासादौ। ऐहिकेषु कर्मसु वा विवाहादिषु। किंविशिष्टः समधीः रागादिरहितबुद्धिः ममत्वरहितबुद्धिर्वा॥ २५॥

इदानीमुद्दिष्टविरतिलक्षणयुक्तत्वं श्रावकस्य दर्शयन्नाह:—

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः॥ २६॥

उत्कृष्ट उद्दिष्टविरतिलक्षणैकादशगुणस्थानयुक्तः श्रावको भवति। कथंभूतः? चेलखण्डधरः कोपीनमात्रवस्त्रखण्डधारकः आर्यलिंगधारीत्यर्थः।

१ च डोहलकादि इति ग, दोहलिकादि इति ख.
२ श्रिखण्डमंजिष्ठादि इति ग.

तथा भैक्ष्याशनो भिक्षाणां समूहो भैक्ष्यं तदश्नातीति भैक्ष्याशनः । किं कुर्वन्? तपस्यन् तपःकुर्वन् । किं कृत्वा? परिगृह्य गृहीत्वा । कानि? व्रतानि । क? गुरूपकण्ठे गुरुसमीपे । किं कृत्वा? इत्वा गत्वा । किं तत्? मुनिवनं मुन्याश्रमं । कस्मात्? गृहतः ॥ २६ ॥

तपः कुर्वन्नपि यो ह्यागमज्ञः सन्नेवं मन्यते तदा श्रेयो ज्ञाता भवतीत्याह; –

पापमरातिधर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन् ।
समयं यदि जानीते श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भवति ॥ २७ ॥

यदि समयं आगमं जानीते आगमज्ञो यदि भवति तदा ध्रुवं निश्चयेन श्रेयो ज्ञाता उत्कृष्ट ज्ञाता स भवति । किं कुर्वन्? निश्चिन्वन् । कथमित्याह—पापमित्यादि—पापमेवारातिः शत्रुर्जीवस्यानेकापकारकत्वात् धर्मस्य बन्धुर्जीवस्यानेकोपकारकत्वादित्येवं निश्चिन्वन् ॥ २७ ॥

इदानीं शास्त्रार्थानुष्ठातुःफलं दर्शयन्नाह—

येन स्वयं वीतकलङ्कविद्यादृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावं ।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु ॥२८॥

येन भव्येन स्वयं आत्मा स्वयं शब्दोऽत्रात्मवाचकः नीतः प्रापितः । कमित्याह—वीतेत्यादि, विशेष इतो गतो नष्टः कलंको दोषो यासां ताश्च ता विद्यादृष्टिक्रियाश्च ज्ञानदर्शनचारित्राणि तासां करण्डभावं तं भव्यं आयाति आगच्छति । कासौ? सर्वार्थसिद्धिः धर्मार्थकाममोक्षलक्षणार्थानां सिद्धिर्निष्पत्तिः कर्त्री । कयेवायाति? पतीच्छयेव स्वयम्वरविधानेच्छयेव । क? त्रिषु विष्टपेषु त्रिभुवनेषु ॥ २८ ॥

रत्नकरण्डकं कुर्वतश्च मम यासौ सम्यक्त्वसम्पत्तिर्वृद्धिं गता सा एन्देव कुर्यादित्याह;—

सुखयतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव,
सुतमिव जननी मां शुद्धशीला भुनक्तु ।

कुलमिव गुणभूषा कन्यका संपुनीता-
ज्जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः ॥ २९ ॥

मां सुखयतु सुखिनं करोतु। कासौ ? दृष्टिलक्ष्मीः सम्यग्दर्शनसम्पत्तिः। किंविशिष्टेत्याह-जिनेत्यादि जिनानां देशतःकर्मोन्मूलकानां गणधरदेवादीनां पतयस्तीर्थंकरास्तेषां पदानि सुवन्ततिङन्तानि पदा वा तान्येव पद्मानि तानि प्रेक्षते श्रद्दधातीत्येवं शीला। अयमर्थः—लक्ष्मीः पद्मावलोकनशीला भवति दृष्टिलक्ष्मीस्तु जिनोक्तपदपदार्थप्रेक्षणशीलेति। कथंभूता सा ? सुखभूमिः। सुखोत्पत्तिस्थानं। केव ? कामिनं कामिनीव यथा कामिनी कामभूमिः कामिनं सुखयति तथा मां दृष्टिलक्ष्मीः सुखयतु। तथा सा मां भुनक्तु रक्षतु। केव ? सुतामिव जननी। किंविशिष्टा ? शुद्धशीला जननी हि शुद्धशीला सुतं रक्षति नाशुद्धशीला दुश्चारिणी। दृष्टिलक्ष्मीस्तु गुणव्रतशिक्षाव्रतलक्षण-शुद्धसप्तशीलसमन्विता मां भुनक्तु। तथा सा मां सम्पुनीतात् सकलदोषकलङ्कं निराकृत्य[1] पवित्रयतु। किमिव ? कुलमिव गुणभूषा कन्यका। अयमर्थः—कुलं यथा गुणभूषा गुणाऽलङ्कारोपेता कन्या पवित्रयति श्लाघ्यतां नयति तथा दृष्टिलक्ष्मीरपि गुणभूषा अष्टमूलगुणैरलङ्कृता मां सम्यक्पुनीतादिति ॥२९॥

येनाज्ञानतमो विनाश्य निखिलं भव्यात्मचेतोगतम्
सम्यग्ज्ञानमहांशुभिः प्रकटितः सागारमार्गोऽखिलः।
स श्रीरत्नकरण्डकामलरविः[2] संसृत्सरिच्छोषको
जीयादेष समन्तभद्रमुनिपः श्रीमान् प्रभेन्दुर्जिनः ॥ १ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामीविर-
चितोपासकाध्ययनटीकायां
पंचमः परिच्छेदः।



१ निरस्य इति ख. २ श्रीमद्रत्नकरण्ड इति ग.

रत्नकरण्डस्य पद्यानां वर्णानुसारिणी सूची।



टीकोद्धृतपद्यानां सूची ।





प्रस्तावनाका शुद्धिपत्र।



पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	२	गेरुसोप्पे	गेरुसोप्पे
,,	२५	पहले	१ पहले
२१	१६	सामायिकं	सामायिकं
२६	११	विहित	विहीन
२८	२४	कुलको	फलको
३२	२	मूलगुणः	मूलगुणाः
,,	२२	व्याचक्षाणाः	व्याचक्षाणः
३५	२३	परिगृह	परिग्रह
३९	२६	हो सकते	हो सकते हैं
४२	४	६३६	६३४
,,	१५	३८	३७
४३	७	७२	७३
,,	२३	१०२	१०३
४६	१९	अहो मुखे	अह्नोमुखे
,,	२९	स्तोयेन	स्तेयेन
४७	२५	पद्यके	पद्यको
४९	२८	यस्मैते	यस्यैते
५६	१२	प्रकार	अक्षर
५७	२५	जैनहितेच्छु	खंडेलवाल जैनहितेच्छु
६०	१८	४८	४७
६२	२७	भेयानन्त	मेयानन्त
,,	२८	योऽद्रे	योऽद्रेः
६३	११	सैद्धान्तक	सैद्धान्तिक
७६	७	बनाई हुई	बनाई हुई 'एकत्वसप्तति'में
१३८	१५	करने	कराने

स्वामी समन्तभद्रका शुद्धि-पत्र।

——:०:——

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२५	जो गुणादि प्रत्ययको	जो ठीक होनेपर गुणादि-प्रत्ययको
५	३	उत्वलिका	उत्कलिका
६	१२	कि	किया है
,,	२४	नामा	नाम्ना
८	२२	सुष्टु	सुष्ठु
,,	२४	भवात्	भयात्
१२	१२	यही	प्रायः यही
,,	२१	युक्त्यनुशासन	स्वयंभूस्तोत्र
१४	१६	हो	हुआ हो
१७	१८	*	× } (दूसरा फुटनोट पहले
,,	२६	×	* } छपना चाहिये था।)
१८	१९	कविनूतन	कविर्नूतन
,,	२४	मतिव्युत्पत्ति	मतिर्व्युत्पत्ति
१९	२२	निश्चयात्मक	निश्चायक
२३	९	सरस्वति	सरस्वती
,,	१८	श्वर्णीचकार	श्चूर्णीचकार
३२	५	साधन	कोई साधन
४४	१-२	कलिकालमें	कलिकाल
४५	२२	आचार्यस्य	...आचार्यस्स
४६	११	उत्तीर्ण	उत्कीर्ण
४७	१८	अनेक	उनके
५०	११	जिनैकगुणसंस्तुति	जिनेन्द्रगुणसंस्तुति
,,	१४	अलंघ्यवीर्ये	अलंघ्यवीर्या
,,	१६	गरल विष	गरल (विष)
,,	२४	ददातीति	ददतीति
५४	१	भी	श्री
५५	२४	पुण्यस्रवचम्पू	पुण्यास्रवचम्पू
६६	२४	फलः	फलाः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७५	१५	कर्मफलको	कर्ममलको
७८	१८	तपो	तृपो
७९	११	सिवाय	सिवाय,
८२	१७	दुःखोंकी	दुःखोंको
८४	१	सहनकर	सहनका
"	१७	वियते	खिद्यते
८८	२१	समन्तभद्रका	समन्तभद्रको
९०	७	प्रवत्ति	प्रवृत्ति
९६	२०	मुनिपरालिये	मुनिपरालिये
"	२२	ऊपरसे	ऊपर
१०२	११	पुण्ड्रेन्द्र	पुण्ड्रेन्दु
"	२१	पुण्ड्रेन्द्र	पुण्डरेन्दु
"	२२	इन्द्रपुर	इन्दुपुर
"	२३	में	(श्लोक ११) में
१०५	२२	उसका	उनका
१०६	१७	पुण्ड्रेन्द्र	पुण्ड्रेन्दु
११७	१४	इसका	इनका
१२५	२	उसे समंतभद्रके	समंतभद्रको उसके
१२८	२३	साधारणं	साधारणं लक्षणं
१३३	१३	वाराहमिहिरो	वराहमिहिरो
१३५	१७	शककालममास्य	शककालमपास्य
"	१८	यंवनपुरे	यवनपुरे
१३९	११	तु	च
"	१२	मेचकाः ॥ ३२ ॥	मेचकः ॥ ३९ ॥
"	२२	भिन्न	भिन्न हैं
१४०	१७	स्वरूपसे	स्वस्वरूपसे
१४१	२	कोशग्रंथोंमें	कोशग्रंथोंमें
"	२०	परिचय	परिचय
"	२१	१ टीकांशः—	टीकांशः...
"	२३	२	१

इस पृष्ठकी नं. १ की टिप्पणी १४० वें पृष्ठकी टिप्पणीका एक अंश है।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४२	२२	जैनेन्द्रसंज्ञं	जैनेन्द्रसंज्ञं`
१५८	१४	शिलालेखमें	शिलालेखोंमें
,,	२१	गृद्धपिच्छः	गृध्रपिच्छः
१५९	१६	सं० ९४	सं० ४९
१६१	१	दोनों	उन दोनों
१६४	१८	३६१	४६१
१६६	१३	मिथ्या	वह मिथ्या
,,	२३	कौण्डकुन्दान्वय	कोण्डकुन्दान्वय
,,	,,	अभयणंदि	अभ[य]णंदि
१६७	१७	उल्लेख	उल्लेख भी
१६८	१	पवयणभक्ति	पवयणभत्ति
१७७	२	१३३	१२३
१८२	८	भद्रवाहुस्स	भद्दवाहुस्स
१८९	११	१७ सं०	१७ से
,,	२१	श्रुतावतार	इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार
१९३	८	योगे	पोगे
१९४	६	उदपिसिदट्ट	उदयिसिदट्ट
१९६	१	भद्रवाहुका	भद्रवाहु द्वितीयका
२१८	१७	नं० ३५०	नं० ३५
२२८	३	प्रस्तावना प्रकरण	प्रस्ताव या प्रकरण
२३२	७	श्रीमत्स्वामीसमंतभद्र	श्रीमत्स्वामिसमंतभद्र
२३३	२४	सिद्धप्प	सिद्धप्य
२३४	२०	विरचयत।	विरचयता
२३९	९	माहात्म्यमतीन्दियं	माहात्म्यमतीन्द्रियं
,,	११	किमति	किमिति

नोट—विन्दु-विसर्ग और विराम चिह्नादिकी कुछ दूसरी ऐसी साधारण अशुद्धियोंको यहाँ देनेकी जरूरत नहीं समझी गई जो पढ़ते समय सहज ही में मालूम पड़ जाती हैं।

सटीकरत्नकरण्डकस्य शुद्धिपत्रम् ।

—••:०:••—

पृष्ठं	पंक्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
३	१०	वदन्ति प्रतिपादयन्ते	विदन्ति प्रपद्यन्ते
२	४	बौद्धमत इव	बौद्धादिमत इव
६	७	कदात्	कदाचित्
७	४	यस्यासौ	यस्यासौ परंज्योतिः
८	१०	यतस्तस्य	यतस्तत्त्वस्य
१०	८	मुक्तिसाधकलक्षणेन	मुक्तिसाधकत्वलक्षणेन
,,	१९	प्रशंसा	अङ्गुलिचालनेन शिरोधूननेन वा
१२	१०	यष्टांगानां मध्ये कः केन गुणेन	यष्टगुणानां मध्ये कः केन गुणः
,,	१५	गतौ	गताः
२५	४	ऽष्टांगोपेतत्वम्	ऽष्टांगोपेतत्वम् युक्तमेव
,,	६	त्रीणि भवन्ति	त्रीणि मूढानि भवन्ति
,,	१०	न वपुः	न पुनः
२६	१९	मानित्वं	मानित्वं गर्वितत्वं
२७	६	स्मयं	स्मयः
,,	१०–११	सम्पत्त्या किमपि	सम्पत्या किं प्रयोजनं ? न किमपि
,,	११	विशिष्टतरादेतत्	विशिष्टतरायास्तत्
,,	१३	किं	तथाप्यन्यसम्पदा किं
,,	१४–१५	प्रयोजनाभावस्तत्समयस्य	प्रयोजनाभावतस्तत्स्मयस्य
२८	७	एवं ततः	यत एवं, ततः
,,	८	न पूर्वा द्वितीया	अपूर्वाऽद्वितीया
,,	११	ते चानुष्ठिता	तं चानुतिष्ठता
,,	१७	प्रत्याकांक्षा	प्राप्त्याकांक्षा
,,	२२	मोक्षमार्गं प्रवक्ष्यते	मोक्षमार्गं प्रचक्षते

पृष्ठं	पंक्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
२९	५	तस्य च	तच्च
"	१७	यच्च	यतश्च
३०	२	गृहस्थोऽपि	गृही गृहस्थो यो
"	१४	तद्विपरीतता तदप्रकृष्टतां	तद्विपरीतादप्रकृष्टतां
"	१६	इत्य (तोऽ) पि	इतोऽपि
"	२४	दुष्कृते वसति	दुष्कृतां दुष्कृते वसति
३१	२	व्रजन्ति	न व्रजन्ति
"	१२	परविमवेनात्मनो	परानिलवेनात्मनो
३२	३	चक्रस्य रत्नं	चक्ररत्नं
"	७	संख्याता	संख्यातानि रत्नानि
"	९–१०	मस्तकानि तेषु स्थितानि मुकुटानि तानि चरणेषु येषां	मुकुटानि तेषु स्थिता मा- णयः तानि चरणानि येषां
३३	३	संसारार्णवपरिक्षणं येषां दर्शनस्य वा ग्रहणं	×
"	५	कथमन् अजरं न विद्यते जरा	कथंभूतं अजरं न विद्यते जरा वृद्धत्वं यत्र । अरुजं न विद्यते रुक्
३४	२	लक्षणस्य वा	लक्षणस्य चारित्रलक्षणस्य वा
३५	८	तदविकार्यं विदित्वा	तदविकार्यवेदित्वात्
"	१२	यद्—	तद्—
"	१७	अतत्त्वदेवानुवर्तित्वेनं नानिषेधं । नेदानत्त्वैव	अतत्त्वदेवान्न वर्तित्वेनानिषेधं । तत्त्वैव
३६	७	तद्	तस्य
"	८	विषयस्याख्यानं	विषयस्याख्यानं प्रतिपादनं
"	११	वन्द्येश्रुतं	वन्द्यं श्रुतं
"	१२	दर्शनादेःशास्त्रादिकं वन्द्ये	सद्दर्शनादेः शास्त्रादिकं वन्द्यं
३७	१३	श्रुतेश्च	श्रुतेश्च रक्षा च
३८	४	यत्र तद् । न कर्माणि	यत्र कर्माणि
३९	१	गुप्तत्वाविकार	चारित्राविकार

पृष्ठं	पंक्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
३९	२	व्याख्यामुराह	व्याचिख्यासुराह
"	२०	प्रकृष्टतर	एवं प्रकृष्टप्रकृष्टतर
४०	१४	ससम्यजाना-	सम्यक् जाना-
४१	१	तावद्व्रतं	तावच्चरणं
"	१३	प्राणानामिन्द्रियादिक्रमति	प्राणानामिन्द्रियादीनामति
"	१०	मूर्च्छेभ्यः	मूर्छाभ्यः
"	१५	मूर्च्छां च	मूर्च्छयंते
"	१८	तर्हि	स हि
"	२१-२२	उपात्तायाश्च	उपात्ताया अनुपात्तायाश्च
४२	१७	सुन्दरमन्येन	सुन्दरमनेन
४३	७	स्थूलवधादव्युपरतेः	स्थूलवधाद् व्युपरतेः
"	१७	स्थूलश्चासौ	स्थूलमृषावादवैरमणं स्थूलश्चासौ
"	१८	वदन्ति किं तत्	यत्र वदन्ति
"	२२-२३	सत्यं परस्य विपदेऽपकाराय	सत्यमपि परस्य विपदेऽपकाराय
४५	४	न्यायादनपेतप्रकारेण	न्यायादन्येन प्रकारेण
"	५	ख्यालमूल्यानि महार्घ्याणि	स्वल्पमूल्यानि महार्घाणि
"	"	द्रव्याणीति	द्रव्याणीति कृत्वा स्वल्पतरेणार्थेन गृह्णाति
४६	६	मुखादिप्रवेशे	मुखादिप्रदेशे
"	७	विपुलतृपश्च	विपुलतृट् च
४७	४	लोभातिगृद्धिगृत्त्यर्थं	लोभातिगृद्धिनिवृत्त्यर्थं
"	९	तत्कुपाणकेन	तत्क्रयाणकेन
"	२१	किं	किं न
५९	२०	अनुवृंहणाद्गुणा	अनुबृंहणाद्गुणा
"	"	गुणव्रतान्यायाः	गुणव्रतान्यार्याः
६०	९	अहं	अतोऽहं
६१	५	सूक्ष्ममतिपापं	सूक्ष्ममपि पापं

पृष्ठं	पंक्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
६१	१६–१७	प्रत्याख्यान हिंद्यविल्पेन	प्रत्याख्यानं हि सविकल्पेन
,,	१९	द्रव्यरूपादीनां	द्रव्यरूपानां
,,	,,	भावरूपाणां	भावरूपाणां तेषां
,,	,,	ततः	न पुनः
६२	१२	विशेषेणतिक्रमणनि	विशेषेणातिक्रमणानि
६४	१६	द्वेषादपि रागाद्वा	द्वेषादपि तु रागाच्च
,,	२०	श्रुतिवरवीनां	श्रुतिरववीनां
६५	२–३	लोभावाविष्टं	लोभायाविष्टं
,,	९	दुत्कष्टो	दुत्कटो
,,	१५	तेषामरंमं	पवनश्च तेषामारंभं
,,	१८	सारणमन्यं	सारणमन्यस्य
६६	२०	पञ्चेन्द्रियो	पाञ्चेन्द्रियो
६७	१	पंचेन्द्रिणां	पाञ्चेन्द्रियो
,,	५	त्रसहतिपरिहरणार्यं	त्रसहतिपरिहरणार्थं
,,	१०	प्रमादस्य	प्रमादस्तस्य
,,	१६	अपक्वानि	अशुष्कानि
,,	,,	नवनोतनिम्ब–	नवनीतं निम्ब–
६८	११	भोगोपभोगसंहारे	भोगोपभोगसंहारात्
,,	१८	तत्संहार	तत्र परिमितकाले तत्संहार
६९	१०–११	पवित्रविशेषणाद्दोषापनयनार्थमौषधा	पवित्राविशेषणं दोषापनयनार्थं । तेनौषधा
,,	१८	तृषाऽनुमवो	तृषाऽनुभवौ
,,	,,	व्यतिक्रमा	व्यतिक्रमाः
७०	१–२	साधनत्वादनुकरण	साधनत्वाद्यनुस्मरण
,,	४	गृद्या	गृध्या
७१	१३	नियतकालमतस्यानं	नियमतकालमवस्यानं
,,	१५	कालमर्यादा	कालमर्यादया
,,	२०	सीमा	सीम्नां
७२	६	योजनावधिं	योजनावधिं चास्य प्रतिपाद्य कालावधिं

पृष्ठं	पंक्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
७२	७	संवत्सरमृतुरयनं	संवत्सरमृतुमयनं
,,	१२	मुत्तया	भुक्त्या
,,	१४	सीमन्तानां	सीमान्तानां
७३	१०	सामायिकं	सामयिकं
,,	१६	परभागे च	परभागे अपरभागे च
७४	८	पाण्डु	पण्ड
,,	१६	कस्यां ? विनिवृत्त्या	कस्यां सत्यां ? विनिवृत्त्याम्
,,	१९	विकल्पश्च विशेषेण विनिवृत्त्या	विकल्पस्य विशेषेण निवृत्त्या
,,	२१	चेत्यत्राह	वेत्यत्राह
७५	५	हिंसविरत्यादीनां	हिंसाविरत्यादीनां
,,	२३	वचनानुचारकाः।	वचनानुचारकाः दैन्यादिवचनानुचारकाः।
७६	८	शरणमपापपरिरक्षकं	शरणमपायपरिरक्षकं
,,	१२	एवं विधे	एवं विधे भवे
,,	१७	न्यनादरस्मरणे	न्यनादरास्मरणे
७७	६	कस्यां सदेवाष्टम्यां	कस्यांचिदेवाष्टम्यां
,,	१४	रागहेतून् ?	रागहेतूनां
,,	१५	तथा	तथा स्नानाञ्जननस्यानां
,,	,,	वा	×
,,	२२	स्वयमेवावगत	स्वयमनवगत
,,	२३	पिबन्	पिबतु स्वयमवगतधर्मस्वरूपस्तु
७८	५	आज्ञापाय	ध्यानपरः आज्ञापाय
,,	,,	परः तन्निष्ठः	निष्ठः
७९	१९	व्रतान्लंसम्बन्धो यावात्	व्रतीनां सम्बन्धो यावान्
८०	२२	कोऽसौ कर्तृ ?	काऽसौ कर्त्री
८१	८	दानादर्शनशुद्दि	दानादरानशुद्धि
८२	७	शूकरश्च	सूकरश्च

पृष्ठं	पंक्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
८७	५	वन्द्यो	वन्द्यो देवो
८८	१४	दत्तमदत्तमिति	आहार्यवस्तुष्विदं दत्तमदत्त-मिति
८९	६	देवकृते	देवाचेतनकृते
,,	११	अन्तः क्रिया	अन्तक्रिया
९३	२	आत्मसम्बन्धाः	आत्मसम्बद्धाः
,,	१०	परिच्छिद्या	परिच्छेद्या
,,	२२	आत्मस्वरूपं	आत्मा स्वरूपं
९४	८	एतैर्भूयिष्ठा	एतेभूयिष्ठा
९५	३	पंथा	पंथानो
,,	९	सन्निति	सन्तीति
,,	१०	निःशल्यः	निःशल्यो मिथ्यानिदानमाया-शल्येभ्यो निष्क्रान्तो निःशल्यः
,,	२०-२१	एकैकस्य हि कायोत्सर्ग-विधाने चत्वार आवर्ता	चत्वार आवर्ताः
,,	२६	प्रोषधोपवासगुणव्रतं	प्रोषधोपवासगुणं
९६	२,८	प्रणधिपरः	प्रणिधिपरः
९७	१७—१८	निराकृताः तस्य	निराकृता तस्याः
९८	५	दृश्यते	दर्श्यते
,,	१९	लक्षणयुक्तत्वं	लक्षणगुणयुक्तत्वं
,,	२३	कोपीन	कौपीन
९९	१	तदश्नीतीति	तदश्नातीति
,,	१०	पापमेवारातिः	पापमधर्मोऽरातिः
,,	११	धर्मस्य	धर्मेश्च
१००	८	केव ?	कं ?

माणिकचंद्र-दिगम्बर-जैन-ग्रंथमाला ।

१ लघीयस्त्रयादिसंग्रह—(१ भट्टाकलंकदेवकृत लघीयस्त्रय, अनन्तकीर्तिकृत तात्पर्यवृत्तिसहित, २ भट्टाकलंकदेवकृत स्वरूपसम्बोधन, ३–४ अनन्तकीर्तिकृत लघु और वृहत्सर्वज्ञसिद्धि) पृष्ठसंख्या २२४ । मूल्य ।≈)

२ सागारधर्मामृत—पं० आशाधरकृत, स्वोपज्ञभव्यकुमुदचन्द्रिका टीकासहित । पृष्ठसंख्या २६० । मूल्य ।॥)

३ विक्रान्तकौरवीय नाटक—कवि हस्तिमल्लकृत । पृ० १७६ । मू० ।≈)

४ पार्श्वनाथचरित—श्रीवादिराजसूरिप्रणीत । पृ० २१६ । मू० ॥)

५ मैथिलीकल्याण—कविवर हस्तिमल्लकृत नाटक । पृ० १०४ । मू० ।)

६ आराधनासार—आचार्यदेवसेनकृत मूल प्राकृत और पण्डिताचार्य रत्नकीर्तिदेवकृत संस्कृतटीका । पृष्ठसंख्या १३२ । मू० ।)॥

७ जिनदत्तचरित—श्रीगुणभद्राचार्यकृत काव्य । पृ० १०० । मू० ।)॥

८ प्रद्युम्नचरित—परमार राजा सिन्धुलके दरबारी और महामहत्तर श्रीपप्पटके गुरु आचार्य महासेनकृत काव्य । पृ० २३६ । मू० ॥)

९ चारित्रसार—श्रीचामुण्डरायमहाराजरचित । पृ० १०८ । मू० ।≈)

१० प्रमाणनिर्णय—श्रीवादिसूरिकृत न्याय । पृ० ८४ । मू० ।–)

११ आचारसार—श्रीवीरनन्दि आचार्यप्रणीत । पृ० १०४ । मू० ।≈)

१२ त्रिलोकसार—श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीकृत मूल गाथा और माधवचन्द्र त्रैविद्यदेवकृत संस्कृतटीका । पृ० ४४० । मू० १॥)

१३ तत्त्वानुशासनादिसंग्रह—(१ श्रीनागसेनमुनिकृत तत्त्वानुशासन, २ श्रीपूज्यपादस्वामीकृत इष्टोपदेश पं० आशाधरकृत संस्कृतटीकासहित, ३ श्रीइन्द्रनन्दिकृत नीतिसार, ४ मोक्षपंचाशिका, ५ श्रीइन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार, ६ श्रीसोमदेवप्रणीत अध्यात्मतरंगिणी, ७ श्रीविद्यानन्दप्रणीत पात्रिकेसरीस्तोत्र सटीक, ८ श्रीवादिराजप्रणीत अध्यात्माष्टक, ९ श्रीअमितगतिसूरिकृत द्वात्रिंशतिका, १० श्रीचन्द्रकृत वैराग्यमणिमाला, ११ श्रीदेवसेनकृत तत्त्वसार (प्राकृत), १२ मलहेमचन्द्रकृत श्रुतस्कन्ध, १३ ढाढसी गाथा (प्राकृत), १४ पद्मसिंहमुनिकृत ज्ञानसार) पृष्ठसंख्या १८४ । मू० ॥≈)

अनगारधर्मामृत—पं० आशाधरकृत स्वोपज्ञभव्यकुमुदचन्द्रिकाटीकासहित । पृष्ठसंख्या ६९६ । मूल्य ३॥)

१५ युक्त्यनुशासन—श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिकृत मूल और विद्यानन्दस्वामिकृत संस्कृतटीका। पृ० १९६। मू० ॥।-)

१६ नयचक्रसंग्रह—(१ श्रीदेवसेनसूरिकृत नयचक्र, २ माइल्ल धवलकृत नयचक्र, ३ श्रीदेवसेनसूरिकृत आलापपद्धति) पृष्ठसंख्या १९४। मू० ॥।≤)

१६ षट्प्राभृतादिसंग्रह—(१ श्रीमत्कुदकुन्दस्वामीकृत षट्पाहुड और उसकी श्रुतसागरसूरिकृत संस्कृतटीका, २ श्रीकुन्दकुन्दकृत लिंगप्राभृत, ३ शीलप्राभृत, ४ रयणसार और ५ द्वादशानुप्रेक्षा संस्कृतछायासहित) पृष्ठसंख्या ४९२। मू० ३)

प्रायश्चित्तसंग्रह—(१ इन्द्रनन्दियोगीन्द्रकृत छेदपिण्ड प्राकृत छायासहित, २ नवतिवृत्तिसहित छेदशास्त्र, ३ श्रीगुरुदासकृत प्रायश्चित्तचूलिका, श्रीनन्दिगुरुकृतटीकासहित, ४ अकलंककृत प्रायश्चित्त) पृष्ठ २००। मू० १≤)

१९ मूलाचार—(पूर्वार्ध), श्रीवट्टकेरस्वामिकृत मूल प्राकृत, श्रीवसुनन्दिश्रमणकृत आचारवृत्तिसहित। पृ० ५२०। मू० २॥)

२० भावसंग्रहादि—(१ श्रीदेवसेनसूरिकृत प्राकृत भावसंग्रह छायासहित, २ श्रीवामदेवपण्डितकृत संस्कृत भावसंग्रह, श्रीश्रुतमुनिकृत भावत्रिभंगी और ४ आस्रवत्रिभंगी) पृ० ३२८। मू० २।)

२१ सिद्धान्तसारादिसंग्रह—(१ श्रीजिनचन्द्राचार्यकृत सिद्धान्तसार प्राकृत, श्रीज्ञानभूषणकृत भाष्यसहित, २ श्रीयोगीन्द्रदेवकृत योगसार प्राकृत, ३ अमृताशीति संस्कृत, ४ निजात्माष्टक प्राकृत, ५ अजितब्रह्मकृत कल्याणालोयणा प्राकृत, ६ श्रीशिवकोटिकृत रत्नमाला, ७ श्रीमाघनन्दिकृत शास्त्रसारसमुच्चय, ८ श्रीप्रभाचन्द्रकृत अर्हत्प्रवचन, ९ आप्तस्वरूप, १० वादिराजश्रेष्ठीप्रणीत ज्ञानलोचनस्तोत्र, ११ श्रीविष्णुसेनरचित समवसरणस्तोत्र, १२ श्रीजयानन्दसूरिकृत सर्वज्ञस्तवनसटीक, १३ पार्श्वनाथसमस्यास्तोत्र, १४ श्रीगुणभद्रकृत चित्रबन्धस्तोत्र, १५ महर्षिस्तोत्र, १६ श्रीपद्मप्रभदेवकृत पार्श्वनाथस्तोत्र, १७ नेमिनाथस्तोत्र, १८ श्रीभानुकीर्तिकृत शंखदेवाष्टक, १९ श्रीअमितगतिकृत सामायिकपाठ, २० श्रीपद्मनन्दिरचित धम्मरसायण प्राकृत, २१ श्रीकुलभद्रकृत सारसमुच्चय, २२ श्रीशुभचन्द्रकृत अंगपण्णत्ति प्राकृत; २३ विबुधश्रीधरकृत श्रुतावतार, २४ शलाकाविवरण, २५ पं० आशाधरकृत कल्याणमाला)। मू० १॥)

२२ नीतिवाक्यामृत—श्रीसोमदेवसूरिकृत मूल और अज्ञातपण्डितकृत संस्कृतटीका, विस्तृत भूमिका सहित। पृ० सं० ४६४। मू० १॥।)

२३ मूलाचार—(उत्तरार्ध) श्रीवट्टकेरस्वामीकृत मूल प्राकृत और श्रीवसुनन्दि आचार्यकृत आचारवृत्ति। पृ० ३४०। मू० १॥)

मिलनेका पता—जैनग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, ठि० हीराबाग, बम्बई नं. ४.